विवादचिन्तामणि : समीक्षात्मक विश्लेषण

Vivādacintāmaṇi : Samīkṣātmaka Viśleṣaṇa

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोधनिर्देशक

डॉ. संतोष कुमार शुक्ल

शोधार्थिनी

आरती यादव

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्विविद्यालय

नई दिल्ली-110067

भारत 2017

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - ११००६७

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI – 110067

26th July, 2017

DECLARATION

I declare that the Thesis entitled **'विवादचिन्तामणि : समीक्षात्मक विश्लेषण (Vivādacintāmaṇi : Samīkṣātmaka Viśleṣaṇa)'** submitted by me for the award of degree of **Doctor of Philosophy** is an original research work and has not been previously submitted for any other degree or diploma in any other institution/University.

Arati Yadav

(Arati Yadav)

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - ११००६७

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI – 110067

26th July, 2017

CERTIFICATE

The Thesis entitled **'विवादचिन्तामणि : समीक्षात्मक विश्लेषण (Vivādacintāmaṇi : Samīkṣātmaka Viśleṣaṇa)'** submitted by Arati Yadav to **Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi – 110067** for the award of degree of **Doctor of Philosophy** is an original research work and has not been submitted so far, in part or full, for any other degree or diploma in any University. This may be placed before the examiners for evaluation.

Prof. Girish Nath Jha
(Chairperson)
PROF. GIRISH NATH JHA
Chairperson
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

Dr. Santosh Kumar shukla
(Supervisor)
Dr. Santhosh Kumar Shukla
Associate Professor
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

समर्पण

मातृवत् -स्नेही एवं मेरी

प्रेरणादायिनी सासू माँ श्रीमती

केवला देवी जी और परमपूजनीय

श्वसुर श्री श्रीपाल जी के चरणों में

सादर समर्पित

प्राक्कथन

सर्वप्रथम मैं परमपिता परमात्मा को नमन करती हूं, जिनकी असीम अनुकम्पा से यह शोधकार्य निर्विघ्न समाप्त हो सका। शोधकार्य की समाप्ति में जिन लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ, उनके प्रति आभार व्यक्त करना शोधार्थी का पुनीत कर्त्तव्य होता है।

मैं अपने शोधनिर्देशक परम श्रद्धेय डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल का हृदय से आभार व्यक्त करती हूं, जिनके निरन्तर प्रोत्साहन, प्रेरणा तथा बहुमूल्य मार्गदर्शन से यह शोधकार्य सुचारुरूप से प्रस्तुत करने में मैं समर्थ हो सकी। शोधकार्य के प्रत्येक आयाम पर मुझे गुरूजी का निरन्तर सम्बल प्राप्त हुआ।

विशिष्ट अध्ययन केन्द्र के अध्यक्ष डॉ. गिरीश नाथ झा जी तथा संकाय सदस्य डॉ. रजनीश कुमार मिश्र जी, डॉ. राम नाथ झा जी, डॉ. चौडूरि उपेन्द्र राव जी, डॉ. हरिराम मिश्र जी, डॉ. सुधीर कुमार आर्य जी, डॉ. सत्यमूर्ति जी, डॉ. टी. महेन्द्र जी एवं डॉ. ब्रजेश कुमार पाण्डेय जी का मैं आभार व्यक्त करती हूं जिनके द्वारा प्रदत्त शिक्षा तथा बहुमूल्य परामर्शों का उपयोग मैं अपने शोध-प्रबंध लेखन के दौरान कर सकी।

मैं संस्कृत विभाग के समस्त कर्मचारी गणों की भी आभारी हूं जिनका मुझे हमेशा सहयोग प्राप्त हुआ। संस्कृत विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों के सभी कर्मचारियों को मैं धन्यवाद करती हूं जिन्होंने मेरे शोध कार्य के दौरान सामग्री संकलन में सहायता प्रदान की।

मैं पति सन्तोष आनन्द का आभार किन शब्दों में व्यक्त करूं, क्योंकि उनके सहयोग को शब्दों की सीमा में बांधना मेरे लिए संभव नहीं है, केवल इतना ही कह सकती हूं कि मेरा निरन्तर मनोबल बढ़ाने तथा जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में मेरा साथ देने के लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद।

हमेशा मातृवत् स्नेह करने वाली मेरी सासू माँ श्रीमती केवला देवी तथा श्वसुर श्री श्रीपाल जी को हृदय से आभार व्यक्त करती हूं जिन्होंने मुझे हमेशा पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। अपनी स्नेहमयी एवं करुणामयी नानी और नाना तथा माँ और पिता जी और अपने ज्येष्ठ तथा जेठानी और उनके बच्चों तथा अपने भाई-भाभी और बहनों का भी हमेशा प्रोत्साहित करने एवं मेरी मंगलकामना करने के लिए आभारी हूं। अपनी छोटी बहन पुष्पा और भतीजा रवि आनन्द तथा भजीती स्मिता को मैं विशेष धन्यवाद देना चाहूंगी जिन्होंने मेरे शोध-प्रबंध लेखन के दौरान बहुत सहयोग किया।

अपने सहपाठियों शिल्पी सरकार, प्रतिभा शास्त्री, नीरजा, कल्पना, महेन्द्र यादव एवं विभाग के अग्रज विकास सिंह तथा मणिशंकर द्विवेदी जी तथा अनुजा निहारिका एवं अनु का आभार व्यक्त करती हूं जिन्होंने शोध कार्य के दौरान मुझे सहयोग प्रदान किया। अंत में मैं उन सबको धन्यवाद देना चाहूंगी जिन्होंने जाने अथवा अनजाने में मुझे सहयोग प्रदान किया।

आरती यादव

संकेताक्षर सूची-

- अ.भा. - असहाय भाष्यम्
- अ.शा. - अर्थशास्त्र
- आ.ध.सू. - आपस्तम्बधर्मसूत्र
- ऋ.वे. - ऋग्वेद
- का.स्मृ. - कात्यायन स्मृति
- कृ.क.त. - कृत्यकल्पतरु
- गौ.ध.सू. - गौतमधर्मसूत्र
- ना.स्मृ - नारदस्मृति
- नृ.प्र. - नृसिंहप्रसाद
- पा.गृ.सू. - पारस्करगृह्यसूत्र
- म.भा. - महाभारत
- म.स्मृ. - मनुस्मृति
- रा. - रामायण
- व्य.नि. - व्यवहार निर्णय
- या.स्मृ. - याज्ञवल्क्य स्मृति
- व्य.प्र. - व्यवहार प्रकाश
- व्य.म. - व्यवहार मयूख
- वाच. - वाचस्पत्यम्
- वि.चन्द्र - विवाद चन्द्र
- वि रत्ना. – विवाद रत्नाकर

- वि.चि. – विवाद् चिन्तामणि
- वि.से. - विवादार्णव सेतु
- वी.मि. - वीर मित्रोदय
- शां.भा. - शांकर भाष्य
- भ.गी. - भगवद् गीता
- स्मृ.च. - स्मृति चन्द्रिका
- स्मृ.सा. - स्मृति सारोद्धार
- ध. इ. - धर्मशास्त्र का इतिहास

विषयानुक्रणिका-

संकेताक्षर सूची

आत्मनिवेदन

भूमिका 1-13

प्रथम अध्याय – विवाद : स्वरूप एवं प्रकार तथा तद्विषयक साहित्य की समीक्षा 14-56

१.१.व्यवहार का स्वरूप 16-20

१.२. विवाद के प्रकार 20-24

१.२.१. विवाद तालिका 21

१.२.२. विभिन्न स्मृतिकारों द्वारा उल्लिखित विवादपदों की संख्या 22-23

१.२.३. अर्थमूल 24

१.२.४. हिंसामूल 24

१.३. व्यवहार विषयक साहित्य की समीक्षा 25-56

१.३.१.व्यवहार ग्रंथ 30-56

द्वितीय अध्याय – ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, संभूयसमुत्थान तथा दत्ताप्रदानिक विवादपदों की विवेचना 57-141

२.१. ऋणादान 58-97

२.१.१ वृद्धि के प्रकार 66-71

२.१.२. अकृतवृद्धि 71-78

२.१.३. आधिविधि 79-90

२.१.४. प्रतिभू 90-95

२.१.५. ऋण के दान की विधि 95-97

२.२. निक्षेप 97-107

२.३. अस्वामिविक्रय 107-115

२.४.संभूयसमुत्थान 115-130

२.५.दत्ताप्रदानिक 130-140

२.४.१. दत्त 137

२.४.१. अदत्त 138-140

तृतीय अध्याय – भृतकविधि, स्वामिपालविवाद, संविद्यतिक्रम, विक्रीयासंप्रदान और सीमाविवाद की समीक्षा 142-199

३.१.भृतकविधि 143-161

३.१.१. दास्याधिकार 149-152

३.१.२. वेतनानपाकर्म 152-158

३.१.३. पण्यस्त्रीविधि 158-159

३.१.४. गृह आदि के शुल्क की विधि 160-161

३.३. स्वामिपालविवाद 161-165

३.२. संविद्यतिक्रम 166-172

३.४. विक्रीयासंप्रदान 173-182

३.५. सीमाविवाद 182-197

३.५.१.सीमाविवाद का निर्णय 184-193

३.५.२. कृष्टाऽकृष्ट से सम्बन्धित विवाद 193-194

३.५.३. फसल सुरक्षा 194-197

चतुर्थ अध्याय – वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेय तथा साहस विवादपदोंका विश्लेषण 200-237

४.१. वाक्पारुष्य 201-205

४.२.दण्डपारुष्य 205-214

४.३.स्तेय 214-225

४.३. १.अप्रकाश तस्कर के लिए दण्ड विधान 219-223

४.३.२. स्तेनातिदेश 223-224

४.३.३.चोरी के विषय में अपवाद 225

४.४. साहस 226-236

४.४.१.अपराध करने वाली स्त्रियों के लिए दण्ड विधान 231

४.४.२. अन्य व्यक्तियों के लिए दण्ड विधान 231-235

४.४.३.घातक के अन्वेषण की विधि 235-236

पंचम अध्याय – स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुरुषधर्म, दायविभाग तथा द्यूतसमाह्वय विवादपदों का विमर्श 238-279

५.१. स्त्रीसंग्रहण 239-247

५.१.१.अभिगमदण्ड 243-246

५.१.२.वेश्या से अभिगम का दण्ड 247

५.२. स्त्रीपुरुषधर्म 248-251

५.३. दायविभाग 251-274

५.३.१. पितृधन विभाग काल 253-256

५.३.२. पिता की जीवितावस्था में विभाग 256-264

५.३.३. भाग प्राप्त करने के अधिकारी 264-267

५.३.४. असंस्कृत का संस्कार 267-268

५.३.५. विभाज्य संपत्ति 268-269

५.३.६. अविभाज्य संपत्ति 269-270

५.३.७. स्त्रीधन का विभाग 270-271

५.३.८. अपुत्र के धन का अधिकारी 271-272

५.३.९. संसृष्ट विभाग 272-273

५.३.१०. विभाग निर्णय 273-274

५.४. द्यूतसमाह्वय 275-279

उपसंहार 280-285

परिशिष्ट -विवाद से सम्बन्धित ग्रंथों एवं ग्रंथकारो की सूची 286-287

संदर्भ ग्रंथ सूची 288-304

भूमिका

जगत् में धर्म मनुष्य की एक सार्वभौम अपरिहार्य भावना है। यह एक ऐसी कल्याणकारी व्यवस्था है जिसके आदर्शों पर चलकर मनुष्य अपने अधिकारों और कर्तव्यों का पालन करता हुआ स्वयं का तथा मानवता का कल्याण करता है। भारतीय चिंतन परम्परा में धर्म का विशेष महत्त्व रहा है। यह भारतीय संस्कृति और दर्शन की प्रमुख संकल्पना है। इसीलिए भारत को एक धर्मप्राण देश की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। भारतीय धर्म की धारणा अत्यंत उदात्त एवं उदार है जो सबके मंगल की कामना करती है–

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:ख भवेत्॥

धर्म की प्रधानता के कारण ही चारों पुरुषार्थों में धर्म का प्रथम स्थान है। धर्मपूर्वक ही अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति संभव है। शास्त्रकारों ने धर्म शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। धर्म शब्द 'धृञ्' धारणे धातु में 'मन्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। विद्वानों ने इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस इस प्रकार किया है[1] –

1) **ध्रियते लोक: अनेन** अर्थात् जिससे लोक का धारण किया जाय, वह धर्म है।
2) **धरति धारयति वा लोकम्** अर्थात् जो संसार को धारण करे, वह धर्म है।
3) **ध्रियते लोकयात्रानिर्वाहार्थ य: स: धर्म:** अर्थात् जिसे लोकयात्रा निर्वाहार्थ सभी धारण करें, वह धर्म है।

वैदिक काल से लेकर सूत्रों, स्मृतियों, पुराणों एवं अन्य परवर्त्ती ग्रंथों में धर्म का जो स्वरूप वर्णित है, वह विचारणीय है। ऋग्वैदिक मंत्रों में अनेक स्थलों पर धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहां पर धर्म शब्द

[1] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास "धर्मद्रुम", चौखम्बा विद्याभवन, १९९६ पृ. सं. १

संज्ञा या विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अधिकांशत: यह नपुंसकलिंग में और कहीं- कहीं पर पुल्लिंग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में धर्म शब्द निश्चित नियम या व्यवस्था के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है –

द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा।[2]

आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देव: कृणुते स्वाय धर्मणे।[3]

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।[4]

कुछ ऋचाओं में धर्म शब्द 'धार्मिक विधियों' या 'धार्मिक क्रिया- संस्कारों' के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[5] ऋग्वेद के कुछ मंत्रों का प्रयोग अथर्ववेद में भी मिलता है। जिनमें धर्मन् शब्द का प्रयोग धार्मिक संस्कारों से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है। यथा –

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।

भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं जले॥[6]

---

[2] ऋ. वे. ६/७०/१

[3] ऋ. वे. ४/५३/३

[4] ऋ. वे. ५/६३/७

[5] ऋ. वे. ४/५२/३, ६/७०/१, ५/६३/७, ३/३/१

[6] अथर्ववेद ११/९/१४

वाजसनेय संहिता में भी धर्म शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथों में भी धर्म शब्द का बहुश: हुआ है। यहां पर धर्म शब्द का अर्थ अधिक स्पष्ट है। ऐतरेय ब्राह्मण में धर्म शब्द समस्त धार्मिक विषयों का पर्याय माना गया है। जैसे –

धर्मस्य गोप्ता जनीति तमभ्युत्कुष्टमेवं विदभिवेक्ष्यन्नेतयर्चाभिमन्त्रयेत।[7]

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि 'धर्म भगवान् की देन है। धर्म राजाओं का भी राजा है। उससे शक्तिशाली अन्य कोई नहीं है।'[8] इसी प्रकार उपनिषद् यद्यपि ब्रह्मविद्या के ग्रंथ है, परन्तु उनमें भी धर्म शब्द अनेक बार हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्धों का उल्लेख है –

(१) गृहस्थ धर्म अर्थात् यज्ञ, अध्ययन एवं दान

(२) तापस धर्म अर्थात् तपस्या

(३) ब्रह्मचर्य धर्म अर्थात् आचार्य के घर में आचरणपूर्वक निवास करते हुए विद्याध्ययन करना।[9]

तैत्तिरीय उपनिषद् में स्नातक ब्रह्मचारी को धर्माचरण का उपदेश देते हुए कहा गया है- '**सत्यं वद, धर्मं चर ...**[10]।' बृहदारण्यकोपनिषद् में सत्य तथा धर्म को मूलत: एक माना गया है।[11]

---

[7] ऐतरेय ब्राह्मण ८/१७

[8] शतपथ ब्राह्मण १४/४/२/२६

[9] छान्दोग्य उपनिषद् २/२३

[10] तैत्तिरीय उपनिषद् १/११

[11] बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१४

दर्शनग्रंथों में भी धर्म का लक्षण प्राप्त होता है। मीमांसा दर्शनकार आचार्य जैमिनि ने तो अपने ग्रंथ का प्रारंभ ही धर्मजिज्ञासा से किया है – **'अथातो धर्मजिज्ञासा'**। उनके अनुसार वेदविहित अनुशासनों का पालन करना ही धर्म है – **चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः**। वैशेषिक सूत्र के प्रणेता महर्षि कणाद ने 'जो सबको समान रूप से अभ्युदय की ओर ले जाये और सब को कल्याण का मार्ग दर्शन करे' उसे धर्म कहा है- **यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः**।

धर्मसूत्रों, उनके व्याख्या ग्रंथों और स्मृतिशास्त्रों में धर्म शब्द का अर्थ अधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप में प्राप्त होता है। इनमें धर्म शब्द न्यायिक व्यवस्था अथवा विधान या संहिता अर्थ का द्योतक है। वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार श्रुति और स्मृति में जिसका विधान किया गया है, वह धर्म है- **श्रुतिस्मृति विहितो धर्मः**। मनुस्मृति के अनुसार मुनियों ने मनु से सभी वर्णों के धर्मों की शिक्षा देने की प्रार्थना की थी।[12] मनुस्मृति में धर्म के चार लक्षण बताये गये हैं जिन पर धर्म आधारित है –

वेद स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधः प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी ऐसा ही कहा गया है -

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

सम्यकसंकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

इसके अतिरिक्त मनु ने धर्म के दश लक्षण भी बताये हैं

[12] मनुस्मृति १/२

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥[13]

इसी प्रकार धर्मसूत्रों और स्मृतिग्रंथों के भाष्यकारों एवं निबंधकारों ने भी धर्म की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। मनुस्मृति के टीकाकार मेघातिथि और गोविन्दराज तथा गौतम धर्मसूत्र के व्याख्याकार हरिदत्त ने स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म के विभिन्न रूपों को समाहित करके उसे पांच भागों में विभक्त किया है– (१) वर्णधर्म (२) आश्रमधर्म (३) वर्णाश्रमधर्म (४) नैमित्तिकधर्म (५) गुणधर्म।

महाभारत में धर्म के मूल स्वरूप के संबंध में मौलिक विचार करते हुए धर्म की व्युत्पत्ति धारणार्थक 'धृ' धातु से मानी गई है–

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।

यस्माद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः॥[14]

अर्थात् धारण करने के कारण इसे धर्म कहते हैं। यह प्रजा को धारण करता है। जो धारण से संयुक्त हो, वह धर्म है। निरुक्तकार के अनुसार धर्म शब्द 'नियम' का द्योतक है। अमरकोषकार की दृष्टि में धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं। यथा-पुण्य, श्रेय, सुकृत, वृष आदि।[15] **शब्दकल्पद्रुम** में इसकी व्याख्या 'धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिः अर्थात् जो लोक के द्वारा धारण किया जाता है, के रूप में की गई है। गीता पर भाष्य लिखते समय आचार्य शंकर ने बताया है कि जगत की स्थिति, प्राणियों की उन्नति और मोक्ष के

---

[13] मनुस्मृति ६/९२

[14] महाभारत (कर्णपर्व ६९/५८)

[15] स्याद्धर्मम स्त्रियां पुण्य श्रेयसी सुकृतं वृषः।

साक्षात् हेतु को धर्म कहते हैं।[16] अंत में पांडुरंगवामन काणे के मतानुसार "धर्मशास्त्रों में धर्म का तात्पर्य किसी सम्प्रदाय अथवा मत से नहीं, अपितु जीवन की विशिष्ट आचार पद्धति से है जिसके द्वारा मनुष्य वैयक्तिक एवं समाज के सदस्य के रूप में अपने कर्तव्यों का पालन करता हुआ अभीप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर सके।[17]इस प्रकार धर्म का व्यापक अर्थों में प्रयोग हुआ है, परन्तु यह धर्म रिलीजन (Religion) का पर्याय नहीं है। इसमें रिलीजन के अतिरिक्त लॉ (Law)ड्युटी (Duty) और वर्च्यु (Virtue) के अर्थ भी निहित हैं।

धर्म का मूल वेद है। इसका उपदेश करने वाले शास्त्र को धर्मशास्त्र कहा जाता है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के निर्धारण में श्रुति अर्थात् वेद एवं स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। धर्मशास्त्र ज्ञान के विश्वकोश हैं। `**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**' इत्यादि ऋषिप्रणीत वचनों में वेदों को जिस धर्म में प्रमाण के रूप में प्रतिपादित किया गया है उसी धर्म के सर्वांगीण विवेचन के उद्देश्य से प्रोक्त धर्मशास्त्र की एक सुदीर्घ-व्यापक एवं अक्षुण्ण परम्परा प्राप्त होती है। `**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः**' इस कथन के द्वारा स्मृतियों को धर्मशास्त्रों का मूल बताया गया है। मध्यमपद लोपी कर्मधारय समास के द्वारा धर्म एवं शास्त्र में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। यहां धर्म प्रतिपाद्य एवं शास्त्र प्रतिपादक है। अर्थात् जिस शास्त्र में धर्म प्रधान रूप में वर्णित हो वह शास्त्र धर्मशास्त्र कहलाता है। शास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की गयी है – **शंसनात् शास्त्रम्, शासनात् शास्त्रम्** अर्थात् जिन ग्रंथों में धर्म की व्याख्या की गयी है, वे धर्मशास्त्र हैं। शब्दकल्पद्रुम में धर्मशास्त्र का लक्षण करते हुए कहा गया है – **धर्मशास्त्रं (धर्मस्य धर्माय वा शास्त्रम्), मन्वादिप्रणीतशास्त्रम्। तत्पर्य्याय स्मृतिः, धर्मसंहिता। इति हेमचन्द्रः।**

---

[16] जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ।

-भ. गी. (उपोद्घात), १ पर शां.भा.

[17] हि.आ.ध. शा. , जिल्द २, भाग १,पृ. ७

पारिजातकोश के अनुसार धर्मशास्त्र का अर्थ है - धर्म का वर्णन करने वाला तथा मन्वादि प्रणीत स्मृतिशास्त्र।[18] धर्मशास्त्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कुलमणिमिश्र महोदय ने इस प्रकार लिखा है-

"धर्मशास्त्रं नाम सकलशास्त्रपुरस्कृतं निखिललोकसुरक्षकं कृत्याकृत्यप्रतिपादकत्वेन नित्यनियतोपादेयंसाक्षात् वेदार्थानुमापकत्वेन वेदवत्प्रमाणं तप:स्वाध्यायपूतचरित्राणां यमनियमानुष्ठानप्रयतात्मनां सकलसंस्कारसंस्कृतानाम् आत्मगुणविद्योतितान्त:करणानां ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तसकलभूतहिताकांक्षिणां रागद्वेषरहितानां मनुगौतमवसिष्ठादिमहर्षिणां निरतस्वाध्यायध्ययनपूतकण्ठोद्गीर्णत्वेन सर्वजनग्रहणीयं गुणिगणसमादरणीयं प्राचीनतमं शास्त्रम्।"[19]

शंखलिखित स्मृति में ३४ धर्मशास्त्रों और उनके प्रणेताओं के नामों की गणना ही गई है, जो इस प्रकार है- मनु,विष्णु, यम, दक्ष, अंगिरा, अत्रि, वृहस्पति, उशना, आपस्तम्ब, वशिष्ठ, कात्यायन, पराशर, व्यास, शंखलिखित, संवर्त्त, गौतम, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, प्रचेता, वृद्धदेवल, सोम, जमदग्नि, प्रजापति, विश्वामित्र, वृद्धशातातप, पैठीनसि, पितामह, बौधायन, छागलेय, जाबालि, व्यवन, मारीच, और कश्यप। इसी प्रकार भविष्यपुराण में भी ३६ स्मृतियों और पुराण, महाभारत, रामायण विष्णु धर्म, शिवधर्म महाभारत आदि की गणना धर्मशास्त्र के अन्तर्गत की गई है।

वेद के छ: अंग हैं -शिक्षा, कल्प, व्याकरण,निरुक्त छन्द, ज्योतिष। इन वेदांगों में धर्मशास्त्र कल्प वेदांग के अन्तर्गत आता है। इनमें से कल्प सूत्र के चार भाग हैं- श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, शुल्बसूत्र। यहां श्रौतसूत्र में यागानुष्ठान विधियों का वर्णन है। गृह्यसूत्र में कर्मकाण्डीय विषयों यथा संस्कार आदि

---

[18] पारिजात- कोश पृ. सं. ४०४

[19]Swain, Brajakishore, *A Deep into Dharmasastra*, p.1

अनुष्ठान विधियां वर्णित हैं। धर्मसूत्र में धर्मशास्त्रीय विषयों की चर्चा है तथा शुल्बसूत्रों में यज्ञवेदी तथा यज्ञकुण्डों के निर्माण की विधि वर्णित है।

धर्मशास्त्र का साहित्य अत्यंत बृहद् है। सूत्र, स्मृति, निबंध, वृत्ति, टीका आदि इसमें शामिल हैं। यह विधि, धर्म, आचार, व्यवहार, प्रायश्चित, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, विधिक आदि नियमों का व्यापक विवरण प्रस्तुत करता है। धर्मशास्त्र में वर्णित विषयवस्तु को बताते हुए मनु ने कहा है कि इसमें सम्पूर्ण धर्मकर्मों के गुण तथा दोष और चारों वर्णों के शाश्वत आचार को बताया गया है। जिसे हम साधारण धर्म से अभिहित करते हैं ।[20]

वैदिक साहित्य की विशालता, वेदार्थ की दुरभिगमता तथा वेदार्थ के निर्णय में मनीषियों का पारस्परिक विरोध, वेदार्थ के सम्यक ज्ञान में सर्वसामान्य के लिए बाधक है। इसकी इसी दुरभिगमता के कारण परवर्ती काल में वेदांगों की रचना की गई और तत्पश्चात् धर्मशास्त्रीयग्रंथों का उद्भव हुआ। धर्मशास्त्रकारों ने वेद को ही आधार मानकर धर्म से सम्बन्धित विषयों को सरल, स्पष्ट तथा क्रमबद्ध रूप में जनसामान्य के लिए धर्मशास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया है।

धर्मशास्त्रीय ग्रंथों का काल निर्धारण करना दुष्कर कार्य है। मैक्समूलर तथा अन्य विद्वानों के अनुसार सूत्र ग्रंथों के उपरान्त अनुष्टुप छन्द वाले ग्रंथ प्रणीत हुए।[21] परन्तु पी. वी. काणे महोदय को यह मान्य नहीं है। उनका मानना है कि उस समय के ग्रंथों के विषय में हमारा ज्ञान इतना अल्प है कि इस प्रकार का सामान्यीकरण उपयुक्त नहीं है। श्लोक छन्द वाला मनुस्मृति नामक स्मृति ग्रंथ कुछ धर्मसूत्रों से, जैसे विष्णुधर्मसूत्र से प्राचीन और वसिष्ठधर्मसूत्र का समकालीन है। कुछ प्राचीनतम धर्मसूत्रों में, यथा

---

[20] म.स्मृ. ४/१५५.

[21] सैक्रैड बुक आफ दि ईस्ट, जिल्द २, पृ. ९

बौधायन धर्मसूत्र में लम्बे-लम्बे प्रबन्ध श्लोक छन्द में पाये जाते हैं और उनमें कुछ तो उद्धरण मात्र हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्लोक- बद्ध ग्रंथ धर्मसूत्रों से पूर्व भी विद्यमान थे।[22] पतंजलि ने लिखा है कि उनके समय में धर्मसूत्र थे और उनके प्रमाण भगवान् की आज्ञा के बाद महत्त्वपूर्ण माने जाते थे।[23] महाभारत[24] और रामायण[25] में भी मनोक्त धर्मशास्त्र के बहुत से वचन प्रमाण रूप में उद्धरित हैं।[26]

धर्मशास्त्र साहित्य को चार भागों में विभक्त किया जाता है। यथा -सूत्रसाहित्य, स्मृतिसाहित्य, भाष्यसाहित्य एवं निबन्धसाहित्य। वेद के कल्प अंग से सूत्रसाहित्य की उत्पत्ति मानी जाती है। धर्मसूत्र साहित्य के पश्चात् स्मृतिग्रंथों का अभ्युदय हुआ। परंतु अध्ययन अध्यापन के क्षेत्र में परिवर्तन होने के कारण सूत्र- स्मृति ग्रंथों के अध्ययन में कठिनाई आने लगी। अत: सूत्र स्मृतिग्रंथों पर धर्मशास्त्रकारों ने भाष्य आदि की रचना की। कुछ समय बाद भाष्यग्रंथों के पठन पाठन में कठिनाई होने लगी क्योंकि भाष्यों में दीर्घसमास एवं सन्धिबद्ध पदों का प्रयोग हुआ था। अत: निबन्ध ग्रंथों की रचना हुई। निबन्धकारों ने

---

[22] धर्मशास्त्र का इतिहास , पी. वी. काणे, प्रथम भाग, पृ. ९

[23] नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकारा: पठन्ति, अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति । म. भा. , जिल्द१, पृ. ११५.

[24] तैरेवमुक्तो भगवान् मनु: स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
शुश्रूषध्वं यथावृत्तंधर्मं व्याससमासत: ॥

[25] राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवा:।
निर्मला: स्वर्गमायान्ति सन्त: सुकृतिनो यथा ॥
शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेन: पापात् प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम्॥

रा., किष्कि. १८/३३-३४, म. स्मृ.८/३१६,३१८.

[26] काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश, संस्कृत संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई., पृ. सं.८

विभिन्न प्रामाणिक ग्रंथों से प्रमाण स्वरूप वचनों को संगृहीत कर युक्तियों एवं प्रमाणों के आधार पर धर्मनिबन्ध ग्रंथों की रचना की। इन निबन्धग्रंथों में व्यवहारविषय से सम्बन्धित प्रमुख निबन्ध व्यवहारमयूख, व्यवहारप्रकाश, विवादरत्नाकर, व्यवहारनिर्णय आदि हैं। विवादचिन्तामणि भी व्यवहार अर्थात् विवाद के अष्टादश पदों के विषय को वर्णित करने वाला एक प्रमुख ग्रंथ है।

इस ग्रंथ के प्रणेता वाचस्पतिमिश्र जी हैं। धर्मनिबन्धकारों में वाचस्पति मिश्र अग्रणी हैं। मिथिला में वाचस्पति मिश्र नाम के दो विद्वान् हुए होंगे। एक वाचस्पति मिश्र महान् नैयायिक थे। ये वैदिक एवं बौद्ध दार्शनिकों की वाद -परम्परा की उपज माने जाते हैं। इन्होंने बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मकीर्ति के मतों का खण्डन करने एवं न्याय दर्शन के मतों की स्थापना करने के लिए 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' नामक महान् ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य ग्रंथों की भी रचना की थी। यथा- सांख्यकारिका पर सांख्यतत्वकौमुदी टीका, वेदान्त दर्शन के ग्रंथ शांकरभाष्य पर भामती टीका, योगदर्शन के व्यास भाष्य पर तत्त्ववैशारदी आदि। इनका समय ८९८ ई. स्वीकार किया जाता है।

दूसरे वाचस्पति मिश्र मिथिला अलंकारभूत, विद्वानों में अग्रणी वाचस्पति, स्मार्त वाचस्पति, अभिनव वाचस्पति, धर्मशास्त्र वाचस्पति नामक अनेक संज्ञाओं से लोक में प्रसिद्ध हैं। ये पल्लीवार मैथिल ब्राहमण थे। इनके पिता का नाम गिरपति मिश्र था। वाचस्पति मिश्र के चार पुत्र थे- वेणीनाथ, रघुनाथ, नरहरि और लक्ष्मीनाथ। ये गुरुपद एवं महामहोपाध्याय पद से अलंकृत थे ऐसा पञ्जीप्रबन्ध नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है। वाचस्पति मिश्र कामेश्वरवंश के महाराजाधिराज भैरवसिंह हरिनारायण और उनके पुत्र रूपनारायण के सभापति थे। शंकरमिश्र, पक्षधरमिश्र, रुचिदत्त, वर्धमान आदि इनके समसामयिक विद्वान थे । इन्होंने अपने ग्रंथों में चण्डेश्वर, रत्नाकर, हलायुध, भवदेव आदि

धर्मशास्त्रकारों को उद्धृत किया है। वाचस्पति के मतों का उल्लेख गोविन्दानन्द, रघुनन्दन आदि विद्वानों ने किया है। अत: विद्वानों द्वारा इनका समय १४२०ई. से १४९०ई. तक स्वीकार किया जाता है।

वाचस्पतिमिश्र द्वार रचित विवादचिन्तामणि का समीक्षात्मक विश्लेषण इस शोध-प्रबंध का विषय है। यह शोध-प्रबंध पांच अध्यायों में विभक्त है। यह शोध -प्रबंध पांच अध्यायों में विभक्त है। जिसका अध्यायवार संक्षिप्त परिचय निम्न है –

प्रथम अध्याय- विवाद : स्वरूप एवं प्रकार तथा तद्विषयक साहित्य की समीक्षा- इस अध्याय के अन्तर्गत सर्वप्रथम धर्मशास्त्रीय विषय सामग्री को स्पष्ट करते हुए विभिन्न आचार्यों द्वारा विवाद का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसका वर्णन है तत्पश्चात् विवाद के प्रकार में विभिन्न स्मृतियों में स्वीकृत विवादपदों वर्णन किया गया है। इसके बाद व्यवहारविषयक उपलब्ध ग्रंथों, उनके वर्ण्य विषय, उन व्यवहारविषयक ग्रंथों के प्रणेताओं का विस्तृत परिचय देते हुए उनके प्रकाशित अथवा अप्रकाशित होने की स्थिति का भी उल्लेख किया गया है।

द्वितीय अध्याय- इस अध्याय में विवादचिन्तामणि में वर्णित अष्टादश विवादपदों में से प्रथम पांच अर्थात् ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, संभूयसमुत्थान तथा दत्ताप्रदानिक विवादपदों का समीक्षात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। विवादचिन्तामणिकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए स्मृतिकारों के मतों को उद्धृत करते हुए उनकी व्याख्या की है। इस शोधप्रबन्ध में समीक्षा की स्वीकृत पद्धति को अपनाते हुए विवादचिन्तामणि में वर्णित विषयों तथा अन्य स्मृतिकारों, भाष्यकारों और व्यवहारविषय से सम्बन्धित अन्य निबंधकारों के मतों से साम्य तथा वैषम्य को प्रस्तुत करते हुए समीक्षा की गई है। ऋणादान विवादपद के अन्तर्गत नारद द्वारा स्वीकृत ऋणादान के सात प्रकारों अर्थात् देय, अदेय, किस प्रकार से देय, आदि का वर्णन किया गया है। कालिका, कायिका आदि वृद्धियों, आधि तथा प्रतिभू, प्रतिभू के प्रकार,

प्रतिभू के योग्य व्यक्ति आदि का वर्णन किया गया है। निक्षेप विवादपद में निक्षेप का लक्षण, निक्षेप रखने के पात्र व्यक्ति, निक्षेप के प्रकार, निक्षेप के रक्षण की विधि, नष्ट होने की स्थिति में दण्ड विधान विषय वर्णित हैं। अस्वामिविक्रय शीर्षक के अन्तर्गत उसका अर्थ, अस्वामिविक्रय की स्थिति में क्रेता तथा विक्रेता के लिए दण्ड, कुछ वस्तुओं के विक्रय का निषेध आदि विषय वर्णित है। सम्भूयसमुत्थान में वणिकों, कृषकों, ऋत्विकों आदि के एक साथ मिलकर कार्य करने की विधि वर्णित है। दत्ताप्रदानिक में विभिन्न आचार्यों द्वारा कृत दत्ताप्रदानिक का लक्षण, देय तथा अदेय वस्तुओं का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय- इस अध्याय में भृतक का लक्षण, शिष्य, अन्तेवासी, आदि भृतक के प्रकार, शुभ तथा अशुभ कर्मों को करने योग्य व्यक्ति, ब्राह्मण के दास कर्म का निषेध, वेतन के लेने-देन से सम्बन्धित विधानों का वर्णन है। स्वामीपालविवाद में स्वामी और पशुपालक के बीच होने वाले विवाद, गोपालक के लिए दण्ड, पशुओं आदि द्वारा फसल के नष्ट होने पर दण्ड आदि विषयों का वर्णन है। संविद्व्यतिक्रम शीर्षक के अन्तर्गत पाषण्डि, नैगम आदि संघों का स्वरूप तथा उनसे सम्बन्धित विवाद का प्रतिपादन किया गया है। विक्रीयासम्प्रदान शीर्षक के अन्तर्गत क्रेता और विक्रेता के सम्बन्ध में विविध विधान वर्णित है। सीमाविवाद पद में सेतु, बांध, खेत की सीमाओं तथा उनसे उत्पन्न विवादों के निराकरण के लिए योग्य साक्षी, निर्णय की विधि, कृष्ट तथा अकृष्ट भूमि से सम्बन्धित विवाद तथा पशुओं से फसलों की सुरक्षा की विधि वर्णित है।

चतुर्थ अध्याय में वाक्पारुष्य का लक्षण, वाक्पारुष्य के भेद तथा दण्ड का विधान, दण्डपारुष्य की परिभाषा, दण्डपारुष्य के भेद उत्तम तथा मध्यमादि दण्डपारुष्य के लिए विहित दण्ड, स्तेय का लक्षण, स्तेय तथा साहस में भेद, चोरों के भेद, प्रकाश तथा अप्रकाश चोर के लिए विहित दण्ड आदि विषय चतुर्थ अध्याय में वर्णित हैं।

पंचम अध्याय के अंतर्गत स्त्रीसंग्रहण का लक्षण, प्रकार, स्त्रीसंग्रहण के लिए दण्ड, स्त्रीपुरुषधर्म, द्यूतसमाह्वय तथा दायभाग का वर्णन किया गया है। दायभाग नामक विवादपद अत्यन्त विस्तृत है। इसमें दाय का अर्थ, पिता के धन के विभाग का समय, पिता की जीवितावस्था में होने वाला विभाग, ज्येष्ठ भ्राता के सम्बन्ध में विधान, भाग प्राप्त करने के अधिकारी तथा अनधिकारी विभाज्य तथा अविभाज्यधन, स्त्रीधन का विभाग, संसृष्ट धन आदि विषयों का वर्णन किया गया है।

अध्यायों की परिसमाप्ति पर परिशिष्ट के अन्तर्गत व्यवहार विषयक ग्रंथों, उनके प्रणेताओं तथा उनके काल की एक तालिका दी गई हैं। तत्पश्चात् सन्दर्भ ग्रंथ सूची दी गई है।

प्रथम अध्याय

विवाद: स्वरूप एवं प्रकार तथा तद्विषयक साहित्य की समीक्षा

प्रथम अध्याय

विवाद : स्वरूप एवं प्रकार तथा तद्विषयक साहित्य की समीक्षा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है वह जिस समाज में रहता है, उस समाज के कुछ नियम, रीति-रिवाज तथा परम्पायें होती हैं, जिससे उस समाज का संचालन होता है। यदि ऐसा न हो तो वह एक बर्बर समाज कहलायेगा। जिसमें सभी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करेंगे। इसलिए एक समाज की कल्पना की गई, जिसका संचालन नियमों के अनुसार होता है। उन नियमों का पालन यदि कोई व्यक्ति नहीं करता है तो राजा अथवा आधुनिक सन्दर्भ में पुलिस -प्रशासन या शासन के द्वारा व्यक्ति को नियमों का पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। इस प्रकार किसी भी देश, समाज अथवा संस्कृति में शान्ति व्यवस्था की स्थापना के लिए एवं प्रजा को अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित करने के लिए न्यायव्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में राजधर्म का वर्णन करते समय राजा का सर्वप्रमुख धर्म न्यायव्यवस्था की स्थापना बताया गया है। *मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर* का मत है कि प्रजा-रक्षण राजा का सर्वोच्च कर्तव्य है। यह कर्तव्य अपराधियों को दण्डित किए बिना पूर्ण नहीं हो सकता। अत: राजा को न्याय (व्यवहार दर्शन) करना चाहिए –

अभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञ: प्रजापालनं परमो धर्म: तच्च दुष्टनिग्रहमन्तरेण न संभवति । दुष्टपरिज्ञानं च न व्यवहारदर्शनमन्तरेण सम्भवति । तद् व्यवहारदर्शनमह:ह:कर्तव्यम् इति ।[27]

स्पष्ट है, न्यायानुशासन एक पवित्र कर्तव्य था। *मनु* ने भी कहा है कि जो राजा निरपराध को दण्डित करता है और अपराधी को छोड़ देता है वह अपयश का पात्र होता है और नरक में जाता है-

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन् ।

---

[27] या. स्मृ. २/१ पर मिताक्षरा व्याख्या।

अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ।।[28]

स्मृतिकारों ने व्यवहार (विवाद) की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि अति प्राचीन काल में लोग नीतियुक्त आचरण करते थे, आगे चलकर उनके जीवन में अनीति प्रविष्ट हो गयी। जिसके बाद आचार्यों ने नियमों का विधान किया और राजा द्वारा उसका पालन करवाया गया। नारद स्मृति में कहा गया है कि जब लोग धार्मिक एवं सत्यवादी थे उस समय न तो व्यवहार (कानून) की आवश्यकता थी और न द्वेष या मत्सर था। जब मनुष्यों में धर्म का ह्रास होने लगा तब धर्म एवं न्याय का प्रवर्तन हुआ और राजा झगड़ों को दूर करनेवाला एवं दण्डधर (अपराधी को दण्ड देने वाला) घोषित हुआ -

धर्मैकताना: पुरुषा यदाऽऽसन् सत्यवादिन:।

तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापिमत्सर:॥

नष्टे धर्मे मनुष्याणां व्यवहार: प्रवर्तते।

द्रष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधर: स्वयम्॥[29]

वृहस्पति स्मृति में व्यवहार की उत्पत्ति का यहीं कारण बताया गया है-

धर्मप्रधाना: पुरुषा: पूर्वमासन्नहिंसका: ।

लोभद्वेषाभिभूतानां व्यवहार: प्रकीर्तित:॥

इस प्रकार प्राचीन समय में व्यवहार (विवाद) एक प्रमुख विषय था। इसकी प्रमुखता के कारण ही मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन द्वारा प्रणीत धर्मग्रन्थों में व्यवहार विषय का अत्यंत विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

१.१.व्यवहार का स्वरूप

व्यवहार शब्द का प्रयोग वेदों में यद्यपि नहीं किया गया है तथापि व्यवहार शब्द के भाव का बोधक 'ऋत' शब्द का उल्लेख मिलता है। 'ऋत' शब्द वेदों में श्रेष्ठ या सर्वशक्तिशाली नियम या जिसे व्यवहार भी

---

[28] म. स्मृ. ८/१२८

[29] ना. स्मृ.१/१-२

कहा जा सकता है अथवा संपूर्ण सृष्टि की व्यवस्था के नियामक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में 'ऋत' के नियामक के रूप में वरुण देवता की सत्ता स्वीकार की गई है। तत्पश्चात् सूत्रों एवं स्मृतियों में व्यवहार शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। यथा - महाभारत के उद्योगपर्व[30] तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र[31] में व्यवहार शब्द लेन-देन के लिए प्रयुक्त हुआ है। महाभारत के शान्तिपर्व,[32]मनु,[33]याज्ञवल्क्य,[34]नारद,[35] विष्णुधर्मसूत्र,[36] वसिष्ठ[37] तथा शुक्रनीतिसार[38] में व्यवहार का अर्थ झगड़ा या मुकदमा किया गया है। गौतमधर्मसूत्र में व्यवहार का अर्थ व्यक्ति के वयस्क होने की आयु के रूप में किया गया है।[39]

विभिन्न स्मृतिकारों ने व्यवहार शब्द की परिभाषा की है। याज्ञवल्क्य स्मृति में व्यवहार का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि धर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित मार्ग से विपरीत मार्ग द्वारा दूसरों से अभिभूत व्यक्ति

---

[30] महाभारत, उद्योगपर्व ३७/३०

[31] आपस्तम्बधर्म सूत्र २/७/२०/११,१६, २/७/१६/१६

[32] महाभारत शान्तिपर्व ६९/२८

[33] व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणै: स पार्थिव:।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीत: प्रविशेत्सभाम्॥ म. स्मृ.८/१

[34] व्यवहारान्नृप: पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणै: सह।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जित:॥ या. स्मृ.२/१

[35] ना स्मृ.१/१

[36] विष्णु, ३/७२

[37] वसिष्ठ १६/१

[38] दुष्टनिग्रहणं कुर्य्याद् व्यवहारानुदर्शनै:।
स्वाज्ञया वर्त्तितुं शक्ता स्वाधीना च सदा प्रजा॥

[39]रक्ष्यं बालधनमाव्यवहारप्रापणात् ॥ -गौतमधर्मसूत्रम् १/२४८

राजा अथवा प्राड्विवाक् के समीप यदि निवेदन करता है तो उस आवेदित विषय को व्यवहार शब्द से कहते हैं-

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधर्षित: परै:।

आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्॥[40]

कात्यायन ने व्यवहार की दो परिभाषायें दी हैं। एक व्युत्पत्तिपरक जो प्रमुख रूप विधि की ओर संकेत करती है, और दूसरी परम्परापरक जिसका संबन्ध झगड़े, मुकदमे या विवाद से है।'व्यवहार' का व्युत्पत्ति परक अर्थ करते हुए कात्यायन ने लिखा है- उपसर्ग 'वि' का प्रयोग 'बहुत' के अर्थ में 'अव' का सन्देह के अर्थ में तथा 'हार' का हटाने के अर्थ में प्रयोग हुआ है। अर्थात् 'व्यवहार' नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह बहुत से सन्देहों को दूर करता है-

वि नानार्थेऽवसन्देहे हरणं हार उच्यते।

नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृत:॥[41]

व्यवहार की दूसरी परिभाषा करते हुए कात्यायन ने कहा है कि शिष्ट द्वारा निर्दिष्ट आचरण का उल्लंघन होने पर ' मेरा यह धन दूसरे द्वारा अपहृत हुआ है' अथवा 'इस खेत का अनाज मेरा है, दूसरे का नहीं है' इस प्रकार के विवाद विषय को लेकर जो व्यक्ति न्यायालय में निर्णय के लिए प्रस्तुत होता है उसे व्यवहार कहते हैं-

प्रयत्नसाध्ये विच्छिन्ने धर्माख्ये न्यायविस्तरे।

साध्यमूलस्तु यो वादो व्यवहार स उच्यते॥

शुक्रनीति में व्यवहार का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा सत्य और असत्य विषय का परिज्ञान कर प्रजा की धार्मिक स्थिति तथा उनके कार्य-कलापों की सही जानकारी प्राप्त होती है उसे व्यवहार कहते हैं –

---

[40] या. स्मृ. २/५

[41]का .स्मृ .२६

स्वप्रजाधर्म्मसंस्थानं सदसत्प्रविचारतः।

जायते चार्थसंसिद्धिर्व्यवहारस्तु येन सः॥

मिताक्षराकार ने व्यवहार का अर्थ करते हुए कहा है कि 'जो कथन दूसरे के विरोध सहित अपने सम्बन्ध में कहा जाय उसे व्यवहार कहते हैं - **अन्यविरोधेन स्वात्मसम्बन्धितया कथनं व्यवहारः।**[42] अर्थात् किसी क्षेत्र के विषय में देवदत्तादि स्वकीयत्व का प्रतिपादन करें और उसके वचन का विरोध करते हुए यज्ञदत्त अपने स्वकीयत्व का प्रतिपादन करे तो यही व्यवहार का विषय बनता है। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट के अनुसार ऋणादानादि अठारह प्रकार के विवादों में अर्थी और प्रत्यर्थी के कथन से उत्पन्न संदेह का निराकरण करने वाले विचार को व्यवहार कहते हैं- **ऋनादानाद्यष्टादशविवादे विरुद्धार्थार्थिप्रत्यर्थिवाक्यजनितसंदेहचारी विचार एव व्यवहारः।**[43] नीलकण्ठ ने व्यवहार के दो लक्षण किये हैं- **विप्रतिपद्यमानान्तरगताज्ञाताधर्मज्ञापनानुकूलोव्यापारो व्यवहारः। तथा वादि प्रतिवादिकर्त्तृकसम्भवद्भोग साक्षि प्रमाणको विरोधिकोटिव्यवस्थापनानुकूलो व्यापारो सः,** अर्थात् अज्ञात धर्म के ज्ञापन रूप क्रिया को व्यवहार कहते हैं। हारीत ने व्यवहार का लक्षण करते हुए कहा है –

स्वधर्मस्य यथा प्राप्तिः परधर्मस्य वर्जनम्।

न्यायेन क्रियते यत्र व्यवहार उच्यते॥[44]

हरदत्त ने **'लोकमर्यादाव्यवस्थापनं व्यवहारः'** कहा है। इस प्रकार व्यवहार का मुख्य प्रयोजन संशय का निवारण तथा धर्म की स्थापना प्रतीत होता है।

नारद ने व्यवहार को द्विविध बताया है –

सोत्तरोऽनुत्तरश्चैव स विज्ञेयो द्विलक्षणः।

सोत्तरोऽभ्यधिको यत्रविलेखात्पूर्वकम् पणः॥

---

[42] या. स्मृ. २/१ पर मिताक्षरा व्याख्या

[43] म. स्मृ.८/१ पर कुल्लूकभट्ट की टीका।

[44] व्य. प्र. पृ.

i. सोत्तर

ii. अनुत्तर

सोत्तर व्यवहार वह है जहां दोनों पक्ष अर्थात् वादी तथा प्रतिवादी अथवा इनमें से केवल एक पराजय की स्थिति में कुछ धन देने का वचन देते हैं यथा 'यदि तुम जीतते हो तो मैं इतना धन दूंगा।' अनुत्तर व्यवहार बिना धन के होता है।

याज्ञवल्क्य, नारद, वृहस्पति तथा कात्यायन ने व्यवहार के चतुष्पाद का वर्णन किया है। यहां पाद का अर्थ अंश जानना चाहिए अर्थात् विवाद के चार अवयव होते हैं। वृहस्पति ने व्यवहार के चारों पादों का कथन इस प्रकार किया है-

पूर्वपक्ष आद्यपादो द्वितीयश्चोत्तरो मत:।

क्रियापादस्तथा चान्यश्चतुर्थो निर्णय: स्मृत:॥

i. भाषापाद

ii. उत्तरपाद

iii. क्रियापाद

iv. निर्णयपाद

नारद ने व्यवहार के चार पादों का वर्णन इस प्रकार किया है –धर्म, व्यवहार, चरित और राजशासन –

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।

चतुष्पाद व्यवहारोऽयमुत्तर: पूर्वबाधक:॥

१.२. विवाद के प्रकार-

भारतीय न्यायव्यवस्था अत्यन्य प्राचीन है। विभिन्न आचार्यों द्वारा विवाद पदों अर्थात् विवाद के प्रकार की संख्या भिन्न – भिन्न बताई गई है। मनु, नारद, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने मुख्यत: अष्टादश विवादपदों के स्वरूप एवं प्रक्रिया को व्याख्यायित किया है। नारदस्मृति में इन अष्टादश व्यवहारपदों के १३२ प्रभेद बताये गये हैं तथा मनुष्यों के साक्षी आदि प्रमाणों आदि के क्रियाभेद से सौ शाखायें बताई गई हैं। इनको नारदस्मृति के अनुसार एक टेबल से इस प्रकार समझ सकते हैं –

१.२.१. विवाद तालिका-

व्यवहारपद का नाम	**व्यवहारपद की शाखायें**	**व्यवहारपद का अर्थ**
१.ऋणादान	-२५	-ऋणलेना
२.उपनिधि	-७	-धरोहर रखना
३.संभूयसमुत्थान	-३	-अनेक व्यक्तियों द्वारा संयुक्त रूप से कार्य करना
४.दत्ताप्रदानिक	-४	-दान में दी गई वस्तु आदि को क्रोधादि वश वापस ले लेना
५.अभ्युपेत्याशुश्रुषा	-९	-किसी व्यक्ति की सेवा करना स्वीकार कर मुकर जाना
६.वेतनस्यापाकर्म	-४	-सेवक इत्यादि को वेतन न देना
७.अस्वामिविक्रय	-१२	-किसी वस्तु इत्यादि का स्वामी न होने पर भी उसे विक्रय करना
८.विक्रयादान	-१	-मूल्य लेकर वस्तु इत्यादि को बेचने के बाद क्रेता को वस्तु न देना
९.क्रीत्वानुशय	-४	-क्रेता द्वारा वस्तु क्रय करने के बाद ठीक न समझकर वापस करना
१०.समयस्यानप-कर्म	-१	-पूर्व निर्णीत संधि आदि को न मानना
११.क्षेत्रवाद	-३२	-सीमा से संबंधित विवाद
१२.स्त्रीपुंसयोग	-२०	-स्त्री और पुरुषों का विवाहादि से संबंधित विवाद
१३.दायभाग	-१९	-पैत्रिक संपत्ति आदि का बंटवारा करना
१४.साहस	-१२	-सर्वसाधारण द्वारा उपयोगार्ह वस्तु का बलपूर्वक अपहरण करना
१५.वाक्पारुष्य	-३	-दूसरों के विरुद्ध कटुपूर्ण वचन बोलना
१६.दण्डपारुष्य	-३	-मारपीट
१७.द्यूतसमाह्वय	-१	-जुआ खेलना या द्रव्यादि की बाजी लगाकर पशु आदि को लड़ाना
[45]१८.प्रकीर्णक	-६	-जिन विषयों का अन्य कहीं उल्लेख न हुआ हो

[45] ना. स्मृ. १/१६-२५

१.२.२. विभिन्न स्मृतिकारों द्वारा उल्लिखित व्यवहार पदों की संख्या[46]

मनुस्मृति	कौटिल्य	याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरा)	नारद	वृहस्पतिस्मृति
१.ऋणादान	१.ऋणादान	१.ऋणादान	१.ऋणादान	१.कुसीद
२.निक्षेप	६.उपनिधि	२.उपनिधि	२.निक्षेप	२.निधि
३.अस्वामिविक्रय	११.अस्वामिवि-क्रय	६.अस्वामिविक्रय	७.अस्वामिविक्रय	८.अस्वामिविक्रय
४.सम्भूयसमु-त्थान	८.सम्भूय-समुत्थान	१७.सम्भूय-समुत्थान	३.सम्भूयसमुत्थान	४.सम्भूयसमु-त्थान
५.दत्तस्यानपाकर्म	१०.दत्तस्यानपा-कर्म	७.दत्ताप्रदानिक	४.दत्ताप्रदानिक	३.अदेयाद्य
६.वेतनादान	७.कर्मकरकल्प	११.वेतनादान	६.वेतनस्यानपाकर्म	५.भृत्यदान
७.संविद्यतिक्रम	४.समयस्यानपा-कर्म	१०.वेतनादान	१०.समयस्यानप-कर्म	१०.समयातिक्रम
८.क्रयविक्रयानु-शय	९.विक्रीत – क्रीतानुशय	८.क्रीतानुशय १६.विक्रीयासंप्र-दान	९.क्रीतानुशय ८.विक्रीयांप्रदान	९.क्रयविक्रयानु-शय
९.स्वामिपालवि-वाद	+	५.स्वामिपालवि-वाद	+	+
१०.सीमाविवाद	३.सीमाविवाद	४.सीमाविवाद	११.क्षेत्रजविवाद	७.भूवाद

[46] काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ७५

११.वाक्पारुष्य	१३.वाक्पारुष्य	१३.वाक्पारुष्य	१५.वाक्पारुष्य	१५.वाक्पारुष्य
१२.दण्डपारुष्य	१४.दण्डपारुष्य	१४.दण्डपारुष्य	१६.दण्डपारुष्य	१६.दण्डपारुष्य
१३.स्तेय	+	१८.स्तेय	+	१२.स्तेय
१४.साहस	१२.साहस	१२.साहस	१४.साहस	१७.वध
१५.स्त्रीसंग्रहण	संग्रहण (४/१२)	१९.स्त्री-संग्रहण	+	१९.स्त्री –संग्रह
१६.स्त्रीपुंधर्म	१. (३/२/४)	+	१२.स्त्रीपुंसयोग	११.स्त्रीपुंसयोग
१७.विभाग	२.दायभाग	३.दायभाग	१३.दायभाग	१३.दायभाग
१८.द्यूतसमाह्वय	१५.द्यूतसमाह्वय	१२.द्यूतसमाह्वय	१७.द्यूतसमाह्वय	१४.अक्षदेवन
+	+	९.अभ्यूपेत्याश-श्रूषा	५.अभ्युपेत्याशुश्रुषा	६.अशूश्रूषा
	१६.प्रकीर्णक	२०.प्रकीर्णक	१८.प्रकीर्णक	१९.प्रकीर्णक

विभिन्न स्मृतिकारों द्वारा वर्णित ये विवादपद हैं। इसका तात्पर्य है कि मनुष्यों के बहुत से झगड़े अठारह शीर्षकों में बांटे जा सकते हैं। ऐसा नहीं है कि मनुष्यों के विवाद अठारह प्रकार के ही होते हैं परन्तु अधिकांश विवाद इन विवादपदों के अन्तर्गत आ जाते हैं। ऊपर प्रस्तुत तालिका से यह स्पष्ट है कि स्मृतिकारों द्वारा स्वीकृत विवादपदों की संख्या भिन्न –भिन्न है। मनु और नारद ने अष्टादशविवाद पदों का नामोल्लेख और व्याख्या की है, परंतु मनु और नारद द्वारा उल्लिखित विवादपदों में अंतर भी है मनु का अठारहवां पद द्यूतसमाह्वय है और नारद ने प्रकीर्णक नामक एक अन्य विवादपद की कल्पना की है। याज्ञवल्क्य ने बीस विवादपदों का वर्णन किया है। वृहस्पति ने २१, कौटिल्य ने १६ विवादपदों का वर्णन किया है। इसमें याज्ञव्ल्क्य ने बीसवें स्थान पर, कौटिल्य ने सोलहवें और वृहस्पति नें इक्कीसवें स्थान पर प्रकीर्णक नामक विवादपद का वर्णन किया है। नारद ने प्रकीर्णक नामक विवादपद का लक्षण करते हुए कहा है कि वे सब जो अन्य विवादपदों में अन्तर्विष्ट नहीं किये जा सकते और जो राजा द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं जिसमें राजा की आज्ञा का उल्लंघन और प्रतिपालन सम्मिलित है –

प्रकीर्णके पुनर्ज्ञेयो व्यवहारो नृपाश्रय:।

राज्ञामाज्ञाप्रतीधातस्तत् कर्म करणं तथा॥

नारद ने प्रकीर्णक के अन्तर्गत आने वाले विषयों की सूची दी है जो इस प्रकार है – पुरनिर्माण के लिए अनुमति अथवा अर्थदान, प्रजाओं का विभाग, पाषण्ड, नैगम, श्रेणियों एवं गणों का धर्म विपर्यय, पिता और पुत्र के मध्य उत्पन्न विवाद, प्रायश्चित का उल्लंघन, आश्रम में निवास करने वालों को दिये गये साहाय्य का विलोप और उनके प्रति क्रोध, वर्णसंकरों के दोष और उनकी आजीविका।

इन विवादपदों का वृहस्पति ने एक अन्य प्रकार से विभाजन किया है। उन्होंने अष्टादशविवादपदों को दो भागों में विभक्त किया है –

i. धनमूल
ii. हिंसामूल

अष्टादश विवादपदों में १४ धनमूल व्यवहार तथा ४ हिंसामूल हैं। इनका विभाजन इस प्रकार है-

१.२.३.अर्थमूल-

(१)कुसीद (२)निधि (३)निक्षेप (४)संभूयोत्थान (५) भृत्यादान (६)अशुश्रूषा (७)भूवाद (८)अस्वामिविक्रय (९)क्रयविक्रयानुशय (१०)समयातिक्र (११)स्त्रीपुंसंयोग (१२)स्तेय (१३)दायभाग (१४) द्यूत

१.२.४.हिंसामूल-

(१)वाक्पारुष्य (२)दण्डपारुष्य (३)साहस (४)स्त्रीसंग्रहण

इस विभाजन का कारण बताते हुए प्रतापरुद्र ने सरस्वतीविलास में कहा है कि ऋणादानादि देयता आदि से सम्बन्धित हैं जबकि साहसादि दण्डनिबन्धन होते हैं। इन दोनों श्रेणी के व्यवहारों में अर्थमूलक व्यवहार केवल वादी द्वारा प्रस्तुत किये जा सकते हैं परंतु हिंसामूलक व्यवहार वादी के प्रतिवेदित न करने की स्थिति में राजा द्वारा भी वादयोग्य है।

१.३.व्यवहार विषयक साहित्य की समीक्षा

धर्मशास्त्र साहित्य को चार भागों में विभक्त किया जाता है –सूत्रसाहित्य, स्मृतिसाहित्य ,भाष्यसाहित्य एवं निबन्धसाहित्य। सूत्र साहित्य भारतीय वाङ्मय का एक अनूठा वर्ग है और इसकी विशेषता इसकी अनोखी शैली है। वैदिक साहित्य में सूत्रों का काल अध्ययन और चिन्तन की एक विशिष्ट परम्परा का प्रतिनिधि है और भारतीय साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। वेदतत्त्व मीमांसक वैदिक वाङ्मय का विभाजन अनेक प्रकार से करते हैं। पाश्चात्य समालोचक मैक्समूलर महोदय वैदिक वांङ्मय को चार भागों में विभाजित करते हैं । यथा- छन्दकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मण काल, सूत्रकाल । अन्य विद्वान् दश भागों में बांटते हैं। परन्तु रचना शैली के आधार पर वैदिक वांङ्मय को पांच भागों में बांट सकते हैं यथा–मंत्र काल, संहिताकाल, ब्राह्मणकाल, आरण्यकोपनिषत्काल, सूत्रकाल।

वैदिक साहित्य में सूत्र साहित्य कल्प वेदांग के अन्तर्गत रखा जाता है। विष्णुगुप्त ने ऋग्वेदप्रातिशाख्य में कल्प की परिभाषा इस प्रकार दी है – **'कल्पो नाम वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वकेण कल्पनाशास्त्रम् ।'** कुमारिल ने कल्प सूत्र के महत्व को इस रूप में प्रस्तुत किया है –

वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पै: कर्माणि याज्ञिका:।

न तु कल्पैर्विना केचिन्मंत्रब्राह्मणमात्रकात्॥

इस काल के अधिकांश ग्रंथों की रचना सूत्रशैली में होने के कारण इसे सूत्र काल कहते हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र में सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतो मुखम्।

अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥[47]

काणे महोदय के अनुसार प्राचीन काल में कल्पसूत्रों का अध्ययन चरणों में होता था। कुछ विद्यमान धर्मसूत्रों से पता चलता है कि उनके अपने चरण के गृह्यसूत्र भी रहे होंगे । सभी चरणों के धर्मसूत्र आज उपलब्ध नहीं हैं।[48] कुमारिल ने अपने तंत्रवार्तिक में लिखा है कि गौतम (धर्मसूत्र) तथा गोभिल (गृह्यसूत्र) का अध्ययन छन्दोग (सामवेदी लोग) करते थे, वसिष्ठ (धर्मसूत्र) का ऋग्वेदी लोग, शंखलिखित धर्मसूत्र का वाजसनेयी संहिता के अनुयायी गण तथा आपस्तम्ब एवं बौधायन के सूत्रों का अध्ययन तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी गण करते थे। धर्मसूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आचार, विधि, नियम एवं क्रिया संस्कार है। यद्यपि धर्मसूत्रों के विषय स्मृतियों के समान क्रमबद्ध नहीं है फिर भी स्मृति प्रतिपदित सभी विषय धर्मसूत्रों में उपलब्ध होते हैं। धर्मसूत्रों की भाषा स्मृतियों की भाषा से अधिक प्राचीन है। विषय वस्तुओं एवं प्रकरणों में धर्मसूत्रों का गृह्यसूत्रों से गहरा सम्बन्ध है। धर्मसूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मनुष्य जीवन का आचार एवं कर्तव्य वर्णन है । धर्मसूत्रों में मुख्यत: वर्णों एवं आश्रमों के नियम, द्विजों का दैनिक कृत्य, गृह्ययज्ञ , पाकयज्ञ, गर्भाधान–पुंसवनादि षोडश संस्कार, ब्रह्मचारी–स्नातकों के कर्तव्य, मधुपर्क, श्राद्धकर्म, धर्म की उपादेयता, वर्णधर्म, वर्णों के जीवन वृत्त, आश्रमधर्म, जाति- अनुलोम-प्रतिलोम –वर्णसंकर, पाप, प्रायश्चित, व्रत, अशौच, प्रमाण, ऋणादान आदि विवादपद, राजधर्म, स्त्रीपुंधर्म, पुत्रभेद, उत्तराधिकार आदि विषय वर्णित हैं।

धर्मसूत्रों के वर्ण्य विषय में व्यवहार एक प्रमुख विषय रहा है। वस्तुत: भारतीय न्याय-व्यवस्था का बीजारोपण वैदिक काल से ही हो गया था। तत्पश्चात् धर्मसूत्रों के काल तक पहुंचते-पहुंचते न्याय-व्यवस्था

---

[47] पा. गृ. सू. भूमिका , पृ. ५

[48] धर्मशास्त्र का इतिहास , भाग १, पृ. ९

से सम्बन्धित नियमों का सृजन भी प्रारंभ हो गया था। इसलिए व्यवहार के स्वरूप की सम्यक् जानकारी के लिए धर्मसूत्रों के महत्त्व को विस्मृत नहीं किया जा सकता। गौतमधर्मसूत्रादि में व्यवहार के अष्टादश पदों का क्रमश: नामोल्लेख नहीं प्राप्त होता है, तथापि इनके सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। वस्तुत: सूत्र ग्रंथ ही स्मृतिग्रंथों के आधार स्तंभ हैं। यद्यपि सभी धर्मसूत्रों का रचना काल एक नहीं है परन्तु कुछ साधारण नियम सभी धर्मसूत्रों में समान रूप से पाये जाते हैं । प्राय: सभी धर्मसूत्र पाणिनि से पूर्व विरचित थे, क्योंकि धर्मसूत्रों की रचना के समय पाणिनि व्याकरण ग्रंथ के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध नहीं थे।

कुन्दन लाल शर्मा ने धर्मसूत्रों का समय ई. पू. ८०० स्वीकार किया है। ए.ए. मैक्डोनल ने इनका समय ४०० ई.पू. माना है । परन्तु पी. काणे ने ६००-३०० ई. पू. स्वीकार किया और यह माना है कि सूत्रसाहित्य का अभ्युदय यास्क के पूर्व हुआ था ।

सामाजिक दृष्टि से भारतीय समाज में स्मृतियों का व्यापक महत्व है। स्मृतियों के वर्ण्य विषय को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है –आचार, व्यवहार और प्रायश्चित। आचारकाण्ड में चारों वर्णों के कर्तव्यों, षोडश संस्कारों, देवों की उपासना, व्रत, उपवास आदि का वर्णन प्राप्त होता है। व्यवहार भाग में सामाजिक व्यवस्था के संचालन के लिए नियमों का उल्लेख किया गया है। इसमें राजा का धर्म वर्णित होता है, और यह बताया गया है कि राजा का प्रजापालन ही परम धर्म है। यह प्रजापालन दुष्टों का निग्रहण किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता है। इसके लिए उनकी पहचान आवश्यक है और दुष्टों की पहचान व्यवहार दर्शन के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए दण्ड की व्यवस्था की गई है।

जहां निमित्तादि धर्मों की चर्चा होती है वह प्रायश्चित है। मनुष्य द्वारा जाने -अनजाने किए जाने वाले पापपूर्ण कर्मों का प्रायश्चित भाग में वर्णन होता है। प्रायश्चित के लिए मन्त्र, जप, दान, तपस्या, उपवास, अनुताप, तीर्थाटन आदि का विधान किया गया है। इस प्रकार साधारणत: स्मृतियों में चारों वर्णों, चारों

आश्रमों तथा चारों पुरुषार्थों से सम्बन्धित विषय में वर्णित हैं। स्मृति ग्रंथों में व्यवहार विषय को सम्पूर्णता प्राप्त हुई। मनुस्मृति, नारदस्मृति, याज्ञवल्क्य एवं कात्यायन स्मृति में व्यवहार का स्वरूप एवं अष्टादश विवाद पदों के सम्बन्ध में विस्तृत विधान प्राप्त होते हैं।

स्मृतिकारों की संख्या के विषय में मतभेद है। स्मृतिकारों और भाष्य निबंधकारों ने स्मृतियों की संख्या अलग–अलग बताई है। गौतम ने केवल मनु को उद्धरित किया है। वसिष्ठ ने पांच धर्मशास्त्रकारों का नामोल्लेख किया है- गौतम प्रजापति, मनु, यम, हारीत। पैठीनसि ने स्मृतिकारों की संख्या ३६ बताई है जो निम्न हैं- मनु, आंगिरस, व्यास, गौतम, लिखित, यम, वसिष्ठ, दक्ष, संवर्त, शातातप, पराशर, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत, शंख, कात्यायन, वृहस्पति, योगीश्वर, नारद, बौधायन, पितामह, सुमन्तु, काश्यप, बभ्रु, पैठीनसि, व्याघ्र, सत्यव्रत, भारद्वाज, गार्ग्य, काष्णाजनि ,जाबालि जमदाग्नि, लौगाक्ष्य,।[49] मित्रमिश्र कृत वीरमित्रोदय में उद्धरित प्रयोगपारिजात के अनुसार १८ मुख्य स्मृति, १८ उपस्मृति, २१अन्य स्मृतिकार हैं।[50] गरुण पुराण में १८ स्मृतिकारों का उल्लेख है। नीलकण्ठ के भगवन्तभाष्कर नाम के महानिबन्ध में ९७ स्मृतिकारों की चर्चा है। कमलाकर के निर्णयसन्धु में १३१स्मृतिकारों के मतों को उद्धरित किया गया है।

धर्मशास्त्र सम्बन्धी साहित्य को काल के आधार पर मुख्यत: तीन भागों में बांटा जा सकता है-

१. धर्म सूत्र और स्मृति ग्रंथ - ६०० ई. पू. – प्रथम शताब्दी
२. स्मृति ग्रंथ - प्रथम शताब्दी - ८०० ई.
३. भाष्य और निबन्ध – ८०० – १८०० ई. ।

---

[49] स्मृ. च. प्रथम भागा, पृ. १-२

[50] वी. मि. परि. पृ. १८

इसके प्रथम भाग में ही अनेक भाष्यों की रचना की गई इसलिए इसे भाष्यकारों का स्वर्णयुग कहा जाता है। ग्यारहवीं शदी तक भाष्य लिखे जाते रहे परन्तु धीरे–धीरे यह प्रवृत्ति कम हो गई और स्वतंत्र निबन्ध लिखे जाने लगे। इन निबन्धों के विषय इन्हीं स्मृतियों और सूत्रग्रंथों पर ही आधारित थे, परंतु वे विषय को अत्यन्त क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करते थे, जिसके आधार पर किसी विषय को समझना आसान हो जाता है। वैसे तो भाष्य एवं निबन्ध में अन्तर है, परन्तु पी. वी. काणे महोदय ने स्वीकार किया है कि इनमें स्पष्ट अन्तर नहीं किया जा सकता, क्योंकि शंकरभट्ट के द्वैतनिर्णय में विज्ञानेश्वर को निबन्धकारों में सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। स्वयं विज्ञानेश्वर, विश्वरुप, अपरार्क आदि ने लिखे तो भाष्य परन्तु उनकी कृतियां निबन्धों से किसी मात्रा में कम नहीं।[51] ऐसा इसलिए है क्योंकि भाष्य एवं निबन्ध के स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है। इसलिए इन दोनों के स्वरूप को हमें जान लेना चाहिए। भाष्य शब्द 'भाष्' धातु में 'ण्यत्' प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। इसका प्रयोग नपुंसकलिंग में होता है। **भाष्यते विवृतया वर्ण्यते इति भाष्यम्।** शब्दकल्पद्रुम में भाष्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है –

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

इस प्रकार भाष्य वह है जिसमें किसी श्लोक अथवा सूत्र का विद्वानों एवं धर्मशास्त्रों के मतों को उद्धरित करते हुए विश्लेषणात्मक अर्थ प्रस्तुत किया जाये।

निबन्ध शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। शब्दकल्पद्रुम में **'निबध्नाति इति'** निबन्ध ऐसा कहा गया है। 'नि' उपसर्ग पूर्वक बन्ध धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर निबन्ध शब्द बनता है। हेमचन्द्र के

---

[51] धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ. ६५

अनुसार '**निबन्धो नाम शब्दस्य वृत्ति।**' वाचस्पत्यम् में हेमचन्द्र ने कहा है कि निबन्ध शब्द का प्रयोग संग्रहग्रंथ भेद, रोग भेद एवं बन्धन के अर्थ में किया जाता है।[52] इस प्रकार विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रामाणिक ग्रंथों से विभिन्न प्रमाण स्वरूप वचनों को संग्रहीत कर जिस ग्रंथ की रचना की जाती है वह निबन्ध कहलाता है। निबन्ध ग्रंथों में निबन्धकारों को पर्याप्त स्वतंत्रता होती है। वे स्वेच्छापूर्वक विषयों का चयन एवं वर्णन कर सकते हैं। इसलिए व्यवहार विषय से संबंधित अनेक स्वतंत्र ग्रंथ विभिन्न निबंधकारों द्वारा लिखे गये जिनका वर्णन निम्नलिखित है –

१.३.१.व्यवहार विषयक ग्रंथ -

१.३.१.१. व्यवहारतिलक –

भवदेवभट्टकृत व्यवहारतिलक व्यवहार विषय के संबंध में एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता था। दुर्भाग्यवश अब तक इस ग्रंथ की कोई प्रति प्राप्त नहीं हो सकी है। रघुनन्दनकृत व्यवहारतत्त्व और वीरमित्रोदय नामक ग्रंथों से यह ज्ञात होता है कि व्यवहारविधि पर भवदेवभट्ट ने व्यवहारतिलक नाम से ग्रंथ की रचना की थी। इन ग्रंथों में व्यवहारतिलक से उद्धरण लिये गये हैं। रघुनन्दकृत व्यवहारतत्त्व में व्यवहारतिलक से दुर्बल कारण वाले उत्तर का एक उदाहरण दिया गया है। इसी प्रकार मिसरुमिश्र के विवादचन्द्र में, आततायी को मारने के संबंध में वीरमित्रोदय के व्यवहारप्रकाश में, सरस्वतीविलास एवं नन्दपण्डित के वैजयन्ती आदि ग्रंथों में भवदेवभट्ट के मतों का उल्लेख है।[53]

---

[52] वाच. पृ. ४०७१

[53] मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६ ई. पृ. सं. १२०

भवदेवभट्ट का उल्लेख उड़ीसा में भुवनेश्वर के अनन्तवासुदेव के मन्दिर के एक अभिलेख में प्राप्त होता है।[54] इस शिलालेख में भवदेवभट्ट के प्रशस्तिपरक श्लोक प्राप्त होते हैं। इस शिलालेख के अनुसार भवदेव सामवेद के कौथुमशाखा के अनुयायी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गोवर्द्धन था। भवदेव बंगाल के राजा हरिवर्मदेव के मंत्री और धर्माध्यक्ष थे। राजा हरिवर्मदेव के शासनकाल के आधार पर इनका समय ११वीं शताब्दी माना जा सकता है। देवणभट्ट, मिसरूमिश्र एवं हरिनाथ ने इनके मतों का उल्लेख किया है इस आधार पर भी भवदेव का काल ११वीं शताब्दी ही माना जाना चाहिए। इनके अन्य ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं। यथा – सम्बन्धविवेक, कर्मानुष्ठानपद्धति, प्रायश्चित्तनिरूपण एवं तौतातितमततिलक।

१.३.१.२ व्यवहारमातृका एवं दायभाग –

जीमूतवाहन कृत धर्मरत्न नामक बृहद् ग्रंथ के तीन अंगों में से एक अंग व्यवहारमातृका है। धर्मरत्न के अंगभूत दो अन्य ग्रंथ हैं –कालविवेक, और दायभाग। व्यवहारमातृका में व्यवहार विधियों का वर्णन किया गया है। इसमें प्रतिपादित प्रमुख विषय इस प्रकार हैं – अठारह व्यवहारपद, प्राड्विवाक शब्द की व्युत्पत्ति, प्राड्विवाक बनने योग्य पुरुष की योग्यता, विविध प्रकार के न्यायालय, सभासदों के कर्त्तव्य, व्यवहार के चार पाद, पूर्वपक्ष, प्रतिभू, उत्तर, उत्तर के चार भेद, उत्तर के दोष, क्रिया, साक्षी, लेख्य, भुक्ति, दिव्य आदि दैवी और मानुषी प्रमाण, साक्षी बनने के लिए व्यक्ति की योग्यता आदि। इस ग्रंथ में नारद, वृहस्पति,कात्यायन, मनु, व्यास, याज्ञवल्क्य, पितामह, प्रजापति, यम, लिखित, विष्णु, शंख, वृद्धशातातप, संवर्त आदि स्मृतिकारों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार भोजदेव, बालक, जितेन्द्रिय, दीक्षित, योग्लोक, श्रीकर, विश्वरूप आदि निबन्धकारों के मतों का भी उल्लेख व्यवहारमातृका में प्राप्त होता है।

---

[54] काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ७५

रघुनन्दन कृत व्यवहारतत्त्व और दायतत्त्व में व्यवहारमातृका का उल्लेख है।[55] व्यवहारमातृका एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल द्वारा आशुतोषमुखर्जी के सम्पादन में प्रकाशित है।

दायभाग जीमूतवाहन का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। रिक्थ, विभाजन, स्त्रीधन, आदि जैसे हिन्दू कानूनों पर दायभाग का विशेष प्रभाव है। बंगाल तथा उन स्थानों पर जहां मिताक्षरा का प्रभाव नहीं है, इन विषयों में दायभाग ही प्रामाणिक माना जाता है। दायभाग में १५ अध्याय हैं। इस ग्रंथ की अध्यायवार विषयवस्तु इस प्रकार है-

प्रथम अध्याय- दायभाग निरूपण, दायविभाग शब्द का अर्थ, स्वत्व की लौकिकता और अलौकिकता का विचार, विभागकाल एवं पितृधनविभागकाल।

द्वितीय अध्याय- पितामहधनविभागकाल।

तृतीय अध्याय- इसमें दो परिच्छेद हैं ।इनके विषय निम्न हैं –

प्रथम परिच्छेद – पितृपरमानन्तर भ्रातृकृत विभाग।

द्वितीय परिच्छेद – सवर्णभ्रातृ विभाग प्रकार।

चतुर्थ अध्याय- इसमें तीन परिच्छेद हैं। इनके विषय निम्न हैं-

प्रथम परिच्छेद – स्त्रीधन निरूपण ।

द्वितीय परिच्छेद – स्त्रीधन विभाग।

तृतीय परिच्छेद – अप्रजस्त्रीधन अधिकार निरूपण।

---

[55] काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ७८

पञ्चम अध्याय- विभाग अनधिकारी निरूपण।

षष्ठ अध्याय- इसमें दो परिच्छेद हैं ।इनके विषय निम्न हैं –

प्रथम परिच्छेद – विभाज्य अविभाज्य धन निरूपण।

द्वितीय परिच्छेद- विद्याधन निरूपण।

सप्तम अध्याय- विभागानन्तर जात विभाग।

अष्टम अध्याय- विभागानन्तरगत विभाग।

नवम अध्याय- एकपितृ सवर्णानुलोमपरिणीतस्त्रीजातपुत्रविभाग।

दशम अध्याय- पुत्रिकौरसविभाग।

एकादश अध्याय- इसमें छ: परिच्छेद हैं।इनके विषय निम्न हैं –

प्रथम परिच्छेद - अपुत्रधन में पत्नी का प्रथम अधिकार निरूपण।

द्वितीय परिच्छेद - पत्नी के अभाव में दुहिता और दौहित्र का अधिकार निरूपण।

तृतीय परिच्छेद - दौहित्र के अभाव में पिता के अधिकार का निरूपण।

चतुर्थ परिच्छेद - पिता के अभाव में माता के अधिकार का निरूपण।

पञ्चम परिच्छेद - माता के अभाव में भ्राता के अधिकार का निरूपण।

षष्ठ परिच्छेद - भ्राता के अभाव मेण् भ्राता के पुत्र के अधिकार का निरूपण।

द्वादश अध्याय - संसृष्टिधन विभाग।

त्रयोदश अध्याय -विभागकाल में निह्नुत का विभाग।

चतुर्दश अध्याय -वृत्तविभाग सन्देह निर्णय।

पञ्चदश अध्याय - ग्रंथनिर्माण प्रयोजन और ग्रंथनिर्माण कर्त्ता का परिचय।

दायभाग के अनेक टीकाकार हैं । जिनका वर्णन निम्नलिखित है -

१)श्री श्रीनाथ आचार्यचूडामणि – १४७५-१५५२

२) श्रीरामभद्र न्यायालंकार – विवृत्तिटीका

३)श्रीमदच्युतानन्दचक्रवर्त्ती – दायभागसिद्धांतकुमुदचन्द्रिका

४)रघुनन्दनभट्टाचार्य

५)श्रीकृष्णतर्कालंकार - दायदीपटीका

६) रामनाथविद्यावाचस्पति – दायभाग विवेक – यह टीका १८५७ में लिखी गई ।

७)श्रीमहेश्वरभट्टाचार्य

८)कृष्णकान्त शर्मा

९)उमाशंकर

१०)नीलकण्ठ

११)मणेश्वर

१२)गंगाधर

१३)सदाशिव

१४)हरिदीक्षित [56]

दायभाग अनेक बार प्रकाशित हो चुका है । प्रथम बार यह ग्रंथ भरतचन्द्र शिरोमणि द्वारा १८६३ ई. में सात टीकाओं के साथ प्रकाशित हुआ। दूसरी बार १८८० ई. में एच. टी. कोलब्रुक महोदय के सम्पादन में प्रकाशित हुआ। तीसरी बार यह ग्रंथ १८९३ई. श्रीकृष्णतर्कालङ्कार द्वारा रचित टीका के साथ जीवानन्द के द्वारा प्रकाशित किया गया था। चौथी बार १९८२ ई. में ए. सुब्रह्मण्यम् शास्त्री महोदय के सम्पादन में मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित हुआ।

व्यवहारमातृका तथा दायभाग के रचनाकार जीमूतवाहन हैं। ये बंगाल के धर्मशास्त्रकारों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। जीमूतवाहन पारिभद्र कुल में उत्पन्न राढीय ब्राह्मण थे। जीमूतवाहन के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है।११वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी के बीच में इनका समय माना जा सकता है। इनके ग्रंथों में मिताक्षर, गोविन्दराज एवं धारेश्वर भोजदेव का उल्लेख है।अत: इनका समय ११वीं शताब्दी के बाद हो सकता है।

१.३.१.३. कृत्यकल्पतरु

कृत्यकल्पतरु का प्रभाव मिथिला, बंगाल एवं सामान्यत: सम्पूर्ण उत्तर भारत में विशेषरूप से था। यह एक विशाल ग्रंथ था, किंतु सम्प्रति इसकी सम्पूर्ण प्रति सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। कृत्यकल्पतरु में चौदह काण्ड हैं। इन चौदह काण्डों में से एक व्यवहारकाण्ड भी है। सभी काण्ड गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ोदरा से प्रकाशित है। व्यवहारकाण्ड का प्रकाशन १९५३ में हुआ। यहां से प्रकाशित

---

[56]मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६ ई. पृ. सं. १३४.

व्यवहारकाण्ड में ८३४ पृष्ठ हैं। सम्पूर्ण व्यवहारकाण्ड दो भागों में विभक्त है। जिनके नाम हैं– व्यवहारमातृका और व्यवहारपद। व्यवहारमातृका में व्यवहार विधियों का वर्णन किया गया है तथा व्यवहारपद में अठारह विवादपदों का वर्णन किया गया है। व्यवहारकाण्ड में वर्णित सम्पूर्ण विषय प्रतिज्ञा नामक शीर्षक में इस प्रकार उल्लिखित है –

प्रथमं तत्र भूपस्य व्यवहारावलोकनम्।

प्राड्विवाक सभासभ्योपदेशस्तदनन्तरम्।।

लक्षणं व्यवहारस्य विचारस्य विधिस्तत: ।

भाषोत्तरं व्याकलिते कथितं दुष्टलक्षणम्।।

हीनस्य लक्षणं सन्धि:क्रियादानं तत: स्मृतम्।

क्रियापादस्तद्विषय: साक्षिणोऽसाक्षिणस्तथा।।

साक्षिप्रत्युद्धृति: साक्षिदूषण श्रावणे तथा।

(श)पथ: साक्षिणोऽप्युक्ति: साक्ष्यस्यैतत्परीक्षणम्।।

ततो नु कूटसाक्षित्वं साक्षिणां च बलाबलम्।

निगदश्चेति लिखिते लोकिकं शासनं तथा।।

पश्चात्कारादि लेख्यस्य परीक्षा तदनन्तरम्।

तदा दूषितलेख्यस्य परीक्षा च ततो बलम्।।

लेख्यस्य लेख्यदौर्बल्यं भुक्तिश्च तदनन्तरम्।

तत्रासिद्धिरभोगेन क्रमेण परिकीर्त्तिता: ।।

अन्योपभोगहानि: स्यादपवादस्तत: परम्।

निर्णयश्छिन्नभोगे स्यादुक्तेश्च परिभाषणम्।।

क्रमाद्धटाग्नितोयानां.....

लक्ष्मीधरेण कृतिना निबध्यन्ते यथाक्रमम्।।

कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड में विज्ञानेश्वर, हलायुध, प्रकाश, मेघातिथि, शंखलिखित के भाष्य एवं कामधेनु से उद्धरण लिये गये हैं। कल्पतरु की प्रसिद्धि के कारण बहुत से लेखकों ने उनके मतों का उल्लेख अपने –अपने ग्रंथों में किया है। यथा- अनिरुद्ध, रघुनन्दन, बल्लालसेन, शूलपाणि, चण्डेश्वर, हरिनाथ, श्रीदत्त आदि।

लक्ष्मीधर गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र के मंत्री थे। इनके पिता हृदयधरभट्ट राठौर राजा के प्रधानमंत्री थे। इन्होंने अपने ग्रंथ में गोपाल, मिताक्षरा एवं रामानुजभाष्य का उल्लेख किया है। इस आधार पर इनका समय ११००-११५० के बीच में माना जा सकता है।

१.३.१.४ स्मृतिचन्द्रिका

स्मृतिचन्द्रिका धर्मशास्त्र पर अत्यन्त विशाल निबन्ध ग्रंथ है। यह ग्रंथ प्रथम बार जे. आर. घारपुरे महोदय के सम्पादन में गवर्नमेण्ट ब्राञ्च प्रेस, मैसूर से १९१८ ई. में प्रकाशित हुआ। दूसरी बार यह ग्रंथ नागप्रकाशक, दिल्ली द्वारा १९८८ में प्रकाशित किया गया। यह ग्रंथ छ: काण्डों में विभक्त है। जो इस प्रकार है-

१)संस्कारकाण्ड २) आह्निककाण्ड ३)व्यवहारकाण्ड

४)श्राद्धकाण्ड ५)आशौचकाण्ड ६)प्रायश्चितकाण्ड

व्यवहारकाण्ड दो भागों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में प्रतिपादित प्रमुख विषय इस प्रकार हैं- व्यवहारस्वरूप, अष्टादशविवादपद का निरूपण, व्यवहारभेद, व्यवहारदर्शन विधि, आसेधविधि,

व्यवहारदर्शन उपक्रम, प्रतिज्ञापाद, उत्तरपाद, प्रत्याकलितपाद, क्रियापाद, लेख्यनिरूपण, लेख्यपरीक्षा, भुक्तिनिरूपण, साक्षिनिरूपण, दिव्यनिरूपण, निर्णयादिकृत्य निरूपण, पुनर्न्याय, कृतनिवर्तन आदि। द्वितीय परिच्छेद में ऋणादान, निक्षेप, संभूयसमुत्थान, दत्ताप्रदानिक आदि १८ विवादपदों का वर्णन है।[57]

स्मृतिचन्द्रिका में सौ से अधिक स्मृतियों एवं पुराणों का उल्लेख है। कात्यायन एवं वृहस्पति स्मृति से व्यवहार सम्बन्धी लगभग ६०० श्लोक उद्धरित हैं। इसी प्रकार देवस्वामी, प्रदीप, भवनाथ, मेघातिथि, मिताक्षरा, विश्वरूप, श्रीकर, अपरार्क, देवराट, शम्भु, शिवस्वामी आदि अनेक ग्रंथों, भाष्यकारों और निबन्धकारों के मतों का समर्थन, खंडन या आलोचना स्मृतिचन्द्रिका में किया गया है।[58] दक्षिण भारत के न्यायालयों में स्मृतिचन्द्रिका के व्यवहारकाण्ड को विशेष सम्मान प्राप्त है।

स्मृतिचन्द्रिका के लेखक देवणभट्ट अनेक नामों से लोक में प्रसिद्ध हैं। यथा- देवण्ण, देवण, देवगण अथवा देवनन्द। इनके पिता का नाम सोमयाजी केशवादित्य भट्ट था। इनका समय ११५०ई. से १२५०ई. के बीच माना जाता है।

१.३.१.५. विवादसार-

विवादसार हरिनाथ द्वारा रचित स्मृतिसार नामक विशाल ग्रंथ का एक अंश है। अद्यावधि इस ग्रंथ का कोई भी अंश प्रकाशित नहीं हो सका है। इस ग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियां भारत सरकारी कार्यालय देहली में सुरक्षित हैं। विवादसार का वर्ण्य विषय इस प्रकार है – दायविभाग शब्द का अर्थ, पितृधन विभाग काल, विभाग के अनधिकारी, स्त्रीधन, पुत्रभेद, अपुत्रधन ग्रहण क्रम आदि। इस ग्रंथ में

---

[57] मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६ ई. पृ. सं. १४०

[58] काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ८२

कर्मप्रदीप, कामधेनु, कल्पतरु, विज्ञानेश्वर आदि ग्रंथों अथवा ग्रंथकारों के नाम उद्धरित हैं तथा वाचस्पतिमिश्र, नीलकण्ठ, रघुनन्दन, कमलाकर तथा अन्य लेखकों ने इनका उल्लेख किया है।

स्मृतिसार से हरिनाथ के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। ग्रंथ के अन्त में उन्हें महामहोपाध्याय कहा गया है। इसके अलावा हरिनाथ ने अपने ग्रंथ में गौड़ लोगों के क्रिया – संस्कारों का उल्लेख किया है इस आधार पर काणे महोदय ने इन्हें मैथिल मान लिया है। अंत: एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इनका समय १२५०-१३०० ई. के बीच माना गया है।[59]

१.३.१.६. विवादरत्नाकर –

विवादरत्नाकर चण्डेश्वर द्वारा लिखित स्मृतिरत्नाकर नामक बृहद् धर्मशास्त्रीय ग्रंथ का एक अंश है। स्मृतिसागर सात भागों में विभक्त है। जो इस प्रकार है – कृत्यरत्नाकर, दानरत्नाकर, व्यवहाररत्नाकर, शुद्धिरत्नाकर, पूजारत्नाकर, विवादरत्नाकर, गृहस्थरत्नाकर।[60] विवादरत्नाकर निबन्ध १०० तरंगों में विभक्त है। इसमें अष्टादश विवादपदों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। हिन्दू कानूनों के सम्बन्ध में यह निबन्ध तिरहुत क्षेत्र में प्रामाणिक माना जाता रहा है। विवादरत्नाकर ग्रंथ का प्रथम बार प्रकाशन बिब्लोथिका इण्डिका सीरीज में पण्डित दीनानाथ विद्यालंकार के सम्पादन में १८८७ में हुआ।[61] तत्पश्चात्

---

[59] काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ८२

[60] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास 'धर्मद्रुम', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २०१०, पृ. सं. ८८

[61] विवादरत्नाकर, विद्यालंकार, दीनानाथ, बिब्लोथिका इण्डिका सीरीज, १८८७.

यह दूसरी बार १९३१ ई. में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता द्वारा कमलकृष्ण स्मृतितीर्थ महोदय के सम्पादन में प्रकाशित हुआ।[62]

चण्डेश्वर मिथिला के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकारों में गिने जाते हैं। ये मैथिल नरेश भवेश के शासन काल में प्रधान न्यायाधीश एवं सान्धिविग्रहिक थे। साक्ष्यों के आधार पर इनका काल १४वीं शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है। इनके पिता का नाम वीरेश्वर था।स्मृतिरत्नाकर के अतिरिक्त चण्डेश्वर ने अन्य ग्रंथ भी लिखे थे। यथा- कृत्यचिन्तामणि, राजनीतिरत्नाकर। कृत्यचिन्तामणि में ज्योतिषशास्त्र के आधार पर उत्सव संस्कार विषयों का वर्णन है और राजनीतिरत्नाकर में राज्य के शासन संचालन सम्बन्धी विषयों का वर्णन है।[63]

१.३.१.७. मदनरत्न

मदनरत्न धर्मशास्त्र से सम्बन्धित एक बृहद् निबन्ध ग्रंथ है। मदनरत्न ग्रंथ को ही मदनप्रदीप अथवा मदनरत्नप्रदीप नाम से भी जाना जाता है। यह ग्रंथ सात उद्योतों में विभक्त है। ये सात उद्योत इस प्रकार हैं–समय-आचार-व्यवहार-प्रायश्चित-दान-शुद्धि-शान्ति। मदनरत्न की हस्तलिखित प्रतियों से ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ शक्तिसिंह के पुत्र मदनसिंह के आश्रय में लिखा गया था। इस आधार पर मदनसिंह स्वयं इस ग्रंथ के रचनाकार नहीं हो सकते। मदनरत्न ग्रंथ के अनुसार मदनसिंह ने रत्नाकर, गंगाधर, विश्वनाथ एवं गोपीनाथ जैसे विद्वानों को इस ग्रंथ के प्रणयन का भार सौंपा था। शान्ति -उद्योत की एक प्रति में मदनरत्न के लेखक का नाम विश्वनाथ कहा गया है। प्रायश्चित्तोद्योत में भी ऐसा ही कहा गया है। समयोद्योत में

---

[62] विवादरत्नाकर, स्मृतितीर्थ, कमलकृष्ण,एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९३१.

[63] मिश्रा, खगेश्वर, धर्मशास्त्रस्येतिहास:, पूजा चन्दन प्रकाशन, पुरी, २००८, पृ. ११६.

दिल्ली के राजाओं में महिपालदेव का नाम आता है। मदनसिंह इन्हीं के कुल में छठीं पीढी में उत्पन्न हुए थे।[64]

मदनरत्न ग्रंथ के सातों उद्योतों में से एक व्यवहारोद्योत व्यवहार प्रक्रिया पर आधारित अत्यन्त विस्तृत निबन्ध ग्रंथ है। यह ग्रंथ बीकानेर स्थित अनुप संस्कृत पुस्तकालय से १९४८ ई . में प्रकाशित है।प्रकाशित ग्रंथ में ३४८ पृष्ठ हैं। इसमें प्रतिपादित प्रमुख विषय इस प्रकार हैं- व्यवहार स्वरूप, व्यवहारपदों के नाम, व्यवहारपदों के नियम, प्राड्विवाक, सभ्य, सभा, साधारणव्यवहारमातृका विधि तथा प्रमाण।[65]

मदनरत्न में हेमाद्रि, मिताक्षरा आदि का नामोल्लेख होने से यह कहा जा सकता है कि यह १३०० ई. के बाद ही लिखा गया होगा। नारायणभट्ट, कमलाकरभट्ट, नीलकण्ठभट्ट, मित्रमिश्र आदि जैसे १६वीं एवं १७वीं शताब्दी के निबन्धकारों ने मदनरत्न के मतों को उद्धरित किया है। इन साक्ष्यों के आधार पर काणे महोदय ने मदनरत्न ग्रंथ की रचनावधि १३५० से १५०० ई. के बीच मानी है।

१.३.१.८. विवादचन्द्र

मिसरूमिश्र रचित विवादचन्द्र मिथिला में व्यवहार से सम्बन्धित एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता रहा है। विवादचन्द्र में ऋणादान, न्यास, सम्भूयसमुत्थान दायभाग आदि अष्टादश विवादपदों का वर्णन है। इसके साथ इसमें साधारणव्यवहारमातृका, सभ्य, साक्षि, प्राड्विवाक प्रमाणादि विषयों का भी वर्णन किया गया है। मिसरूमिश्र ने न्याय-वैशेषिक मत से सम्बन्धित एक अन्य ग्रंथ पदार्थचन्द्रिका की भी रचना

---

[64] काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ८७.

[65] मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६ ई. पृ. सं. १५७.

की थी। चण्डेश्वरठाकुर कृत रत्नाकर के मतों का उल्लेख विवादचन्द्र में अनेक बार किया गया है। इन्होंने स्मृतिसार, पारिजात, भवदेव एवं प्रकाश आदि का उल्लेख भी अपने ग्रंथ में किया है। मिसरूमिश्र ने कामेश्वरवंश के भैरवसिंहदेव के अनुज कुमार चन्द्रसिंह की स्त्री राजकुमारी लछिमादेवी की आज्ञा से अपने ग्रंथों की रचना की थी।[66] राजाओं की वंशावली में चन्द्रसिंह भवेश के प्रपौत्र बताये गये हैं।[67] चण्डेश्वर ने राजा भवेश के आश्रय में सन् १३१४ में राजनीति पर एक ग्रंथ लिखा था। लछिमादेवी इन्हीं भवेश के प्रपौत्र की पत्नी थीं। सक्ष्यों के आधार पर चन्द्रसिंह का विवाहकाल १४५० ई.के लगभग निर्धारित किया जाता है। अत: मिसरूमिश्र के विवादचन्द्र का समय १५वीं शताब्दी का मध्य माना जा सकता है।

१.३.१.९. व्यवहारचिन्तामणि एवं विवादचिन्तामणि

धर्मनिबन्धकारों में वाचस्पति मिश्र अग्रणी हैं। मिथिला में वाचस्पति मिश्र नाम के दो विद्वान् हुए थे। एक वाचस्पति मिश्र महान् नैयायिक थे। ये वैदिक एवं बौद्ध दार्शनिकों की वाद -परम्परा की उपज माने जाते हैं। इन्होंने बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मकीर्ति के मतों का खण्डन करने एवं न्याय दर्शन के मतों की स्थापना करने के लिए 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' नामक महान् ग्रंथ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य ग्रंथों की भी रचना की थी। यथा- सांख्यकारिका पर सांख्यतत्वकौमुदी टीका, वेदान्त दर्शन के ग्रंथ शांकरभाष्य पर भामती टीका, योगदर्शन के व्यास भाष्य पर तत्त्ववैशारदी आदि। इनका समय ८९८ ई. स्वीकार किया जाता है।

---

[66] काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ८८-८९.

[67] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास 'धर्मद्रुम', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २०१०, पृ. सं. ९४-९५.

दूसरे वाचस्पति मिश्र मिथिला अलंकारभूत, विद्वानों में अग्रणी वाचस्पति, स्मार्त वाचस्पति, अभिनव वाचस्पति, धर्मशास्त्र वाचस्पति नामक अनेक संज्ञाओं से लोक में प्रसिद्ध हैं। ये पल्लीवार मैथिल ब्राहमण थे। इनके पिता का नाम गिरपति मिश्र था। वाचस्पति मिश्र के चार पुत्र थे- वेणीनाथ, रघुनाथ, नरहरि और लक्ष्मीनाथ। ये गुरुपद एवं महामहोपाध्याय पद से अलंकृत थे ऐसा पञ्जीप्रबन्ध नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है। वाचस्पति मिश्र कामेश्वरवंश के महाराजाधिराज भैरवसिंह हरिनारायण और उनके पुत्र रूपनारायण के सभापति थे। शंकरमिश्र, पक्षधरमिश्र, रुचिदत्त, वर्धमान आदि इनके समसामयिक विद्वान थे । इन्होंने अपने ग्रंथों में चण्डेश्वर, रत्नाकर, हलायुध, भवदेव आदि धर्मशास्त्रकारों को उद्धृत किया है। वाचस्पति के मतों का उल्लेख गोविन्दानन्द, रघुनन्दन आदि विद्वानों ने किया है। अत: विद्वानों द्वारा इनका समय १४२० ई. से १४९०ई. तक स्वीकार किया जाता है।

वाचस्पतिमिश्र की अनेक कृतियां उपलब्ध होती हैं । इन्होंने धर्मशास्त्र पर तीस निबंध तथा अनुमानखण्डटीका तथा चिन्तामणिप्रकाश आदि दश ग्रंथ न्याय शास्त्र पर लिखे थे। उनमें बारह ग्रंथ चिन्तामणि संज्ञक, पांच ग्रंथ निर्णय संज्ञक और सात महार्णव संज्ञक हैं । जैसाकि इन्होंने पितृभक्तितरंगिणी नामक अपने निबंध में स्वयं कहा है-

शास्त्रे दश स्मृतौ त्रिंशन्निबन्धा येन यौवने ।

निर्मितास्तेन चरमे वयस्येष विनिर्ममे ॥

ग्रंथों का नाम इस प्रकार है -

i. आचारचिन्तामणि - इसमें वाजसनेयी सम्प्रदाय के आह्निक कृत्यों का वर्णन किया गया है। आचारचिन्तामणि कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा १९८३ में प्रकाशित है।

ii. आह्निकचिन्तामणि

iii. शुद्धिचिन्तामणि – यह १८९२ में प्रथम बार बनारस से एवं १८९२ ई. में द्वितीय बार कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विद्यालय द्वारा १९७५ में प्रकाशित है।

iv. कृत्यचिन्तामणि - इसमें सम्पूर्ण वर्ष के उत्सवों का वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ वाराणसी से १८९२ में प्रकाशित है ।

v. तिथिचिन्तामणि

vi. द्वैतचिन्तामणि

vii. नीतिचिन्तामणि

viii. विवादचिन्तामणि - विवादचिन्तामणि प्रथम बार १८३७ में कल्कत्ता से एवं द्वितीय बार वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे द्वारा १८९८ में प्रकाशित हुई है। और तीसरी बार १९४२ में गंगानाथ झा कृत अंगरेजी अनुवाद के साथ गायकवाड़ सीरीज वडोदरा द्वारा प्रकाशित है।

ix. श्राद्धचिन्तामणि

x. तीर्थचिन्तामणि - इसमें प्रयाग, पुरुषोत्तम (पुरी) गंगा, गया और वाराणसी नगरों के प्रमुख तीर्थों का वर्णन प्राप्त होता है। यह ग्रंथ बी. आई सीरीज में प्रकाशित हो चुका है।

xi. सम्बन्धचिन्तामणि

xii. व्यवहारचिन्तामणि – इसमें व्यवहार विधि का वर्णन किया गया है। व्यवहारचिन्तामणि का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद रोचर लूडो द्वारा १९५६ में प्रकाशित किया गया है। इसका एक मूल संस्करण कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा द्वारा १९८५ में प्रकाशित है।

xiii. द्वैतनिर्णय – यह ग्रंथ शास्त्रमाला सीरीज में १९३७-३८ ई. में प्रकाशित है।

xiv. महादाननिर्णय

xv. विवादनिर्णय

xvi. तिथिनिर्णय

xvii. शुद्धिनिर्णय

xviii. आचारमहार्णव

xix. कृत्यमहार्णव

xx. व्यवहारमहार्णव

xxi. दानमहार्णव

xxii. शुद्धिमहार्णव

xxiii. पितृयज्ञमहार्णव

xxiv. श्राद्धमहार्णव

इसके अतिरिक्त इनके अन्य ग्रंथ भी हैं –

i. गयाश्राद्धपद्धति

ii. दत्तकविधि

iii. कृत्यप्रदीप - कृत्यप्रदीप कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा द्वारा १९८४ में प्रकाशित है।

iv. शूद्राचारचिन्तामणि - १८९२ में बनारस से प्रकाशित है।

v. पितृभक्तितरंगिणी

vi. श्राद्धकल्प

धर्मशास्त्र के अतिरिक्त भी इनकी कृतियां हैं –

i. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर भामती टीका

ii. योगसूत्रवृत्ति

iii. न्यायशुद्धिनिबन्ध आदि।[68]

१.३.१.१०. नृसिंहप्रसाद

नृसिंहप्रसाद धर्मशास्त्र सम्बन्धी एक निबन्ध ग्रंथ है। यह बारह सारों में विभक्त है। इस ग्रंथ के प्रत्येक सार के अन्त में भगवान् नृसिंह की प्रार्थना की गई है सम्भव है इस कारण ही इस ग्रंथ का नाम नृसिंहप्रसाद रखा गया हो। बारह सारों के नाम इस प्रकार है– संस्कारसार-आह्निकसार-श्राद्धसार-कालसार-व्यवहारसार-प्रायश्चितसार-कर्मविपाकसार-व्रतसार-दानसार-शान्तिसार-तीर्थसार-प्रतिष्ठासार। धर्मशास्त्र सम्बन्धी इन १२ विषयों पर अत्यन्त विस्तृत सामग्री प्राप्त होने के कारण यह ग्रंथ धर्मशास्त्र का विश्वकोश भी कहा जाता है। यह ग्रंथ सम्प्रति पूर्ण रूप में कहीं से प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके सम्पूर्ण खण्ड सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वतीभवन में संरक्षित हैं। व्यवहारसार में प्रतिपादित प्रमुख विषय इस प्रकार हैं – व्यवहार शब्द का अर्थ, अष्टादशविवादपद, व्यवहार के चतुष्पाद, प्रमाण आदि।[69]

---

[68] मिश्र:, जयकृष्ण, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम भाग:, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, २०१०, पृ. सं. १६६ -१६९ और काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ.सं. ८९.

[69] मिश्र:, जयकृष्ण, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम भाग:, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, २०१०, पृ. सं. १७०- १७३

नृसिंहप्रसाद ग्रंथ के लेखक के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। संस्कारसार के अन्त में इसके लेखक ने स्वयं को याज्ञवल्क्यीय शाखा के भारद्वाजगोत्रीय बल्लभपुत्र दलपति या दलाधीश एवं नेबजन या राजकीय लेख-रक्षक कहा है।[70] सम्भव है दलपति या दलाधीश लेखक का नाम रहा हो। संस्कारसार में देवगिरि के राम राजा, दिल्ली के राजा शामवित् तथा निजामशाह के नाम क्रमानुसार प्राप्त होते हैं। नृसिंहप्रसाद में बहुत से धर्मनिबन्धग्रंथों एवं ग्रंथकारों के नाम प्राप्त होते हैं। इसमें विश्वेश्वरभट्टकृत मदनपारिजात और माधवाचार्यकृत पराशरमाधवीय से अधिक उद्धरण प्राप्त होते हैं। विश्वेश्वरभट्ट एवं माधवाचार्य १४वीं शताब्दी के निबन्धकार माने जाते हैं। इस आधार पर यह तर्कसंगत प्रतीत होता है कि नृसिंहप्रसाद की रचना १४वीं शताब्दी के बाद हुई होगी। शंकरभट्ट एवं नीलकण्ठभट्ट ने अपनी रचनाओं इस ग्रंथ को प्रामाणिक मानकर उद्धरण ग्रहण किये हैं। विद्वानों के अनुसार इस ग्रंथ की रचना १५१२ ई. के बाद नहीं हो सकती।

१.३.१.११. सरस्वतीविलास -

दक्षिण भारत में मिताक्षरा के बाद प्रतापरुद्रदेव के सरस्वतीविलास को महत्त्व प्राप्त है। सम्पूर्ण सरस्वतीविलास मैसूर गवर्नमेण्ट ब्राञ्च प्रेस द्वारा १९२७ ई. में प्रकाशित है। इसमें ५०३ पृष्ठों का अत्यन्त विशाल ग्रंथ है। इस ग्रंथ का दायभाग नामक अंश अंग्रेजी अनुवाद के साथ थमासफैल के द्वारा १८८१ में प्रकाशित है। प्रतापरुद्रदेव उड़ीसा में कटक नगर के गजपति कुल के राजा थे।

१.३.१.१२. तोडरानन्द –

[70] काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ.सं. ८९-९०

टोडरमल्ल का जन्म अवध मण्डलान्तर्गत लहरपुर ग्राम के एक खत्री परिवार में हुआ था। इनका अपर नाम टोडरमल्ल था। भगवतीदास इनके पिता तथा द्विजमल्ल इनके पितामह थे। अपनी योग्यता के बल पर इन्होंने मुगल वंश के सम्राट अकबर के वित्त मंत्री पद को प्राप्त किया था। ये प्रसिद्ध विद्वान, राजनीतिज्ञ, मंत्री एवं कुशल सेनापति थे। इनके दो पुत्र हुए- गोवर्द्धन और कल्याण। विद्वानों द्वारा इनका स्थितिकाल १५०० - १५८९ ई. के बीच माना जाता है।

टोडरानन्द ने धर्म, व्यवहार, शान्ति, प्रायश्चित आदि विषयों पर तोडरानन्द नामक एक विशाल ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रंथ कई खण्डों में विभक्त है। इन खण्डों को सौख्य कहा गया है। इसमें २२ सौख्य हैं। प्रत्येक सौख्य भी अनेक विभागों में विभक्त है। बाईस सौख्यों के नाम निम्न है –

१) आचारसौख्य २)शुद्धिसौख्य ३) श्राद्धसौख्य ४)वर्षकृत्यसौख्य

५)व्रतसौख्य ६)प्रतिष्ठासौख्य ७)पूजासौख्य ८)दैवतासौख्य

९)दानसौख्य १०)ग्राहयागसौख्य ११)शान्तिसौख्य १२)तीर्थसौख्य

१३)विवाहसौख्य **१४)व्यवहारसौख्य** १५)राजनीतिसौख्य १६)प्रायश्चित्तसौख्य

१७)कर्मविपाकसौख्य १८)आयुर्वेदसौख्य १९)होरासौख्य २०)गणितसौख्य

२१)संस्कारसौख्य २२)कालनिर्णयसौख्य।

इनमें से व्यवहारसौख्य शिव की उपासना से प्रारम्भ होकर अकबर के बारे में बताता हुआ व्यवहार-विधि के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालता है। इसमें प्रतिपादित विषय इस प्रकार है – राजा का कर्त्तव्य, सभा, प्राड्विवाक, 'व्यवहार' शब्द का अर्थ, अठारह व्यवहारपदों की गणना, व्यवहार के लिए समय एवं स्थान, भाषा, उत्तर, प्रतिनिधि, प्रत्याकलित आदि।

तोडरानन्द ग्रंथ में अनेक स्मृतियों तथा विभिन्न ग्रंथों एवं ग्रंथकारों के नाम स्मृत हैं। यथा – कल्पतरु, पारिजात, हरिहर, मिताक्षरा, रत्नाकर, हलायुध आदि।

१.३.१.१३. स्मृतितत्त्व –

रघुनन्दन ने २८ तत्त्वों वाला स्मृतितत्त्व नामक धर्मशास्त्र सम्बन्धी बृहद् ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ में ३०० लेखकों एवं लेखकों के नाम उद्धरित हैं। यह ग्रंथ प्रथम बार बंग लिपि में १८३४-३५ में बंगाल के श्रीरामपुर प्रान्त से छपी थी। इसके बाद जीवानन्द संग्रह में १८९५ में दूसरी बार प्रकाशित हुई। स्मृतितत्त्व के अतिरिक्त रघुनन्दन ने अन्य ग्रंथ भी लिखे थे। दायभाग पर इनका एक भाष्य भी है। तीर्थतत्त्व, द्वादशयात्रातत्त्व, त्रिपुष्करशान्तत्त्व, गयाश्राद्धपद्धति, रासयात्रापद्धति आदि इनके अन्य ग्रंथ हैं।

रघुनन्दन भट्टाचार्य बंगीय धर्मनिबन्ध सम्प्रदाय के अन्तिम शिरोमणिभूत धर्मनिबन्धकार हैं। ये सामवेदानुयायी थे। इनका जन्म बन्धघटीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। हरिहर भट्टाचार्य इनके पिता तथा गुरू आचार्यचूडामणि था इनके गुरु थे। परम्परा में प्रचलित एक किंवदन्ती के अनुसार वैष्णव सन्त चैतन्य महाप्रभु तथा रघुनन्दन दोनों वासुदेव सार्वभौम के शिष्य थे।[71]

१.३.१.१४. विवादताण्डव एवं विवादरत्न –

कमलाकरभट्टकृत शान्तिरत्न नामक निबन्धग्रंथ के अन्तिम श्लोक से इनके द्वारा रचित बाईस ग्रंथों की जानकारी प्राप्त होती है। विवादताण्डव के अनुसार इन्होंने इसके अतिरिक्त बीस अन्य ग्रंथों की भी

---

[71] मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६ ई. पृ. सं. १८८

रचना की थी परंतु काणे महोदय ने विवादताण्डव का ही उल्लेख किया है विवादरत्न का नहीं। विवादरत्न का उल्लेख जयकृष्ण मिश्र के धर्मशास्त्रस्येतिहास: में मिलता है। कमलाकरभट्ट धर्मनिबन्धकारों की महाराष्ट्रीय शाखा से सम्बन्धित हैं। ये नारायणभट्ट के पौत्र और रामकृष्ण भट्ट के मध्यम पुत्र थे। इनकी माता का नाम उमा था। कमलाकरभट्ट को तर्क- न्याय- व्याकरण –मीमांसा-वेदान्त-साहित्य-धर्मशास्त्र-वैदिकशास्त्र आदि में निपुणता प्राप्त थी।

१.३.१.१५.व्यवहारनिर्णय –

वरदराज ने व्यवहारशास्त्र पर व्यवहारनिर्णय निबन्ध की रचना की है। व्यवहारनिर्णय निबन्ध अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से ए. एन. कृष्णा आयंगर द्वारा १९४२ में प्रकाशित है। इसमें तेरह काण्ड हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

प्रथमकाण्ड – व्यवहारपरिकरकाण्ड (व्यवहारोत्पत्ति, राज्ञा व्यवहारविधि, सभासद्, सभास्थान, व्यवहारदर्शनकाल, सभ्यलक्षण, सभालक्षण, चतुर्विध सभा, चतुर्विध सभाओं के लक्षण, गणकलेखकलक्षण, कुलश्रेणिगणादि व्यवहारदर्शनमार्ग, नैगमपूगगणव्रजपुञ्जगुल्मश्रेण्यादि लक्षण और इनके व्यवहारदर्शन की विधि, गौतमके मत में धर्मव्यवस्था)

द्वितीयकाण्ड – आवेदनकाण्ड

तृतीयकाण्ड – व्यवहारमातृकाकाण्ड

चतुर्थकाण्ड – मानुषप्रमाणकाण्ड

पञ्चमकाण्ड – दिव्यप्रमाणकाण्ड

षण्ठकाण्ड – मानसंग्रह

सप्तमकाण्ड – ऋणादानकाण्ड

अष्टमकाण्ड- निक्षेपकाण्ड

नवमकाण्ड- अस्वामिविक्रयकाण्ड

दशमकाण्ड – सम्भूयसमुत्थानादिदशपदकाण्ड

एकादशकाण्ड – दायविभागकाण्ड

द्वादशकाण्ड – द्यूतसमाह्वयादिषद्कदकाण्ड

त्रयोदशकाण्ड – प्रकीर्णककाण्ड

आचार्यवरदराज दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इनका जन्मस्थान तमिलनाडु का आर्कट नामक स्थान है। व्यवहारनिर्णय के एक ताडपत्रमातृका से ज्ञात होता है कि वरदराज का निवासस्थान विष्णुकांची मार्ग से प्रवाहित होने वाली वेगवती नदी के किनारे था। इनके पिता का नाम रङ्गराज, पितामह का नाम देवराज और प्रपितामाह का नाम प्रणतार्तिहर था। इनके गुरूसुदर्शनाचार्य थे। वरदराज धर्मशास्त्र- मीमांसा- न्यायादि के प्रकाण्ड विद्वान् थे। व्यवहारनिर्णय के अतिरिक्त वरदराज ने कामन्दकीय नीतिसार पर नयप्रकाशटीका, भवनाथकृत न्यायविवेक ग्रंथ पर मीमांसान्यायविवेकदीपिका व्याख्या, रामानुजकृत श्रीभाष्य पर श्रौतप्रकाशिका व्याख्या की भी रचना की है। संस्कृत जगत् में वरदराज व्याकरणाचार्य के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। इनका परिचय लघुसिद्धान्तकौमुदीकार के रूप में ही दिया जाता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने व्याकरणशास्त्र पर मध्यसिद्धान्तकौमुदी भी लिखी है। इनके समय के विषय में यद्यपि कोई सुदृढ

प्रमाण विद्यमान नहीं है तथापि भारतरत्न काणे महोदय ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखा है कि वरदराजकृत व्यवहारनिर्णय ११५० में विद्यमान था। व्यवहारनिर्णय के सम्पादक ए. एन. आयंगर ने वरदराज का परिचय देते समय उनका समय ११५० – १२५० के मध्य माना है।[72]

१.३.१.१६. व्यवहारमयूख, दत्तकनिर्णय एवं व्यवहारतत्त्व –

नीलकण्ठ ने भरेह नामक स्थान के सेंगरवंशी बुन्देल सरदार भगवन्तदेव की पृष्ठपोषकता में भगवन्तभास्कर नामक विशाल निबन्ध ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ बारह मयूखों में विभक्त है। यथा – संस्कार, आचार, काल, श्राद्ध, व्यवहार, दान, उत्सर्ग, प्रतिष्ठा, प्रायश्चित, शुद्धि एवं शान्ति। भरेह यमुना और चम्बल के संगम पर स्थित है। व्यवहारमयूख पश्चिम भारत के हिन्दू कानूनों के लिए एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। इसमें निम्न विषयों का वर्णन है – व्यवहारलक्षण, व्यवहारमातृका, प्रमाण, लेख्य, भुक्ति, साक्षी, दिव्य, आधिकारीव्यवस्था, सर्वदिव्य साधारणविधि, (घट, अग्नि, जल, विष, कोश, तण्डुल, तप्तमाष, फाल एवं धर्मज दिव्य) शपथ स्वत्वनिरूपण, दाय, दायविभाग, विभागकाल, दत्तकप्रकरण, पुत्रदानप्रतिग्रहविधि, संसृष्टिनिर्णय, स्त्रीधन, ऋणादान, आधिविधि, प्रतिभू, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, संभूयसमुत्थान, दत्ताप्रदानिक, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, वेतनादान, संविद्व्यतिक्रम, क्रीतानुशय, विक्रीयासंप्रदान, स्वामिपालविवाद, सीमाविवाद, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेय, साहस, स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुंधर्म, द्यूतसमाह्वय एवं प्रकीर्णक।[73] व्यवहारमयूख का अंग्रेजी अनुवाद भारतरत्न पी.वी. काणे द्वारा विस्तृत भूमिका के साथ १९३३ में प्रकाशित है।

---

[72] मिश्रा, खगेश्वर, धर्मशास्त्रस्येतिहासः, पूजा चन्दन प्रकाशन, पुरी, २००८ पृ. १४४-१५०

[73] व्यवहारमयूखः, पी. वी. काणे, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, पुनर्प्रकाशित २००९.

व्यवहारतत्त्व व्यवहारमयूख का संक्षिप्त संस्करण है। नीलकण्ठभट्ट कृत एक अन्य ग्रंथ दत्तकनिर्णय का उल्लेख प्रो. जयकृष्णमिश्र ने अपने 'धर्मशास्त्रस्येतिहास:' में किया है।[74]

नीलकण्ठभट्ट महाराष्ट्रीय धर्मनिबन्धकारों में अन्यतम हैं। नारायणभट्ट के पुत्र शंकरभट्ट के कनिष्ठ पुत्र का नाम नीलकण्ठ था। कमलाकरभट्ट इनके चचेरे भाई थे।नीलकण्ठ मूलत: मीमांसा के विद्वान् थे। मीमांसाशास्त्र पर इन्होंने शास्त्रदीपिका, बालप्रकाश, विधिरसायनदूषण नामक ग्रंथों की रचना की है। इनके द्वारा अन्य ग्रंथों की भी रचना की गई है। यथा – सर्वधर्मप्रकाश, द्वैतनिर्णय। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि बुन्देल सरदार भगवन्तदेव इनके आश्रयदाता थे। व्यवहारमयूख के संक्षिप्त संस्करण व्यवहारतत्त्व की एक प्रतिलिपि पर १६४४ ई, की तिथि अंकित है। इन सब प्रमाणों के आधार पर इनका रचना-काल काणे महोदय ने १६१० से १६४५ के मध्य माना है।[75]

१.३.१.१७. व्यवहारप्रकाश –

मित्रमिश्र द्वारा रचित वीरमित्रोदय धर्माशास्त्र के लगभग सभी विषयों को समाहित करने वाला एक बृहद् निबन्ध ग्रंथ है। वीरमित्रोदय बाईस खंडों में विभक्त है। इसके खंडों को प्रकाश कहा जाता है। व्यवहार पर भी इसमें एक प्रकाश है। व्यवहारप्रकाश में मित्रमिश्र ने अपने पूर्व के लेखकों के मतों को उद्धरित किया है। हिन्दू कानून की बनारसी शाखा में वीरमित्रोदय के व्यवहारप्रकाश का विशेष महत्त्व है। मित्रमिश्र ने इस ग्रंथ का प्रणयन ओरछा नरेश वीरसिंह के आदेश पर किया था। व्यवहारप्रकाश में मित्रमिश्र ने व्यवहारविधि और अष्टादश विवादपदों का विशद विवेचन किया है। यह निबन्ध ग्रंथ चौखम्बा

---

[74]मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६ ई. पृ. सं. १८८

[75] काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ९४.

संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी द्वारा पण्डित विष्णु प्रसाद भण्डारी के सम्पादन में १९८७ में प्रकाशित है। वीरमित्रोदय ग्रंथ की उपक्रमणिका में मित्रमिश्र ने अपना परिचय दिया है । इसके आधार पर ये ग्वालियर मण्डल के अन्तर्गत 'गोपाचल' नामक ग्राम के निवासी परशुराम पण्डित के पुत्र थे। इनके पितामह का नाम हंसपण्डित था। ओरछा नरेश वीरसिंह का शासनकाल १६०५ से १६२७ तक था। इसके आधार पर मित्रमिश्र का रचनाकाल १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।[76]

१.३.१.१८. व्यवहारनिर्णय –

विश्वम्भरत्रिवेदी ने भीममल्ल के पुत्र नारायणमल्ल की आज्ञा से स्मृतिसारोद्धार नामक ग्रंथ की रचना की थी ऐसा इनके स्वरचित ग्रंथ स्मृतिसारोद्धार से ज्ञात होता है -

अमुं चक्रनारायणीयं निबन्धोत्तमं भीममल्लक्षितीशात्मजस्य।

व्यधान्मल्लनारायणक्षोणिभर्त्तुस्त्रिवेदी निदेशेन विश्वम्भराख्य:।।[77]

यह स्मृतिसारोद्धार ग्रंथ बारह उद्धारों में विभक्त है।इसमें से एक उद्धार व्यवहारनिर्णय भी है। खगेश्वरमिश्र ने विश्वम्भरत्रिवेदी को विश्वम्भरदीक्षित कहा है।[78] नारायणमल्ल १६०० से १६५० ई. तक विद्यमान थे। अत: इनका भी यही समय रहा होगा। यह निबन्ध ग्रंथ चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस द्वारा १९९१ ई. में प्रकाशित है।

---

[76] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास 'धर्मद्रुम', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २०१०, पृ. सं. १०४.

[77] स्मृतिसारोद्धार:, श्रीविश्वम्भरदीक्षित: चौखम्बा – संस्कृत - बुकडिपो, बनारस, १९९१

[78] मिश्रा, खगेश्वर, धर्मशास्त्रस्येतिहास:, पूजा चन्दन प्रकाशन, पुरी, २००८ पृ. १६३

१.३.१.१९. दायभागनिर्णय एवं विवादनिर्णय –

गोपालन्यायपञ्चाननभट्टाचार्य ने धर्मशास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे थे। दायभागनिर्णय एवं विवादनिर्णय भी उन्हीं में एक से हैं। इन ग्रंथों के विषय में अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। श्रीगोपालभट्टाचार्य बंगीयधर्मनिबन्धकारों के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। ये नदिया मण्डल के नवद्वीप नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। ये नवद्वीप के राजा श्रीकृष्णचन्द्र की सभा में सभापण्डित थे। श्रीकृष्णचन्द्र राजा के शासनकाल के आधार पर गोपालभट्टाचार्य का समय १८वीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है। न्यायशास्त्र में प्रगाढ पाण्डित्य के कारण इन्हें न्यायपञ्चानन की उपाधि से विभूषित किया गया था।[79]

१.३.१.२०. विवादभंगार्णव –

विवादभंगार्णव ग्रंथ की रचना जगन्नाथतर्कपञ्चानन ने सर विलियम जोंस के आग्रह पर किया था। इसका अनुवाद कोलब्रुक द्वारा १७९६ ई. में किया गया तथा इसका प्रकाशन १७९७ ई. में हुआ। इस निबन्ध का विभाजन द्वीपों में किया गया है तथा प्रत्येक द्वीप रत्नों में विभक्त है। विवादभंगार्णव निबन्ध बंगाल में प्रामाणिक व्यवहार ग्रंथ माना जाता है।[80]

बंगीय धर्मनिबन्धकारों में जगन्नाथ अन्यतम हैं। इनके पिता रुद्र तर्कवागीश संस्कृत के उद्भट विद्वान थे।जगन्नाथ की मृत्यु १८०६ई. में १११ वर्ष की अवस्था में हुई।

---

[79]मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६ ई. पृ. सं. १४०

[80] काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ९७

१.३.१.२१. विवादसारार्णव –

सर्वोरुशर्मा ने विवादसारार्णव की रचना सर विलियम जोंस के संरक्षण में १७८७ ई. में की गई थी। यह ग्रंथ नव तरंगों (खंड) में विभक्त है। इसके लेखक सर्वोरुशर्मा धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा के उद्भट विद्वान् थे।

इस प्रकार धर्मशास्त्रों में विवाद अर्थात् व्यवहार शब्द मनुष्यों के झगड़ों को दूर करने तथा धर्म की स्थापना करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। स्मृतिकारों ने विवाद के प्रकार भिन्न-भिन्न बताये हैं तथा उनका विभाजन भी भिन्न प्रकार से ही किया है। यहां एक तथ्य ध्यातव्य है कि कहीं व्यवहार शब्द का प्रयोग न्याय विधि के अर्थ मेंप्रयुक्त हुआ है। जैसे जीमूतवाहनकृत व्यवहारमातृका, रघुनन्दनकृत व्यवहारतत्त्व, वाचस्पतिमिश्र कृत व्यवहारचिन्तामणि, तथा विवाद शब्द का अर्थ झगड़ा किया गया है जैसे वाचस्पतिमिश्रकृत विवादचिन्तामणि। मिसरूमिश्र के विवादचन्द्र तथा कमलाकर के विवादताण्डव तथा व्यवहारनिर्णय, व्यवहारप्रकाश, व्यवहारमयूख आदि ग्रंथों में व्यवहार शब्द न्याय विधि एवं झगड़े दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

द्वितीय अध्याय

ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, संभूयसमुत्थान तथा दत्ताप्रदानिक

विवादपदों की विवेचना

द्वितीय अध्याय -

ऋणादान, निक्षेप,अस्वामिविक्रय, संभूयसमुत्थान तथा दत्ताप्रदानिक

विवादपदों की विवेचना

२.१.ऋणादान –

अष्टादश विवादपदों में ऋणादान प्रथम विवादपद है। ऋणादान के संबंध में आपस्तम्ब[1] का मत है कि पहले देवर्षि और पितर मनुष्यों के साथ निवास करने लगे। कालक्रम से देवगणों ने शुभ कर्म करते हुए स्वर्ग में निवास प्राप्त किया, परंतु मनुष्यगण इस लोक में ही रह गये। देवताओं के साथ निवास करने के लिए मनुष्य उनकी पूजा करने लगे साथ ही पितरों के साथ मिलने के लिए उनमें श्रद्धा रखने लगे। जब मनुष्यगण इनके साथ निवास करते थे तब उनके बीच में आदान-प्रदान होता रहा होगा। इस कारण से ऋणादान विषय उत्पन्न हुआ होगा।[2] वेदों एवं स्मृतियों में ऋण शब्द का बहुश: उल्लेख प्राप्त होता है। ऋण शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। यथा – ऋग्वेद में दो स्थानों पर अधिकांश व्यक्तियों के जुआं खेलने के कारण ऋणग्रस्त होने का वर्णन प्राप्त होता है।[3] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि जुआरी रात्रि में छिपकर अन्य लोगों के घर धन उधार लेने के लिए जाता है।[4] एक मंत्र में ऋषि कहते हैं कि जिस

---

[1] आप. ध. सू. २,१६.१.४.

[2] Shastry, H.C.: *Law of Dedt in Ancient India*

[3] ऋग्वेद, २/२७/४,

[4] ऋग्वेद, १०/३४/१०

प्रकार हम दूसरों का ऋण चुकाते हैं उसी प्रकार हमें बुरे स्वप्नों के प्रभावों को दूर भगाना चाहिए।[5] ऋग्वेद में 'ऋणं सन्नयामासि' शब्द आया है। *ऐतरेय ब्राह्मण* में भी 'सन्नयति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी वेद में पणियों के लिए 'बेकनाट' शब्द का प्रयोग किया गया है[6] *यास्क* ने बेकनाट शब्द का अर्थ 'कुसीदिन' किया है जो अपने धन को दोगुना करने के लिए अहर्निश प्रयत्न करते थे।[7] *अथर्ववेद*[8] और *तैत्तिरीय ब्राह्मण*[9] में इहलोक, परलोक एवं देवलोक के ऋणों से मुक्त होने का उल्लेख है। *तैत्तिरीय संहिता*[10] में 'कुसीद' शब्द आया है। स्मृतियों में यह शब्द 'ऋण देने वाले' या 'ब्याज पर आपसी विनिमय करने वाले' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के एक मंत्र में 'प्रमगन्द' शब्द प्रयुक्त है यास्क ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है 'वह जो अति सूदखोर कुल में उत्पन्न हुआ हो'।[11] *ऋग्वेद* में ही ब्रह्मणस्पति को 'ऋण लौटा देने वाला' (ऋणमादधि)[12] कहकर पुकारा गया है, साथ ही आदित्यों को 'ऋण एकत्रित करने वाले'[13] के रूप में उद्धृत

---

[5] ऋग्वेद ८/४७/१७

[6] इन्द्रो विश्वान बेकनाटां अहर्दृश उत ऋत्वा पणींरभि। - ऋग्वेद ८/६६/१०

[7] बेकनाटा: खलु कुसीदिनो भवन्ति।द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्त इति वा।। - निरुक्त ६/२६

[8] अथर्ववेद ६/११७/३.

[9] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/७/९/८

[10] तैत्तिरीय संहिता ३/३/८/१-२

[11]मगन्द: कुसीदी मागन्दो मामागमिष्यतीति ददाति तदपत्यं प्रमगन्द: अत्यन्तं कुसीदिकुलीन:।। -निरुक्त ६/३२

[12] ऋग्वेद २/२४/१३

[13] ऋग्वेद २/२७/४

किया गया है। अष्टाध्यायी में 'कुसीदिक' एवं 'कुसीदिकी,'[14] 'उत्तमर्ण,'[15] 'अधमर्ण',[16]'प्रतिभू',[17]'वृद्धि'[18] आदि शब्द आये हैं।

इस प्रकार इन उद्धरणों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में ऋण की अवधारणा स्थापित हो चुकी थी। वैदिक ग्रंथों में ऋणों के रूप में देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें क्रमश: यज्ञ, अध्ययन-अध्यापन एवं पुत्रोत्पत्ति से चुकाया जा सकता है। महाभारत के आदिपर्व में इन तीन ऋणों के अतिरिक्त चतुर्थ प्रकार के ऋण 'मानव ऋण' का उल्लेख मिलता है जो सभी के प्रति दयाभाव रखने से सम्बन्धित है-

ऋणैश्चतुर्भि:संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि।

पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मत: ।।

यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन्।

पुत्रै: श्राद्धै: पितृंश्चापि आनृशंस्येन मानवान्।। [19]

अनुशासनपर्व में एक नवीन ऋण 'अतिथिऋण' की चर्चा प्राप्त होती है।

ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणां च तथैव च।

पितृणामथ विप्राणामतिथीनां च पञ्चकम्।[20]

---

[14] अष्टाध्यायी ६/४/३१

[15] अष्टाध्यायी १/४/३५

[16] अष्टाध्यायी २/३/७०

[17] अष्टाध्यायी २/३/३९

[18] अष्टाध्यायी ५/१/४७

[19] महाभारत आदिपर्व १२०/१७-२०.

[20] महाभारत अनुशासन पर्व ३६/१७

काणे महोदय का कथन है कि इन्हीं ऋणों के आधार पर अन्य लौकिक ऋणों के लेन-देन की परम्परा आरम्भ हुई होगी, ऐसा लगता है। ऋण शब्द आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के ऋणों के लिए प्रयुक्त होने लगा।[21] इसी के आधार पर धर्मशास्त्रों एवं स्मृतियों में यह व्यवस्था दी गई कि पुत्र एवं पौत्र अपने पूर्वजों द्वारा कृत ऋणों को चुकाने के उत्तरदायी होंगे। नारद ने ऋणविधि का वर्णन करते समय ऋण के तीन उद्देश्य बताये हैं – दान, ग्रहण एवं आदान।[22] ऋण के दान और ग्रहण में व्यवहार की गुंजाइश नहीं है। आदान के समय ही कभी- कभी व्यवहार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

नारद ने ऋण विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है – देय, अदेय, जिसके द्वारा देय, जिस काल में देय तथा जिस प्रकार से देय, दान (ऋण देना), ग्रहण (आदान करना) इस प्रकार ऋण सात प्रकार का होता है-

ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत्।

दानग्रहणधर्माश्च ऋणादानमिति स्मृतम्।।[23]

मिताक्षराकार ने इन सात प्रकार के ऋणों को पुन: दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम पांच प्रकार के नियम अधमर्ण के लिए हैं और अन्तिम दो उत्तमर्ण के लिए हैं।[24] नारद ने कुसीद शब्द का भी लक्षण किया है जो इस प्रकार है- मूलधन के वर्धित अंश की प्राप्ति के लिए धन का आदान और प्रदान करना कुसीद कहलाता है और जो व्यक्ति इस प्रकार की वृत्ति करते हैं वे कुसीदी कहलाते हैं -

स्थानलाभनिमित्तं यद्दानग्रहणमिष्यते।

---

[21]काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग -२ उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२ ई. पृ. सं. ७७४

[22] नारदस्मृति ४/१

[23] नारदस्मृति ४/१

[24] तच्च ऋणादानं सप्तविधम्- ईदृशमृणं देयं, ईदृशमदेयं, अनेनाधिकारिणा देयं, अस्मिन् समये देयं, अनेन प्रकारेण देयम,इत्यधमर्णे पञ्चविधम्। उत्तमर्णे दानविधि:, आदानविधिश्चेति द्विविधमिति। एतच्च नारदेन स्पष्टीकृतम्। -या.स्मृ. पृ.सं.१०७

तत्कुसीदमिति ज्ञेयं तेन वृतिः कुसीदिनाम्।।[25]

वाचस्पति मिश्र ने विवादचिन्तामणि में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है – स्थानमवस्थानं मूलधनस्य तस्मिन्सत्येव लाभो वृद्धिः तदर्थं दानग्रहणम्।.....तेन मूलाऽस्थान एव लाभनिमित्तं धनिकेन दत्तमधमर्णेन तथाऽभ्युपेत्य गृहीतमृणमित्यर्थः। अन्य निबन्ध ग्रंथों में भी इस श्लोक की व्याख्या इसी प्रकार से की गई है।[26] वाचस्पतिमिश्र के अनुसार जिसे दान दिया जाये उससे तथा उसके सजातीय से ही ग्रहण किया जाये। इसलिए वाणिज्य के लिए प्रयुक्त धन ऋण की श्रेणी में नहीं आता।[27] वृहस्पति ने ग्रहण का कारण बताते हुए कहा है कि किसी दुःखित व्यक्ति से बिना किसी संकोच के जो चारगुणा या आठगुणा के रूप में वृद्धि ग्रहण की जाती है, उसे कुसीद कहते हैं-

कुत्सितात्सीदतश्चैव निर्विशंकैः प्रगृह्यते।
चतुर्गुणं वाऽष्टगुणं कुसीदाख्यमृणं ततः ।।[28]

वृहस्पति ने ऋणादान की विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि ऋण देते समय दाता को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह सदा आधि या बन्धक अथवा कोइ निक्षेप या प्रतिभूति लेकर ही लेख्यप्रमाण के साथ या साक्षियों की उपस्थिति में ऋणी को ऋण दे –

---

[25]ना.स्मृ. ४/१

[26] स्थानं प्रयुक्तधनस्थितिः, लाभः कलादिप्राप्तिः, तन्निमित्तं दानं दीयमानं मूलधनं धनिकेन, ग्रहणं गृह्यमाणं तदेव खादकेन। -वी.मि.पृ.सं.५। स्थानमविनाशः, लाभ उदयः, स्थानलाभौ निमित्तस्येति स्थानलाभनिमित्तम् - कृ.क.त. पृ. १०५.। देयद्रव्यं दीयत इति दानमिति व्युत्पत्तेः तस्य ग्रहणमधर्मेण - वि. चन्द्र पृ. सं. २। अत्र स्थानशब्दो द्रव्याश्रितः स्वस्थानाश्रितःपरदेशाश्रितश्च द्रष्टव्यः।- अ.भा.

[27] यस्यैव दानं तस्यैव तत्सजातीयस्यैव वा ग्रहणम्। - वि. चि. पृ. सं. २

[28]वि. चि. पृ. सं. २

परिपूर्णं गृहीत्वाधिं बन्धं वा साधुलग्नकम्।

लेख्यारूढं साक्षिमद्वा धनं दद्याद्धनी सदा।।[29]

वाचस्पति मिश्र का कहना है कि ऐसा विश्वास के लिए करना चाहिए। इस संदर्भ में परिपूर्ण का अर्थ स्मृतिचन्द्रिका में 'परिपूर्णं सवृद्धिकमूलद्रव्यपर्याप्तमित्यर्थः' किया गया है ।[30] वाचस्पति मिश्र ने 'आधि' का तात्पर्य भोग्य आधि किया है और बन्धक का अर्थ भोग लाभ के अतिरिक्त सुवर्ण आदि बताया है। व्यवहारमयूख में बन्धक का अर्थ ऋणी द्वारा कृत एक प्रकार की प्रतिज्ञा है जिसमें वह यह स्वीकार करता है कि वह ऋणी तब तक अपनी भूमि, गृह या कोई सम्पत्ति नहीं बेच सकता जब तक वह ऋणदाता को स्वकृत ऋण चुका न दे। व्यवहारमयूख में ही 'लग्नक' का अर्थ प्रतिभू किया गया है।[31] कात्यायन के अनुसार स्त्री, दास और बालक को ऋण नहीं देना चाहिए क्योंकि ऐसे लोगों को दिया गया ऋण उत्तमर्ण को प्राप्त नहीं होता-

न स्त्रीभ्यो दासबालेभ्यः प्रदद्यात्किञ्चिदुद्धृतम्।

दाता न लभते तत्तु तेभ्यो दत्तं तु यद्वसु।।[32]

नारद ने जो 'स्थानलाभ निमित्तं..'यह श्लोक कहा है, इस सन्दर्भ में कितना लाभ उचित है इसके विषय में मनु का कथन है कि वसिष्ठ मुनि द्वारा अभिहित वृद्धि लेना चाहिए और वसिष्ठ ने सौ में से अस्सीवां भाग मासिक वृद्धि के रूप में ग्रहण करने का विधान किया है–

वशिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्द्धिनीम्।

अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्द्धुषिकः शते॥[33]

---

[29] वि. चि. पृ. सं. २

[30] स्मृ. च. पृ. सं. १३५

[31]यावत्तावकमृणं न शोध्यते तावदेतद्गृहक्षेत्रादेर्दानविक्रयाधिकरणाद्यहं न करिष्यामिति निर्बन्धो बन्धः। लग्नकः प्रतिभूः। - व्य. म. पृ.सं. १०२

[32] वि. चि. पृ. सं. २

वसिष्ठ के अनुसार बीस पल के ऋण पर पांच माष की वृद्धि ग्रहण करने से धर्म की हानि नहीं होती अर्थात् बीस पल पर पांच माष की वृद्धि ग्रहण करना धर्मानुकूल है –

वशिष्ठवचनप्रोक्तां वृद्धिं वार्द्धुषिके श्रृणु।
पञ्चमाषांस्तु विंशत्यामेवं धर्म्मो न हीयते।।[34]

वृहस्पति के अनुसार पल का बीसवां भाग एक माष होता है।[35] वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि बीस पल में पांच माष की वृद्धि बीस पल का अस्सीवां भागा होती है क्योंकि माष का परिमाण सोलह रक्तिका होता है। इस प्रकार चार सुवर्ण के परिमाण वाले बीस पल में सोलह रक्तिका के परिमाण वाले माष का पांच माष अस्सीवां भाग हुआ। [36] अब तक यह जो अस्सीवें भाग की वृद्धि बतायी गई वह सबन्धक ऋण के विषय में थी। इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य का कथन है वृद्धि के लिए सबन्धक धन के प्रयोग में उस धन का अस्सीवां भाग वृद्धि ग्रहण करनी चाहिए। व्यास ने भी कहा है जिसमें बन्धक रखा गया हो ऐसे धन में मासिक दर मूलधन का अस्सीवां भाग(१/८०), प्रतिभूति के रूप में कुछ रखे गये धन में मूलधन का आठ भाग सहित अस्सी भाग और जिसमें प्रतिभूति और बन्धक दोनों न हों ऐसे धन के प्रयोग में मूलधन का दो प्रतिशत प्रतिमास वृद्धि ग्रहण करनी चाहिए –

सबन्धे भाग आशीत: साष्टभाग: सलग्नके।

---

[33] म. स्मृ. ८/१४०

[34] वि. चि. पृ. सं. ३

[35] माषो विंशतिभागस्तु पलस्य परिकीर्त्तित: । -वि. चि. पृ. सं. ३

[36] माषोऽत्र षोडशरक्तिक: । तेन चतु:सुवर्णपरिमितपलविंशतितमे माषे षोडशरक्तिकावच्छिन्नमाषपञ्चतयेन सुवर्ण एको वृद्धिर्भवति। स च विंशतिपलस्याशीतितमो भागो भवति। -वि. चि. पृ. सं. ३

निराधाने द्विकशतं मासि लाभ उदाहृत: ।।[37]

विवादचिन्तामणि में व्यास के इस श्लोक में साष्टभाग शब्द कहा है और वाचस्पतिमिश्र ने इसका अर्थ आठ भाग सहित अस्सीवां भाग किया है। वीरमित्रोदय और व्यवहारमयूख में 'षाष्टो भाग:' आया है[38] और वहां इसका अर्थ साठवां भाग किया गया है। काणे महोदय ने भी साठवां भाग ही इसका अर्थ किया है। इस प्रकार बीस पल सुवर्ण के ऋण पर ९० रक्तिका की वृद्धि उचित है। यह वृद्धि ब्राह्मण वर्णों के लिए है अन्य वर्णों के लिए नहीं। अन्य वर्णों के विषय में मनु ने कहा है वर्णों के अनुसार क्रमश: दो, तीन, चार एवं पांच प्रतिशत मासिक वृद्धि ग्रहण करना चाहिए तथा सौ में से दो प्रतिशत वृद्धि लेता हुआ व्यक्ति पाप का भागी नहीं होता है –

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम्।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वश: ।।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्विषी।[39]

इस प्रकार मनु के द्वारा उक्त वृद्धि ग्रहण करने वाला व्यक्ति पाप का भागी नहीं होता। यदि कोई इससे अधिक वृद्धि ग्रहण करे तो वह पाप का भागी होता है और यदि कोई आपत्काल के अतिरिक्त वैश्य वर्ण को छोड़कर अन्य वर्णों से इससे अधिक वृद्धि लेता है तो वह भी पाप का भागी होता है। हारीत के अनुसार प्रतिमास मूलधन का अस्सीवां भाग वृद्धि ग्रहण करना चाहिए जिससे छ: वर्ष आठ मास में मूलधन दोगुना हो जाय। दोगुना होने के बाद वृद्धि नहीं होती। नारद का भी यही अभिमत है -

---

[37] वि.चि पृ. सं. ३-४

[38] सबन्धे भाग आशीत: षाष्टो भाग: सलग्नके। वि. मि. पृ. सं. २२७.
सबन्धे भाग आशीत: साष्टभाग: सलग्नके। व्य. म. पृ.सं.१०२.

[39] म. स्मृ. ८/१४१-१४२

वसिष्ठविहितां वृद्धि सृजेद् वृत्तिविवर्धनीम्।

अशीतिभागं गृह्णीयाच्छते मासस्य वार्धूषी।।

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं स्मृतम्।

मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ।।

द्विकं शतं वा गृह्णीत सतां वृत्तमनुस्मरन्।

द्विकंशतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्विषी।।[40]

२.१.१. वृद्धि के प्रकार-वृद्धि के प्रकार के सम्बन्ध में वृहस्पति का कथन है कि कुछ विद्वानों ने वृद्धि के चार प्रकार, कुछ ने पांच प्रकार तथा कुछ ने छः प्रकार बताये हैं। ये छः प्रकार इस तरह हैं-कायिका, कालिका, चक्रवृद्धि, कारिता, शिखावृद्धि एवं भोगलाभ –

वृद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता पञ्चधान्यैः प्रकीर्त्तिता।

षड्विधाऽन्यैः समाख्याता तत्त्वतस्तां निबोधत।।

कायिका कालिका चैव चक्रवृद्धिस्तथा परा।

कारिताऽथ शिखावृद्धिर्भोगलाभस्तथैव च।। [41]

नारद ने वृद्धि के चार प्रकार बताये हैं[42]-

i. कारिता- जिसे ऋणदाता स्वयं निश्चित करे।[43]

---

[40] ना.स्मृ.४/९९-१०१

[41] वि.चि पृ. सं. ५

[42]कालिका कारिता चैवं कायिका च तथा परा।

चक्रवृद्धिश्च शास्त्रेऽस्मिन् वृद्धिदृष्टा चतुर्विधा।। ना. स्मृ.४/१/१०२

[43] वृद्धिः सा कारिता नाम यर्णिकेन स्वयं कृता।। ना.स्मृ ४/१/१०३

ii. कालिका- जिसकी वृद्धि प्रतिमास ग्रहण की जाय।[44]

iii. कायिका- जिसमें एक पण या चौथाई पण प्रतिदिन ग्रहण किया जाय परन्तु मूल धन ज्यों का त्यों बना रहे।[45]

iv. चक्रवृद्धि- वृद्धि पर भी वृद्धि ग्रहण करना चक्रवृद्धि कहलाता है।[46]

व्यास कायिका वृद्धि का लक्षण नारद से भिन्न किया है। उनके अनुसार कायिका वृद्धि वह है जो शरीर से ग्रहण की जाय, जैसे गाय का दूध या बैल या दास से कार्य कराना।[47] मनु ने भी नारदोक्त चार प्रकार की वृद्धि का ही उल्लेख किया है –

चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या।।[48]

वृहस्पति के अनुसार कायिका कर्म से संयुक्त है, प्रतिमास ली जाने वाली वृद्धि कालिका है, वृद्धि पर भी वृद्धि ग्रहण करना चक्रवृद्धि है और कारिता वृद्धि वह है जिसे ऋणी द्वारा निर्धारित किया जाये। वृहस्पति ने मनु, नारद आदि द्वारा वर्णित चार प्रकार की वृद्धि के अतिरिक्त शिखावृद्धि और भोगलाभ का भी वर्णन किया है। वृहस्पति के अनुसार शिखावृद्धि वह है जो प्रतिदिन ग्रहण की जाय, क्योंकि शिखा जैसे प्रतिदिन बढ़ती है वैसे ही यह वृद्धि भी बढ़ती है और सिर के काट देने पर जैसे शिखा की वृद्धि रुक जाती है वैसे ही

---

[44] प्रतिमासं स्त्रवन्ती या वृद्धिः सा कालिका स्मृता। ना.स्मृ. ४/१०३

[45] कायाविरोधिनी शश्वत्पणपादादि कायिका। ना.स्मृ. ४/१०४

[46] वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुदाहृता।। ना.स्मृ. ४/१०४

[47] दोह्यवाह्यकर्मयुता कायिका समुदाहृत

[48]म. स्मृ. ८/१५३

मूलधन के अदा कर देने पर यह वृद्धि भी रुक जाती है। गृह का उपयोग एवं भूमि का अन्न ग्रहण करना भोगलाभ है –

प्रत्यहं गृह्यते या तु शिखावृद्धिस्तु सा मता।
शिखेव वर्द्धते नित्यं शिरश्छेदान्निवर्त्तते।।
मूले दत्ते तथैवैषा शिखावृद्धिस्तत: स्मृता।
गृहात्स्तोम: शद:क्षेत्राद्भोगलाभ: प्रकीर्त्तित: ।।[49]

व्यास ने 'स्तोम' का अर्थ इस प्रकार किया है – **गृहोपभोगभोग्यस्तु स्तोम इत्यभिधीयते।** यहां वाचस्पति मिश्र ने शद का अर्थ शस्यादि फल का लाभ किया है। व्यवहारनिर्णय में भी 'शद' का अर्थ शस्यादि ही किया गया है।[50] गौतमधर्मसूत्र में भी वृद्धि छ: प्रकार की बताई गई है, परन्तु भोगलाभ वृद्धि के स्थान पर आधिभोग लिखा गया है।[51] कात्यायन ने आधिभोग का लक्षण इस प्रकार किया है बन्धक में दिये हुए धन के पूर्णत: उपभोग को आधिभोग कहते हैं –

आधिभोगस्त्वशेषो यो वृद्धिस्तु परिकल्पित: ।
प्रयोगो यत्र चैवं स्यादाधिभोग: स उच्यते।।[52]

इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के अनुसार जहां किसी वस्तु के भोग को ही वृद्धि के रूप में स्वीकार किया जाये, वह आधिभोग कहलाता है। जहां वार्षिक वृद्धि ग्रहण की जाय वह कायिकावृद्धि, जहां मासिक वृद्धि ग्रहण

---

[49] वि.चि.पृ. सं. ५-६

[50] क्षेत्रोत्पन्नं धान्यादिकं 'शद:' । -व्य. नि. पृ.सं. २२६

[51] गौतमधर्मसूत्र १२/३१/३२

[52] वि.चि.पृ. सं. ५-६

की जाय वह कालिका और वृद्धि की भी वृद्धि ग्रहण करना चक्रवृद्धि है। आपत्काल में ऋणी द्वारा स्वीकृत वृद्धि कारिता है। प्रतिदिन ग्रहण की जाने वाली वृद्धि शिखावृद्धि कहलाती है। दासादि का भोग भोगलाभ कहलाता है।[53]

कारिता वृद्धि के सन्दर्भ में कात्यायन ने एक विशेष व्यवस्था की है। कात्यायन के अनुसार आपत्काल में ऋणी ने यदि अपने द्वारा निर्धारित वृद्धि स्वैच्छिक रूप से देना स्वीकार किया है तो उसे अवश्य देना चाहिए परन्तु अन्यथा की गई वृद्धि नहीं देनी चाहिए –

ऋणिकेन तु या वृद्धिरधिका संप्रकीर्त्तिता।

आपत्कालकृता नित्यं दातव्या कारिता तु सा।।

अन्यथा कारिता वृद्धिर्न दातव्या कथञ्चन। [54]

वाचस्पति मिश्र ने यहां अन्यथा का अर्थ बलपूर्वक स्वीकार कराई गई वृद्धि किया है।[55] धर्मशास्त्रकारों और स्मृतिकारों ने इस सन्दर्भ में भी व्यवस्था की है कि ये कब तक बढ़ सकती हैं। शिखावृद्धि, कायिका और भोगलाभ के विषय में वृहस्पति का कथन है कि इन वृद्धियों के सन्दर्भ में ऋणी को तब तक वृद्धि देनी चाहिए जब तक मूलधन अदा न कर दिया जाय -

शिखावृद्धिं कायिकां च भोगलाभं तथैव च।

धनी तावत्समादद्याद्यावन्मूलं न शोधितम्।।[56]

---

[53] अस्य भोग एव वृद्धिरिति यत्र व्यस्था स आधिभोग: । कायिका वार्षिकी। कालिका मासिकी। चक्रवृद्धिर्वृद्धेर्वृद्धि:। कारिता आपदि स्वीकृता। शिखावृद्धि: प्रात्यहिकी। भोगलाभो दासादिभोग:।-वि.चि.पृ. सं. ५-६

[54] वि. चि. पृ.

[55] अन्यथेति बलेन स्वीकारितेत्यर्थ: । वि.चि. पृ.सं.५

[56] वि.चि. पृ.सं.५

वाचस्पति मिश्र के द्वारा इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है कि यदि चिरकाल तक ऋण अदा नहीं किया जाता है तो अधिकतम वृद्धि मूलधन का दोगुना ली जा सकती है और भी आधिभोग के अतिरिक्त अन्य वृद्धि तीन पुरुषों के बाद नहीं देनी चाहिए। याज्ञवल्क्य का भी कथन है कि आधि का भोग तब तक करना चाहिए जब तक मूलधन न दे दिया जाये।[57] इस प्रकार सबन्धक ऋण ऋणी के प्रपौत्र को भी अदा करना चाहिए। अन्य ऋणों में ऋणी, ऋणी का पुत्र तथा पुत्र का पुत्र तक ही ऋण देने की व्यवस्था शास्त्रकारों ने की है। आगे भी याज्ञवल्क्य ने कहा है कि जब ऋण लेने के समय ही बन्धक रखकर यह कह दिया जाय कि धन के दोगुना हो जाने पर आधि मुक्त कर दी जायेगी अथवा किसी अन्य कारण से भोगाभाव के कारण ऋण दोगुणा हो गया हो तब भोग के लिए रखी गई आधि से उत्पन्न धन के दोगुणा हो जाने पर आधि को मुक्त कर देना चाहिए –

यदा तु द्विगुणीभूतमृणमाधौ तथा खलु।

मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रवृष्टे द्विगुणे धने।।[58]

मनु[59] एवं गौतम[60] ने भी कहा है कि मूलधन एवं ब्याज के रूप में एक बार ही लिया जाने वाला ऋण दूने से अधिक नहीं हो सकता। इस प्रकार वृहस्पति एवं गौतम के वचनों में अन्तर्विरोध है क्योंकि वृहस्पति का कहना है कि वृद्धि तब तक ग्रहण की जानी चाहिए जब तक मूलधन शोधित न कर दिया जाय और गौतम के अनुसार एक वर्ष के बाद वृद्धि ग्रहण करना गर्हित है। इसका समाधान वाचस्पति जी ने इस प्रकार किया है कि वृहस्पति का कथन नारद के द्वारा की गई कायिका वृद्धि के लक्षण के आधार पर कहा है। नारद ने कायिका का लक्षण करते हुए कहा है कि जो एक पण या चौथाई पण प्रतिदिन दिया जाय परन्तु मूल धन

---

[57] आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते।

[58]या.स्मृ.व्यवहाराध्याय श्लोक सं. ६४

[59] म. स्मृ. ८/१५३

[60]नातिसंवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टं पुनर्हरेत्।

चक्रवृद्धि: कालवृद्धि: कारिता कायिका तथा।।

ज्यों का त्यों बना रहे, वह कायिका है और गौतम ने कायिका का अर्थ शरीर से ग्रहण की जाने वाली वृद्धि माना है जैसे गाय का दूध या दासादि का भोग। इसलिए वृहस्पति और गौतम के कथनों में भेद नहीं है। इस प्रकार गाय आदि का एक वर्ष पर्यन्त ही भोग करना चाहिए। वृहस्पति के अनुसार दुगुने से अधिक भाग चक्रवृद्धि है। उसे वृद्धि सहित देने पर यदि बाद में अधिक ब्याज मांगा जाय तो वह निन्दनीय है। वाचस्पति जी गृहस्थरत्नाकर का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि गृहस्थरत्नाकर में भी दोगुने से अधिक वृद्धि का ग्रहण, वृद्धि की भी वृद्धि ग्रहण और वृद्धि को मूल धन के साथ जोड़कर पुन: वृद्धि ग्रहण इन तीनों को निन्दनीय माना गया है।[61]

२.१.२. अकृत वृद्धि-

अकृत वृद्धि के सन्दर्भ में कात्यायन ने निम्नलिखित व्यवस्था की है -

१) जब कोई ऋणी याचितक के मांगने पर भी धन न देकर दूसरे देश चला जाता है तो तीन मास के उपरान्त ब्याज बढने लगता है।[62]

२) जब कोई याचितक का ऋण लेकर दूसरे देश चला जाता है तो ऋणदाता के बिना मांगे ही तीन मास के उपरान्त ब्याज बढ़ने लगता है।[63]

---

[61] वि. चि. पृ स. ८

[62] कृत्वोद्धारमदत्वा यो याचितस्तु दिशं व्रजेत्।

ऊर्द्ध मासत्रयात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात्।। का. स्मृ. ५०३

[63] यो याचितकमादाय न तद्दत्त्वा दिशं व्रजेत्।

ऋतुत्रयस्योपरिष्टात्तद्धनं वृद्धिप्राप्नुयात्।।- वि.चि. पृ सं.९ (काणे महोदय द्वारा कात्यायन स्मृति में 'ऋतुत्रयस्य' के स्थान पर 'ऊर्ध्वम् संवत्सरात्' पाठ दिया है।

३) अपने देश में ही ऋणी के स्थित होने और मांगने पर भी धन न लौटाने पर राजा को मांगने के दिन से लगातार वृद्धि की वसूली करानी चाहिए चाहे वृद्धि के विषय में पहले से कुछ निर्धारित न किया गया हो।[64]

४) कात्यायन के अनुसार निक्षेप, वृद्धिशेष एवं क्रय और विक्रय यदि मांगने पर भी न दिया जाय तो छः मास के उपरांत पांच प्रतिशत वृद्धि ली जानी चाहिए।[65] वाचस्पति मिश्र के अनुसार पांच प्रतिशत की वृद्धि शूद्र वर्ण से ली जाय। अन्य वर्णों में ब्राह्मण से दो, क्षत्रिय से तीन और वैश्य से चार प्रतिशत वृद्धि ग्रहण किया जाना चाहिए। जब तक मांगा न जाय तब तक प्रीतिपूर्वक दिये गये धन की वृद्धि नहीं होती। लेकिन यदि मांगने पर भी न दिया जाय तो पांच प्रतिशत की दर से ग्रहण करना चाहिए।[66] नारद का भी यही मत है।[67] वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह वृद्धि तीन मास के उपरान्त होती है ऐसा कात्यायन के पूर्व कथित वचन के बल से जानना चाहिए।

---

[64] स्वदेशस्थोपि वा यस्तु न दद्याद्याचितोऽसकृत्।
स तत्राऽकारितां वृद्धिमनिच्छन्नपि चाहरेत्।। का. स्मृ.५०४

[65] निःक्षेपं वृद्धिशेषं च क्रयं विक्रयमेव च।
याच्यमानो न चेद्दद्याद्वर्द्धते पञ्चकं शतम्।। का.स्मृ. ५०६

[66] प्रीतिदत्तं न वर्द्धेत यावन्न प्रतियाचितम्।
याच्यमानं न चेद्दत्तं वर्द्धते पञ्चकं शतम्।। का. स्मृ. ५०५

[67] न वृद्धिः प्रीतिदत्तानां स्यादनाकारिता क्वचित्।
अनाकारितमप्यूर्ध्वं वत्सरार्द्धाद्विवर्द्धते।।
प्रीतिदत्तं तु यत् किञ्चिन्न तद्वर्धत्ययाचितम्।
याच्यमानमदत्तं चेद्वर्धते पञ्चकं शतम्।। ना.स्मृ. ४/१०८-१०९

५) किसी वस्तु आदि को लेकर उसका मूल्य बिना चुकाये यदि कोई दूसरे देश चला जाता है तो छः मास के उपरान्त ब्याज बढ़ने लगता है।[68]

ये सब व्यवस्थायें ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं जो छलपूर्वक ऐसा करते हैं लेकिन यदि कोई व्यक्ति बिना छल के कार्य की अनिवार्यता के कारण दूसरी जगह चला जाता है तो एक वर्ष के बाद वृद्धि बढती है।[69] इस प्रकार जो मांगने पर न देकर छलपूर्वक दूसरे स्थान पर चला जाय या वहीं रहकर भी न दे तो छः मास के बाद वृद्धि बढ़ने लगती है लेकिन यदि ऐसा छलवश न किया गया हो तो एक वर्ष के बाद वृद्धि बढ़ती है। नारद ने भी कहा है कि विक्रेय वस्तु का मूल्य, वेतन, विश्वास पूर्वक रखा हुआ धन (न्यास), राजदण्ड के लिए देय धन, उपेक्षित वस्तु का लाभ, धर्मार्थभिन्न वृथा दान और द्यूतक्रीडा लब्ध धन की वृद्धि नहीं हो सकती अगर पूर्व से निर्धारित नहीं है –

पण्यमूल्यं भृतिर्न्यासो दण्डो यश्चाभिहारिकम्।

वृथादानाक्षिकपणा वर्द्धन्ते नाविवक्षिताः ।।[70]

संवर्त के अनुसार स्त्रीधन, लाभ, निक्षेप, संदिग्ध धन और मध्यस्थता वाला धन यदि ऋणी द्वारा स्वयं कृत न हो तो वृद्धि नहीं प्राप्त होती है –

न वृद्धिः स्त्रीधने लाभे निक्षेपे च तथा स्थिते।

सन्दिग्धे प्रातिभाव्ये च यदि न स्यात्स्वयं कृता।।[71]

लेकिन यदि पति, पुत्र या अन्य कोई व्यक्ति स्त्रीधन का बलात् उपभोग करता है तो वह दण्ड का भागी होने के साथ- साथ वृद्धि देने को भी मजबूर किया जा सकता है। परन्तु यदि स्त्रीधन की स्वामिनी की आज्ञा से

---

[68] पण्यं गृहीत्वा यो मूल्यमदत्तैव दिशं व्रजेत्।

ऋतुत्रयस्योपरिष्टात्तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात्।। का. स्मृ. ५०७

[69] वृद्धिं दद्युरकृतामपि वत्सरातिक्रमे यथाविहिताम्। वि. चि.पृ. सं. १०

[70] ना.स्मृ. २/३६

[71] वि. चि.पृ. सं. १०

प्रीतिपूर्वक उस धन का उपभोग किया जाता है तो व्यक्ति के पास जब धन आ जाये उसे केवल मूलधन ही देना चाहिए –

यद्यप्येकतरोमीषां स्त्रीधनं भक्षयेद्बलात्।

स वृद्धिं प्रतिदाप्य: स्याद्विनयं च समाप्नुयात्।।

तदेव यद्यनुज्ञाप्य भक्षयेत्प्रीतिपूर्वकम्।

मूलमेव स दाप्य: स्याद्यदा स धनभाग्भवेत्।।[72]

व्यास के अनुसार विश्वास के लिए रखा गया धन, भोग के साथ बन्धक धन जिसे स्वेच्छा से ऋणी द्वारा बन्धक रखा गया हो, शुल्क और स्वयं द्वारा अर्जित धन पर वृद्धि नहीं होती है। जिस प्रातिभाव्य पर वृद्धि दी जा रही हो वह अधिकतम मूलधन का दोगुना देय है –

प्रातिभाव्यं भुक्तबन्धमगृहीतं च दित्सत:।

न वर्द्धते प्रपन्नस्य दम: शुल्कं प्रतिश्रुतम्।।

प्रातिभाव्यं द्विगुणमेव देयं स्याल्लग्नकस्य च ।[73]

याज्ञवल्क्य के अनुसार वृद्धि के लिए प्रयुक्त धन को अधमर्ण के द्वारा देने पर भी यदि उत्तमर्ण नहीं लेता है तो अधमर्णके द्वारा उसे किसी मध्यस्थ के पास स्थापित कर देना चाहिए, तब स्थापित किये हुए दिन से उस धन की वृद्धि नहीं होगी –

दीयमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं य: स्वकं धनम्।

मध्यस्थस्थापितं तत्स्याद्वर्द्धते न तत: परम्।।[74]

गौतम के अनुसार अवरुद्ध ऋण की वृद्धि नहीं होती है[75] और भी चिरकाल तक ऋण न चुकाने पर भी अधिकतम वृद्धि मूलधन का दोगुना ही होगी। वाचस्पति मिश्र के अनुसार मणि आदि के सम्बन्ध में

---

[72] वि.चि.पृ सं. १०-११

[73] वि.चि. पृ.११

[74]या. स्मृ. व्यवहाराध्याय /४४

[75] न वर्द्धतेऽवरुद्धस्य ऋणम्। -वि.चि. पृ सं.११

अधिकतम वृद्धि दोगुनी ही हो सकती है। मनु ने कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था दी है इनके अनुसार एक साथ लिया गया ब्याज मूलधन के दुगुने से अधिक नहीं होता। अन्न, वृक्ष का फल, ऊन और वाहक जीव की वृद्धि मूलधन के पांच गुने से अधिक नहीं होनी चाहिए –

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता।

धान्ये शदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम्।[76]

मनुस्मृति का यह श्लोक व्यवहार से सम्बन्धित लगभग सभी निबन्ध ग्रंथों में उद्धृत है।[77] विवाद चिन्तामणि में 'सकृद्' शब्द से मणि आदि का ग्रहण किया गया है इस प्रकार मणि आदि की अधिकतम वृद्धि दोगुना तक हो सकती है। 'वाह्य' का अर्थ बैल किया गया है। 'शद' का अर्थ यहां शस्य है। 'लव' वह है जो काटा-छांटा गया हो अर्थात् भेड़ से अतिरिक्त का ऊन। व्यवहारमयूख में एक स्थान पर कहा गया है कि विज्ञानेश्वर तथा अन्य विद्वानों का मत है कि उस स्थिति में जहां वृद्धि रुक-रुककर किस्तों में दी जाय वहां अदा की जाने वाली कुल राशि दुगुने से अधिक हो सकती है। [78] विवादरत्नाकर में 'धान्ये' का अर्थ जौ, ब्रीहि आदि किया गया है। शद का अर्थ वृक्षों से उत्पन्न फल किया गया है। 'वाह्ये' का अर्थ जिस पर वहन किया जाता है जैसे घोड़ा आदि है। नृसिंहप्रसाद तथा स्मृति सारोद्धार नामक निबन्ध ग्रंथ में 'शद' की व्याख्या 'अनाज के अतिरिक्त कृषि का उत्पादन' जैसे फल आदि किया गया है। 'वाह्य' का अर्थ शकट आदि है।

इसके अतिरिक्त कात्यायन ने कहा है रत्नों, मोतियों, सीपियों, स्वर्ण, रजत, फल, रेशम, ऊन पर ऋण के रूप में अधिकतम दोगुना लाभ लिया जा सकता है।[79] गौतम के अनुसार पशु की उपज, ऊन, खेत, शद, वाह्य का अधिकतम पांच गुणा वृद्धि ग्रहण की जा सकती है –

मणिमुक्ताप्रवालानां सुवर्णरजतस्य च।

---

[76] म.स्मृ. ८/१५१

[77]वी.मि.पृ.२३०, व्य. म.पृ.१०४, व्य. नि.पृ.२२७, वि. रत्ना. पृ.१७, नृ. प्र.व्य. १८ब, स्मृ. सारो. पृ. ३२६

[78] व्य. म. पृ.७६

[79] का. स्मृ. ५७०

तिष्ठतो द्विगुणा वृद्धिः फालकैटाविकस्य च।।[80]

'पशूपज' की व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने 'घी के अतिरिक्त दुग्धादि'की है। तेल, पेय पदार्थों, घृत, खांड, नमक पर आठ गुना लाभ लिया जा सकता है –

तैलानां चैव सर्वेषां मद्यानामथ सर्पिषाम्।

वृद्धिरष्टगुणा प्रोक्ता गुडस्य लवणस्य च।[81]

वृहस्पति के अनुसार हिरण्य की दोगुना, वस्त्र एवं धातु के बर्तन पर तीन गुना, धान्य, खेत में उत्पन्न होने वाले फलादि, वाह्य और ऊन पर चार गुना अधिकतम वृद्धि ली जा सकती है –

हिरण्ये द्विगुणा वृद्धिस्त्रिगुणा वस्त्रकुप्यके।

धान्ये चतुर्गुणा प्रोक्ता शदवाह्यलवेषु च।।[82]

विष्णु का कथन है रस की आठ गुना एवं स्त्री और पशु की सन्तान ही उसकी वृद्धि है-

रसस्याष्टगुणा सन्ततिः स्त्रीपशूनाम्।[83]

वृहस्पति के अनुसार सब्जियों पर पांच गुना, बीज, ईख आदि पर छः गुना, नमक, तैल पदार्थ, शराब, गुड़, मधु पर मूलधन का अधिकतम आठ गुना ब्याज लिया जा सकता है –

उक्ता पंचगुणा शाके बीजेक्षौ षड्गुणा स्मृता

लवणस्नेहमद्येषु वृद्धिरष्टगुणा स्मृता।।

---

[80] कुसीदं पशूपजलोमक्षेत्रशदवाह्येषु नातिपंचगुणम्। वि.चि. पृ. १२

[81] का.स्मृ. ५७२

[82] वि. चि. पृ.१२

[83] वि. चि. पृ.१२

गुडे मधुनि चैवित्का प्रयुक्ते चिरकालिके।[84]

वसिष्ठ का कथन है सुवर्ण का दोगुना, धान्य, रस, पुष्प और फल का तीन गुना तथा जो वस्तुएं तौलकर खरीदी जायें उनका आठ गुना ब्याज लिया जा सकता है –

द्विगुणं हिरण्यं त्रिगुणं धान्यं धान्येनैव रसा व्याख्याता:।

पुष्पफलमूलानि च तुलाधृतमष्टगुणम्।।[85]

वृहस्पति के अनुसार घास, लकड़ी, ईंट, सूत, शराब आदि द्रव्यों का उपादान कारण (किण्व) पान, अस्थि, चमड़ा, शस्त्र, पुष्प, फल आदि की वृद्धि का विधान नहीं है –

तृणकाष्ठेष्टकासूत्रकिण्णपर्णास्थिचर्मणाम्।
हेतिपुष्पफलानां च वृद्धिश्च न विधीयते।।[86]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार इन वस्तुओं की अकृत वृद्धि का ही निषेध ज्ञातव्य है। यदि इन वस्तुओं का उपयोग किया जाता है तो वृद्धि ली जा सकती है। अतएव कात्यायन के 'फालकैटाविकस्य च' और 'पुष्पफलमूलानि च' वसिष्ठ के इस कथन के आधार पर दोगुना तथा तिगुना वृद्धि ली जा सकती है। धान्य के सन्दर्भ में जो अनेक प्रकार की वृद्धि का कथन किया गया है वह धान्य के विभिन्न प्रकार के मूल्य के कारण कथित है। इस प्रकार शस्योत्पाति के पहले मूलधन का दोगुना वृद्धि ग्रहण की जा सकती है यदि शस्योत्पत्ति के बाद उसके मूल्य में थोड़ा ह्रास होता है, और अधिक ह्रास होने पर तिगुना इस प्रकार मूल्य

---

[84] वि.चि. पृ१२-१३, वि.से. पृ.१०, कृ.क.त. पृ. २८९, वी.मि. २२९

[85] वि.चि. पृ.१३, वी.मि. पृ.२२९.

[86] वि.चि. पृ. १३, वी.मि.पृ २३०, व्य. नि. २२८

में ह्रास के आधार पर पांच गुना तक वृद्धि ग्रहण की जा सकती है। हारीत के अनुसार घास का दोगुणा, धान्य का तीनगुणा ही बढता है-

तृणे द्विगुणं धान्यं त्रिगुणमेव च वर्द्धते। [87]

मूल्य के अनुसार वृद्धि की व्यवस्था मनु के द्वारा भी की गई है। उनके अनुसार समुद्र यात्रा में कुशल, देश और समय के प्रयोजन को जानने वाला व्यक्ति जिस वृद्धि की स्थापना करता है, वहां वही स्वीकार्य है -

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिन:।
स्थापयन्ति च यां वृद्धिं सा तत्राऽधिगमं प्रति।।[88]

समुद्रयान में अधिक लाभ मिलने के कारण अधिक वृद्धि ली सकती है। हारीत का भी यही कथन है।[89] नारद ने देश, काल पर भी ब्याज की निर्भरता बताई है। उनके अनुसार ऋणों के सम्बन्ध में यह सार्वभौम विधि है, किन्तु देश एवं काल के अनुसार ऋण की वृद्धि व्यवस्था पृथक-पृथक हो सकती है। कहीं पर दोगुणा,तीनगुणा, चारगुणा और किसी दूसरे देश में आठगुणा वृद्धि देय है। हिरण्य, धान्य और वस्त्रों पर क्रमश: दो, तीन और चारगुणा वृद्धि देय है। रस का आठ गुना और स्त्री एवं पशुओं की सन्तति ही वृद्धि है।[90]

---

[87] वि.चि.पृ. १३

[88] म.स्मृ.८/१५७

[89] पुराणे पणिकं मास इत्येके। -वि.चि. पृ. १४

[90] ऋणानां सार्वभौमोऽयं विधिर्वृद्धिकर: स्मृत: ।
देशाचारस्थितिस्त्वन्या यत्रर्णमवतिष्ठते।।
द्विगुणं त्रिगुणं चैव तथान्यत्र चतुर्गुणम्।

२.१.३. आधि विधि-

नारद के अनुसार धन प्रयोग के सम्बन्ध में विश्वास के दो हेतु हैं- प्रतिभू और आधि

विश्रम्भहेतु द्वावत्र प्रतिभूराधि च।[91]

आधि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है – *आधीयत इत्याधिः ।* इस आधार पर जिस किसी धन का किसी कार्य विशेष के लिए आधान किया जाता है, वह आधि है। ऋण के सम्बन्ध में ऋण गृहीत करते समय विश्वास के लिए अधमर्ण जिसे उत्तमर्ण को अधिकृत करता है, वह आधि कहलाती है। इसका अर्थ यह है कि अधमर्ण के द्वारा उत्तमर्ण से धन गृहीत करते समय परस्पर विश्वास के लिए कुछ सम्पत्ति उत्तमर्ण के पास रख दी जाती है जब अधमर्ण ग्रहीत धन को वृद्धि सहित उत्तमर्ण को वापस कर देता है तब उत्तमर्ण भी विश्वासार्थ सुरक्षित सम्पत्ति अधर्मण को वापस कर देता है, विश्वासार्थ रखी गयी वह सम्पत्ति ही आधि कहलाती है। मिताक्षराकार ने आधि को इस प्रकार परिभाषित किया है –**आधिर्नाम गृहीतस्य द्रव्यस्योपरि विश्वासार्थमधमर्णेनोत्तमर्णोऽधिक्रियते, आधीयत इत्याधिः ।**[92] नारद ने आधि का लक्षण करते हुए कहा है –

अधिक्रियत इत्याधिः स विज्ञेयो द्विलक्षणः।[93]

असहाय भाष्य में नारद के इस कथन की व्याख्या इस प्रकार की गई है-**अधिक्रियत अप्यधनिना संबन्धाधिकारमानीयते इत्याधिः ।**[94]नारद ने आधि को प्रथमतः दो भागों में बांटा है –

तथाष्टगुणमन्यस्मिन् देयं देशेऽवतिष्ठते।

हिरण्यधान्यवस्त्राणां वृद्धिर्द्विस्त्रिश्चतुर्गुणा।

रसस्याष्टगुणा वृद्धिः स्त्रीपशूनां च सन्ततिः ।। - ना. स्मृ. ४/१०५-१०७

[91] ना. स्मृ. ४/१/११७

[92] या. स्मृ. २/५७ पर मिताक्षरा टीका

[93] ना. स्मृ. ४/१/१२४

[94] ना. स्मृ. ४/१/१२४ पर असहाय भाष्य।

i. कृतकाल

ii. अकृतकाल

मिताक्षराकार ने कृतकाल आधि की व्याख्या करते हुए कहा है कि अमुक दीपोत्सव आदि द्रव्याधान काल में ही 'मेरे द्वारा यह अधमर्ण मुक्त कर दिया जायेगा अन्यथा यह आधि, तुम्हारी ही हो जायेगी' इस प्रकार के निश्चित काल में जिस आधि को मुक्त कर दिया जाय वह कृतकाल आधि कहलाती है[95] अर्थात् जिसमें आधि के समय में ही गृहीत धन को लौटाने का समय निश्चित कर दिया जाता है, वह कृतकाल आधि कहलाती है और अकृतकाल आधि वह है जिसमें गृहीत धन के प्रत्यर्पण के लिए निश्चित अवधि का निरूपण न किया गया हो अर्थात् जिसमें अधमर्ण अपनी सुविधानुसार धन प्रत्यर्पित करता है।

ये दोनों भी पुन: दो प्रकार की होती हैं –

i. गोप्य

ii. भोग्य

कृतकालापनेयश्च यावद्देवोन्यतस्तथा।।

स पुनर्द्विविध: प्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव च।[96]

गोप्य और भोग्य आधि के सम्बन्ध में असहाय भाष्य में कहा गया है कि गोप्य शब्द रक्षण के अर्थ में प्रयुक्त 'गुप्' धातु से निष्पन्न है यथा स्वर्ण, रुपये आदि। इसलिए ये गोप्य कहे जाते हैं, अत: इनकी रक्षा करनी चाहिए। गृह, क्षेत्र आदि भोग्य आधि कहलाते हैं- **गोप्यो घटितसुवर्णरौप्यादि: गुपू रक्षणे धातु: । तेन रक्षणीय इत्यर्थ: । द्वितीयो भोग्य: प्रकाश एव गृहक्षेत्रादि: ।**[97]

---

[95] कृते काले आधानकाल एवामुष्मिन्काले दीपोत्सवादौ 'मयायमधमर्णिको मोक्तव्योऽन्यथा तवैवाधिर्भविष्यती' त्येवं निश्चिते काले उपनेय आत्मसमीपं नेतव्य:, मोचनीय इत्यर्थ: । - या. स्मृ. २/५७ पर मिताक्षरा टीका

[96] ना. स्मृ. ४/१/१२

[97] ना. स्मृ. ४/१२५ पर असहाय भाष्य।

इस प्रकार आधि कुल मिलाकर चार प्रकार की होती है –

i. गोप्य कृतकाल

ii. भोग्य कृतकाल

iii. गोप्य अकृतकाल और

iv. भोग्य अकृतकल

गोप्य और भोग्य नामक विभाजन का उल्लेख गौतम,[98] मनु[99], याज्ञवल्क्य[100], कात्यायन[101] आदि ने भी किया है। वृहस्पति ने भी आधि के चार प्रकार बताये हैं-

आधिर्बन्धः समाख्यातः स च प्रोक्तश्चतुर्विधः ।

जङ्गमः स्थावरश्चैव गोप्यो भोग्यस्तथैव च।।[102]

i. जंगम

ii. स्थावर

iii. गोप्य

iv. भोग्य

हारीत ने भी आधि के चार प्रकार गिनाये हैं-

आधिश्चतुर्विधः प्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव च।

अर्थप्रत्ययहेतुश्च चतुर्थस्त्वाज्ञया कृतः ।।[103]

---

[98] गौ. ध. सू. १२/३२

[99] म. स्मृ. ८/१४३

[100] या. स्मृ. व्यवहाराध्याय /५८-५९

[101] का. स्मृ. ५७६

[102] व्य.नि. पृ.२३३

[103] व्य. नि. पृ. २३३

इन चार प्रकार की आधियों का स्वरूप वर्णन करते हुए हारीत का कथन है –

श्रावणा पूर्वलिखितो भोग्याधि: श्रेष्ठ उच्यते।

गोप्याधिस्तु परेभ्य: स्वं दत्वा यो गोप्यते गृहे।।

अर्थप्रत्ययहेतुर्य: प्रत्ययाधि: स उच्यते।

आज्ञाधिर्नाम यो राज्ञा संसदा वाऽऽज्ञया कृत: ।।[104]

याज्ञवल्क्य ने आधि के दो अन्य प्रकार बताये हैं **चरित्रबन्धक** और **सत्यंकार**। इनका व्याख्या मिताक्षराकार ने इस प्रकार किया है –

चरित्रं शोभनाचरितं, चरित्रेण बन्धकं चरित्रबन्धकं, तेन यद्द्रव्यमात्मसात्कृतं पराधीनं वा कृतम्। एतदुक्तं भवति- धनिन: स्वच्छाशयत्वेन बहुमूल्यमपि द्रव्यमाधीकृत्याधमर्णेनाल्पमेव द्रव्यमात्मसात्कृतम्, यदि वाधमर्णस्य स्वच्छायशत्वेनाल्पमूल्याधि गृहीत्वा बहुद्रव्यमेव धनिनाधमर्णाधीनं कृतमिति। अन्योऽर्थ:। चरित्रमेव बन्धकं चरित्रबन्धकं। 'चरित्र शब्देन गङ्गास्नानाग्निहोत्रादिजनितमपूर्वमुच्यते।[105] अर्थात् चरित्र के द्वारा जो बन्धक किया गया हो वह चरित्रबन्धक है। इसमें यदि ऋणदाता अच्छे चरित्र का है तो ऋणी द्वारा अधिक मूल्य वाली आधि भी बन्धक रखी जा सकती है और यदि ऋणी अच्छे चरित्र का है तो उत्तमर्ण कम मूल्य वाली आधि भी बन्धक के रूप में स्वीकार कर सकता है। इन परिस्थितियों में रखी गई आधि के सम्बन्ध में विवाद होने पर बन्धक रखी गई सम्पत्ति की हानि नहीं होती और राजा या संसद(न्यायालय) केवल वृद्धि का दोगुना दिला सकता है। द्वितीय प्रकार की आधि अर्थात् सत्यंकार के सम्बन्ध में लिखते समय केवल यह लिखा जाता है ' मैं केवल दूना दूंगा। आधि की हानि नहीं होगी।'

आधि के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों ने कुछ नियम बताये हैं। यथा कात्यायन के अनुसार गोप्य आधि के भोग करने पर तथा उपकारी आधि के व्यवहार सामर्थ्य से रहित हो जाने पर प्रयुक्त धन की वृद्धि नहीं होती है-

---

[104] व्य. नि. पृ. २३३

[105] या. स्मृ.२/६१ पर मिताक्षरा व्याख्या।

गोप्याधिभोगे नो वृद्धि: सोपकारे च हापिते।[106]

याज्ञवल्क्य का भी यही कथन है।[107]नारद के अनुसार आधि का यथासंभव रक्षण करना चाहिए। यदि उत्तमर्ण के प्रमाद के कारण आधि का विनाश अथवा विकृति होती है तो धन की वृद्धि रुक जाती है-

उपचारस्तथैवास्य लाभहानिर्विपर्यये।

प्रमादाद्धनिनस्तद्वदाधौ विकृतिमागते।।[108]

मनु के अनुसार उपकारयुक्त धरोहर पर वृद्धि नहीं लेना चाहिए और ऋण की समाप्ति पर बहुत अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी उस सम्पत्ति को न किसी को दे और न ही बेचें –

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्।

सोपकारे भुक्ते कृताधिभोगस्यैव वृद्धिहानौ।।[109]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार यदि धनिक के दोष के कारण कोई आधि व्यवहार के अयोग्य हो जाती है तब भी धनिक को वृद्धि प्राप्त नहीं होती है। कुल्लूकभट्ट ने मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि भूमि, गोधन आदि का भोग के लिए बन्धक रूप में रखने पर उत्तमर्ण को वृद्धि नहीं प्राप्त होती है।[110] नारद ने भी कहा है जो उत्तमर्ण आधि के स्वामी की अनुमति के बिना आधि का भोग करता है उसकी आधी वृद्धि नष्ट हो जाती है और यह नष्ट अंश क्षतिपूर्ति के रूप में चला जाता है-

य: स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुंक्ते विचक्षण: ।

तेनार्द्धवृद्धिर्भोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृति: ।।

---

[106] वी.मि.पृ.२२६, व्य म. पृ. १०५, व्य.नि. २३४, कृ.क.त. पृ.२९३

[107] या. स्मृ. व्यवहाराध्याय/५९

[108] ना.स्मृ.४/१/१२५-२६

[109] म.स्मृ.८/१४३

[110] भूमिगोधनादौ भोगार्थं बन्धके दत्ते धनप्रयोगभवामनन्तरोक्तां वृद्दिमुत्तमर्णो न लभते।

कात्यायन के अनुसार यदि कोई व्यक्ति आधि के स्वामी की अनुमति के बिना और समझौते के प्रतिकूल आधि का उपभोग करता है तो उसे कर्मफल देना चाहिए अथवा वह वृद्धि नहीं प्राप्त कर सकता-

अकाममननुज्ञातमाधिं य: कर्म कारयेत्।

भोक्ता कर्मफलं दाप्यो वृद्धिं वा लभते न स: ।।[111]

वाचस्पति मिश्र ने कात्यायन के इस कथन का अभिप्राय बताते हुए कहा है कि बिना अनुमति के भोग करने पर सम्पूर्ण वृद्धि की हानि होती है लेकिन यदि आधि के स्वामी की इच्छा से भोग करता है तो आधी वृद्धि की हानि होती है। गोप्य आधि के भोग करने पर भी सम्पूर्ण वृद्धि की हानि होती है। नारद के अनुसार राजकृत और दैवकृत के अतिरिक्त उत्तमर्ण के प्रमादवश आधि के विनष्ट होने पर मूलधन की भी हानि हो जाती है-

विनष्टे मूलहानि: स्याद्दैवराजकृताद्दते।[112]

वृहस्पति के अनुसार भोग के कारण यदि आधि नष्ट हो जाये मूलधन की हानि होती है लेकिन यदि कोई बहुमूल्य वस्तु नष्ट होती है तो उपभोगकर्ता द्वारा आधि के स्वामी को वह वस्तु अवश्य लौटानी चाहिए –

भुक्ते चासारतां प्राप्ते मूलहानि: प्रजायते।

बहुमूल्यं यत्र नष्टमृणिकं तत्र तोषयेत्।।[113]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार वृहस्पति का यह कथन अवृद्धि ऋण के विषय में है। इसी विषय में व्यास का कथन है कि उत्तमर्ण के दोष के कारण स्वर्ण आदि आधि के नष्ट होने पर उत्तमर्ण विनष्ट आधि का मूल्य देकर सवृद्धि मूलधन को प्राप्त करे-

ग्रहीतृदोषान्नष्टश्चेद्धन्यो हेमादिको भवेत् ।

ऋणं सलाभं संशोध्य तन्मूल्यं दाप्यते धनी।।[114]

---

[111] का. स्मृ. ५२५, व्य.नि. पृ.२३५-२३६, व्य.म. पृ.१०५, वी.मि. २३६-२३७, कृक.त.२९३-९४

[112]ना. स्मृ.४/१२६, कृ.क.त .पृ. २९४, व्य.म. पृ. १०५,

[113] वी.मि. पृ.२३८, व्य.म. पृ.१०५, वी. मि. पृ. २५ वि.से. पृ.१७, कृ.क.त. पृ. २९४.

व्यास के इस कथन के सम्बन्ध में वीरमित्रोदय में कहा गया है कि उत्तमर्ण द्वारा विनष्ट आधि का मूल्य न देने पर मूलधन भी नष्ट हो जाता है।[115] दैवराजकृत दोष के कारण आधि के नष्ट होने सम्बन्ध में वृहस्पति का कथन है कि दैव और राजकृत दोष के कारण आधि का विनाश होने पर अधमर्ण उत्तमर्ण को अन्य आधि दे अन्यथा अधर्मण धनिक का ऋण अदा कर दे-

दैवराजोपघातेन यद्याधिर्नाशमाप्नुयात्।

तत्राऽन्यं दाप्यते बन्धं शोधयेद्वा धनं ऋणी।।[116]

व्यास के अनुसार दैवराजकृत अपघात में धनिक का कोई दोष नहीं होता इसलिए दूसरी आधि अधमर्ण दे-

दैवराजोपघाते तु न दोषो धनिन: क्वचित्।[117]

इसका कारण व्यवहारप्रकाश में दैवयोग विनाश का कारण अग्नि, जल आदि बताया गया है और राज दोष की व्याख्या अधमर्ण के स्वयंकृत अपराध के कारण हुए राज अपघात के रूप में की गई है।[118] नारद के अनुसार यत्नपूर्वक आधि की रक्षा करते हुए भी कालपूर्ति के अनन्तर आधि नष्ट हो सकती है। इसलिए दूसरी आधि रखनी चाहिए या धनिक को उसका धन वापस कर देना चाहिए –

रक्ष्यमाणोऽपि चेदाधि: कालेनेयादसारताम्।

आधिरन्योथ वा कार्यो देयं वा धनिने धनम्।।[119]

---

[114] व्य.प्र. पृ .२१७, व्य.नि.पृ.२३५, कृ.क.त. पृ.२९४, वि. रत्ना. पृ.२५, वि.से. पृ१७, वी.मि.पृ. २३८., व्य. म. पृ.१०५,

[115] वी.मि. पृ. २३८.

[116] व्य.प्र. पृ.२१४, कृ.क.त.पृ.२९५, वि. रत्ना. पृ.२५, व्य.म.पृ. १०६

[117] व्य. म. पृ.१०६

[118]व्य. नि. पृ.२१४

[119] ना. स्मृ.४/१३०,व्य.नि. पृ.२३७, वी.मि.पृ. २३९, व्य. प्र. पृ.२१५, कृ.क.त. पृ.२९५, स्मृ.च. पृ. ३२२, वि.रत्ना. पृ. २६

विष्णु के अनुसार यदि बन्धक के रूप में रखी गई भूमि गोचर्म हो या अतिविस्तृत हो या ऋणी एक ही वस्तु को पहले ऋणदाता का ऋण चुकाये बिना ही दूसरे को बन्धक के रूप में दे दे तो उसे शरीर- दण्ड या कारागार में डाला जा सकता है और यदि बन्धक के रूप में रखी गई वस्तु कम हो तो १६ सुवर्ण का दण्ड दिया जाता है-**गोचर्ममात्राधिकां भुवमन्यस्याऽऽधीकृतां तस्मादनिर्मोच्याऽन्यस्य य: प्रयच्छति स वध्य: ऊनाचेत्षोडश सुवर्णा दण्ड्य:**। वाचस्पति मिश्र के अनुसार पारिजात, रत्नाकर, स्मृतिसार आदि ग्रंथों में भी विष्णु के इस कथन का समर्थन किया गया है।आधि की प्रबलता के सम्बन्ध में कात्यायन का कथन है कि यदि भूमि ,घर या गांव की सीमा सम्पूर्ण जानकारी लिखित रूप में हो तो वह आधि प्रबल अथवा बलवान् हो जाती है

मर्यादाविहित क्षेत्र ग्राम वापि यदा भवेत्।

ग्रामादयश्च लिख्यन्ते तदा सिद्धिमवाप्नुयात्।। [120]

केवल साक्षियों के समक्ष की अपेक्षा लिखित प्रमाण प्रबल होता है[121] और यदि एक ही आधि कई जगह बन्धक रखी गई हो तो जो पहले अधिकार कर लेता है उसको ही वरीयता मिलती है। इस सम्बन्ध में विष्णु का कथन है दो व्यक्तियों को आधि बन्धक रखने से दोनों में यदि विवाद होता है तो बिना बलप्रयोग के जिसके पास भुक्ति होती है वह विजयी होता है,भोग के समानकाल होने अर्थात् दोनों द्वारा समान अवधि के भोग होने पर दोनों को समान भाग प्राप्त होता है। दान और विक्रय में भी यही विधि उचित है-

ययोर्निक्षिप्त आधिस्तौ विवदेतां यदा नरौ।

यस्य भुक्तिर्जयस्तस्य बलात्कारं बिना भवेत्।।[122]

तुल्यकालोपभोगौ चेद्भोगोऽपि समको भवेत्।

प्रदाने विक्रये चैव विधिरेष प्रकीर्त्तित: ।।[123]

---

[120] का. स्मृ. ५५२

[121] का. स्मृ.५१८

[122] वी.मि. पृ. २३९, व्य.प्र. पृ. २१८, स्मृ.च. पृ. ३३६, वि.से. पृ. १९

वाचस्पति मिश्र के अनुसार दोनों पक्षों के प्रमाणों के समान होने पर अदृष्ट प्रमाण के आधार पर निर्णय करना चाहिए। व्यवहारप्रकाश के अनुसार जहां दोनों के पास भोग प्रमाण हो वहां जिसके पास प्रथमत: भोग हो आधि उसकी होती है।[124] कात्यायन के अनुसार यदि धनिक के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति की असावधानी से जीवित आधि मर जाती है या असक्षम हो जाती है तब भी ऋणी धनिक को दूसरी आधि बन्धक के लिए दे अन्यथा ऋणी ऋण से मुक्त नहीं होता है-

न चेद्धनिकदोषेण निष्पतेत म्रियेत वा।

आधिमन्यं स दाप्य: स्याद्दृणान्मुच्येत नर्णिक: ।।[125]

वाचस्पति के अनुसार गौ आदि को बन्धक की अवस्था में मृत्यु हो जाने पर मूलधन की हानि हो जाती है। ऋणी की मृत्यु होने के सम्बन्ध में यह विधान है कि यदि ऋणी की मृत्यु हो जाये तो ऋणदाता उस आधि के सम्बन्ध में राजा को सूचित करे और राजा उस आधि को बेंच दे तथा ऋणी विक्रय से प्राप्त धन में अपनी वृद्धि सहित मूलधन को लेकर शेष धन राजा को लौटा दे-

आधाता यत्र नष्ट: स्याद्धनी बन्धं निवेदयेत्।

राज्ञस्त्वृण: स विज्ञेयो विक्रेय इति धारणा।।[126]

सवृद्धिकं गृहीत्वा तु शेषं राजन्यथार्प्पयेत्।[127]

विवादरत्नाकर में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि ऋणी के यदि कोई बन्धु अथवा अधिकारी न हो तभी राजा को सूचित करना चाहिए।[128]

---

[123] कृ.क.त. पृ.३०१, वि.से. पृ. १९

[124]व्य. प्र. पृ.२१८

[125] व्य.नि. पृ.२३८, वी.मि. पृ.२३७, व्य.म. पृ.१०६, व्य.प्र. पृ. २१५, कृ.क.त. पृ. २९५, स्मृ.च. पृ. ३२३, वि.रत्ना. पृ. २६

[126] व्य. नि. पृ२३५

[127] कृ.क.त.पृ.३००, स्मृ. च. पृ.३३३, वि. रत्ना. ३४, वी.मि. पृ. २४४

याज्ञवल्क्य के अनुसार आधि को बन्धक रखने के सम्बन्ध में एक बार समझौता हो जाने के बाद ऋणी उस आधि को समय से पूर्व वापस नहीं मांग सकता किन्तु यदि ऋणदाता समय के बीत जाने पर भी वापस नहीं करता है तो उसे चोर वाला दण्ड मिलता है।[129] कौटिल्य ने ऐसी स्थिति के लिए १२ पण का अर्थ दण्ड निर्धारित किया है-

उपस्थितस्याधिमप्रयच्छतो द्वादशपणो दण्डः ।[130]

वृहस्पति के अनुसार यदि कोई घर अथवा भूमि ऋणदाता के उपभोग के लिए निश्चित समय के लिए आधि के रूप में रखा गया हो तो जब तक निश्चित समय व्यतीत नहीं हो जाता ऋणदाता तब तक अपना मूलधन प्राप्त नहीं कर सकता और ऋणी भी अपनी आधि को वापस नहीं मांग सकता। निश्चित समय के व्यतीत हो जाने पर ऋणदाता अपना मूलधन ले सकता है और ऋणी अपनी आधि प्राप्त कर सकता है। लेकिन यदि ऋणदाता और ऋणी आपस में कोई निर्णय अथवा समझौता कर लेते हैं तो निश्चित समय के पूर्व भी आधि वापस ली जा सकती है और मूलधन प्राप्त किया जा सकता है-

यत्राहितं गृहं क्षेत्रं भोगे न प्रकर्षान्वितम्।

तत्रर्णी नाप्नुयाद्व्यं धनी चैव ऋणं तथा।।[131]

पूर्णे प्रकर्षे तत्स्वाम्यमुभयोरपि कीर्त्तितम्।।

अपूर्णे तु प्रकुर्य्यातां परस्परमतेन तौ।।[132]

मनु के अनुसार ऋण की समाप्ति पर बहुत अधिक समय के व्यतीत हो जाने पर भी उस आधि को ऋणदाता न तो बेचे और न ही किसी को दे -

---

[128] वि.रत्ना. पृ.३४

[129] या. स्मृ.२/६२

[130] अ.शा. २/१२/

[131] वि. रत्ना. पृ.३२, कृ.क.त.पृ.२९९, व्य.प्र. पृ. २१७,

[132] व्य.प्र. पृ. २१७, कृ.क.त.पृ.२९९, स्मृ. च. पृ३४४, वि. रत्ना. पृ.३२,

न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोस्ति न विक्रयः ।।[133]

वाचस्पतिमिश्र के अनुसार 'कालसंरोध' का अर्थ चिरकाल तक स्थिति है और 'निसर्ग' का अर्थ आधिकर्त्ता द्वारा अधिक धन की इच्छा से अन्य किसी को दे देना है। इस प्रकार इस श्लोक का अर्थ यह हुआ कि उत्तमर्ण आधि का निसर्ग अथवा विक्रय नहीं कर सकता। कृत्यकल्पतरु के अनुसार मनुस्मृति की यह व्यवस्था भोग्याधि के विषय में है और जो याज्ञवल्क्य ने जो यह कहा है कि 'वृद्धि के लिए प्रयुक्त धन वृद्धि सहित द्विगुणित हो जाने पर भी यदि अधमर्ण धन देकर आधि को मुक्त नहीं कराता, तो वह आधि नष्ट हो जाती है' यह कथन गोप्याधि के विषय में उक्त है। इसलिए मनु और याज्ञवल्क्य के विधानों में कोई मत वैभिन्न्य नहीं है। मनुस्मृति के इस श्लोक की व्याख्या टीकाकारों ने अनेक प्रकार से की है। कुल्लूक भट्ट के अनुसार गोप्य धरोहर के चिरकाल तक स्थित रहने और दोगुणा हो जाने पर भी मुक्त न कराये जाने पर न तो किसी अन्य को देना चाहिए और न ही विक्रय करना चाहिए। इस प्रकार जब आधि गोप्य प्रकार की हो अथवा धन वृद्धि सहित दोगुणा हो गया हो और निश्चित समय के बाद व्यतीत हो जाने पर भी किसी प्रकार की देन न हुई हो अथवा वृद्धि आदि भी न दे गई हो तो आधि का स्वत्व ऋणदाता को प्राप्त हो जाता है किन्तु यदि स्वामित्व के नष्ट होने की बात लिखित न हो और केवल धन और वृद्धि मिलने की ही बात हो तो आधि पर ऋणी का स्वामित्व बना रहता है। ऐसी परिस्थिति में ऋणी को आधि विक्रय करने का अधिकार होता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार जब वृद्धि सहित धन दूना हो गया हो या निश्चित समय बीत चुका हो अथवा ऋणी मर गया हो या धन लौटाने में सक्षम न हो तो ऋणदाता साक्षी तथा आप्त पुरुषों के समक्ष आधि को बेच अपना धन ग्रहण कर ले-

विना धारणाकाद्वपि विक्रीणीत ससाक्षिकम्।।[134]

---

[133]म. स्मृ. ८/१४३ कृ.क.त.पृ.२९८, स्मृ. च. पृ.३३२ वि. रत्ना. पृ.३१, वी.मि. पृ. २४३

[134] या. स्मृ२/६२

कात्यायन के अनुसार ऐसी परिस्थिति में ऋणदाता अपना धन लेकर शेष धन राजा अथवा न्यायालय को वापस कर दे।[135]

२.१.४. प्रतिभू

प्रतिभू का तात्पर्य है औपनिधिक अथवा जामिन। वाचस्पति मिश्र ने लग्नक का अर्थ प्रतिभू किया है। गौतम[136] एवं याज्ञवल्क्य[137] ने प्रातिभाव्य शब्द का प्रयोग किया है। मिताक्षराकार ने प्रातिभाव्य की व्याख्या इस प्रकार की है –

प्रातिभाव्यं नाम विश्वासार्थं पुरुषान्तरेण सह समय:।[138]

अर्थात् प्रतिभू वह व्यक्ति है जो यह विश्वास दिलाता है कि ऋणी नहीं देगा तो मैं दूंगा। इस प्रकार प्रतिभू में तीन व्यक्ति होते हैं- ऋणदाता, ऋणी और वह व्यक्ति जो विश्वास दिलाता है। याज्ञवल्क्य ने प्रतिभू के तीन प्रकार बताये हैं-

दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते।[139]

i. दर्शन
ii. प्रत्यय (विश्वास) और
iii. दान

इनकी व्याख्या मिताक्षराकार ने इस प्रकार किया है- 'दर्शन की अपेक्षा होने पर दिखलाऊंगा' यह *दर्शन* विषयक प्रतिभाव्य है- *'दर्शनापेक्षायां एनं दर्शयिष्यामीति'।* 'मेरे विश्वास से इस व्यक्ति को धन दे दो, यह तुम्हें वञ्चित नहीं करेगा, क्योंकि यह अमुक व्यक्ति का पुत्र है, इसकी भूमि प्राय: उर्वरा है, इसका गाँव भी

---

[135] का.स्मृ. ५२८-२९

[136] गो.ध. सू. १२/३८

[137] या.स्मृ. २/५३

[138] या.स्मृ.२/५३ पर मिताक्षरा।

[139] या. स्मृ.२/५३

अच्छा है' यह *विश्वास* विषयक प्रातिभाव्य है- *प्रत्यये विश्वासे, 'मम प्रत्ययेनास्य धनं प्रयच्छ, नायं त्वां वञ्चयिष्यत, यतोऽमुकस्य पुत्रोऽयं, उर्वराप्रायभूरस्य ग्रामवरोऽस्तीति'।* 'यदि यह अधमर्ण नहीं देगा, तब मैं दे दूंगा' यह दान विषयक प्रातिभाव्य है – *दाने 'यद्ययं न ददाति तदानीमहमेव दास्यामीति।'* नारद ने भी तीन प्रकार की प्रतिभू का उल्लेख किया है –

उपस्थानाय दानाय प्रत्ययाय तथैव च।

त्रिविध: प्रतिभूर्दृष्टस्त्रिष्वेवार्थेषु सूरिभि: ।।[140]

अर्थात् उपस्थान के लिए, दान के लिए और प्रत्यय अर्थात् विश्वास के लिए प्रतिभू तीन प्रकार की कही गई है। वृहस्पति ने प्रतिभू के चार प्रकार बताये है-

i. दर्शन
ii. प्रत्यय
iii. दान
iv. ऋणी के द्रव्य का अर्पण

दर्शने प्रत्यये दाने ऋणे द्रव्यार्पणे तथा।

चतु: प्रकार: प्रतिभू: शास्त्रे दृष्टो मनीषिभि: ।।[141]

वृहस्पति ने इन चारों के स्वरूप का भी वर्णन किया है। यथा 'दर्शन की अपेक्षा होने पर मैं इसे दिखाऊंगा' यह दर्शन प्रतिभू है। 'यह व्यक्ति सज्जन है' यह प्रत्यय प्रतिभू में कहा जाता है। 'मैं इस धन को दे दूंगा' यह ऋण दान प्रतिभू है। 'मैं अर्पण कर दूंगा' यह द्रव्यार्पण प्रतिभू है –

आहैको दर्शयाम्येनं साधुरेष परोब्रवीत्।

दाताहमेतद्रविणमर्पयाम्यपरो वदेत् ।।[142]

---

[140] ना. स्मृ. ४/११८

[141] वि.चि. पृ.१८, कृ.क.त.पृ.३०४, स्मृ.च. पृ. ३४६, वि. रत्ना. पृ.४०, वि.से. पृ.२०, व्य.प्र. पृ. २२५, वी.मि. पृ. २४७, व्य.नि. पृ.२४७

विवादचिन्तामणि, व्यवहारप्रकाश तथा विवादार्णवसेतु में ऋण दान और द्रव्यार्पण में भेद दर्शाते हुए कहा गया है कि द्रव्यार्पण में प्रतिभू कहता है कि यदि यह ऋणी धन नहीं देगा तो मैं अर्पित करूंगा इसमें दान निहित नहीं है ऋण दान में दान भी निहित है। इसलिए दोनों भिन्न-भिन्न हैं। स्मृतिचन्द्रिका में कहा गया है कि दान प्रतिभू में कहा जाता है कि 'यदि यह ऋणी ग्रहीत धन वृद्धि सहित नहीं देगा तो उसका धन मैं दूंगा'। द्रव्यार्पण में कहा जाता है कि 'यदि ऋणी ग्रहीत धन नहीं देगा तो मैं ऋणी का यह धन अर्थात् गृह, उपकरण आदि है उसे अर्पित करूंगा।'[143]

वृहस्पति द्वारा कथित इन चार प्रकार के प्रतिभू में से प्रथम दो प्रतिभू में यदि ऋणी उपस्थित नहीं होता अथवा उसकी विश्वसनीयता भंग होती है तो प्रतिभू ऋणी का धन देता है उसका पुत्र नहीं। अन्तिम दो प्रकार में प्रतिभू के न रहने पर उनके पुत्र ऋण अदा करेंगे-

आद्यौ तु वितथे दाप्यौ तत्कालावेदितं धनम्।

उत्तरौ तु विसंवादे तौ विना तत्सुतावपि।।[144]

कात्यायन के मत से दान, उपस्थान अर्थात् दर्शन, विश्वास, विवाद और शपथ में प्रतिभू उपस्थापित किये जा सकते हैं।–

दानोपस्थानविश्वासविवादशपथाय च।

लग्नकं दापयेद्देयं यथायोगं विपर्यये।।[145]

हारीत ने पांच प्रकार के प्रतिभू बताये हैं-

अभये प्रत्यये दाने उपस्थानेऽर्थदर्शने।

---

[142] स्मृ. च. पृ३४६, व्य.प्र. पृ. २२५, वी.मि. पृ. २४७, व्य.म. पृ.१०८,

[143] स्मृ. च. पृ. ३४६

[144] कृ.क.त.पृ.३०४, स्मृ.च. पृ.३४६, वि. रत्ना. पृ.४०, वि.से. पृ.२०, व्य.प्र. पृ. २२६, वी.मि. पृ. २४८, व्य.म. पृ.१०८, व्य.नि. पृ.२४७

[145] कृ.क.त.पृ.३०४, स्मृ. च. पृ.३४७, वि. रत्ना. पृ.४१, व्य.प्र. पृ. २२६, वी.मि. पृ. २४८,

पञ्चस्वेषु प्रकारेषु ग्राह्यो हि प्रतिभूर्बुधैः ।।[146]

प्रतिभू के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों ने विभिन्न व्यवस्थायें की हैं। वृहस्पति के अनुसार निम्न व्यक्ति प्रतिभू के योग्य नहीं है-

न स्वामी न च शत्रुः स्वामिनाऽधिकृतस्तथा।

निरुद्धो दण्डितश्चैव सन्दिग्धश्चैव न क्वचित्।।

नैव रिक्थी न मित्रं च न चैवात्यन्तवासिनः ।

राजकार्यनियुक्तश्च ये च प्रवजिता नराः ।।

नाशक्तो धनिने दातुं दण्डं राज्ञे च तत्सम्म्।

नाविज्ञातो गृहीतव्यः प्रतिभूत्वक्रियां प्रति।।[147]

याज्ञवल्क्य के अनुसार जब दर्शन विषय या प्रत्यय विषयक प्रतिभू मर जाये तो उसके पुत्र उत्तमर्ण को ऋण अदा न करें परन्तु दान विषयक प्रतिभू के मर जाने पर उसके पुत्र उत्तमर्ण को ऋण दें-

दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्याहिकोपि वा।

न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्दद्युर्दानाय यः स्थितः ।।[148]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार असाधु को साधु बताने वाले प्रत्यय प्रतिभू तथा दर्शन के लिए उपस्थित न कर सकने वाले दर्शन प्रतिभू ऋणी का धन दे, उनके पुत्र नहीं। दान और द्रव्यार्पण प्रतिभू में भी उसके पुत्र ऋण अदा करें। दर्शन प्रतिभू में दैव अथवा राज कृत के अतिरिक्त दर्शन अवधि के व्यतीत होने पर ऋण देय है। कात्यायन के अनुसार दर्शन प्रतिभू यदि ऋणी को निश्चित स्थान और समय पर उपस्थित नहीं कर पाता और कोई दैव अथवा राज कृत बाधा भी नहीं हो, तो प्रतिभू उस ऋण को अदा करे और यदि निश्चित समय

---

[146] स्मृ. च. पृ.३४६, व्य. प्र. पृ.२२५

[147] कृ.क.त. पृ.३०३, वि.रत्ना. पृ. ३९, व्य.नि. पृ.२४८

[148]या. स्मृ.२/५४, कृ.क.त.पृ.३०४, स्मृ.च. पृ.३५१, वि. रत्ना. पृ.४०, वि.से. पृ.२१, व्य.प्र. पृ. २२७, वी.मि. पृ. २५०, व्य.नि. पृ.२४९

व्यतीत हो जाय और ऋणी के उपस्थित न होने पर प्रतिभू ऋण अदा करे। यह नियम तब भी लागू होता है जब ऋणी की मृत्यु हो जाये-

दर्शनप्रतिभूर्यस्तु देशे काले न दर्शयेत्।

निबन्धमाहरेत्तत्र दैवराजकृताद्दते।।[149]

काले व्यतीते प्रतिभूर्यादि तन्नैव दर्शयेत्।

निबन्धं दापयेत्तत्तु प्रेते चैवं विधि: स्मृत: ।।[150]

विवादरत्नाकर[151] और विवादार्णवसेतु[152] के अनुसार दर्शन प्रतिभू जिस देश तथा काल में दर्शन कराने के लिए स्वीकृति प्रदान की थी दैव तथा राज कृत बाधा के उपस्थित न होने पर भी ऋणी को उपस्थित न कर पाने पर प्रतिभू ऋणी का धन अदा करे और यदि दैवराज कृत बाधा है तो उसके बीत जाने पर उपस्थित करे ऐसा करने में असमर्थ होने पर भी प्रतिभू ऋणी का धन अदा करे। कात्यायन के मतानुसार दर्शन प्रतिभू होने वाला व्यक्ति ऐसा करने के लिए ऋणी से कुछ प्रतिभूति स्वयं ग्रहण कर लेता है, तो उसका पुत्र भी ऋण अदा करे-

गृहीत्वा बन्धकं यत्र दर्शनस्य स्थितो भवेत्।

विभाव्यवादिना तत्र दाप्य: स्यात्तद्दणं सुत: ।।[153]

---

[149]कृ.क.त.पृ.३०४, स्मृ.च. पृ.३४८, वि. रत्ना. पृ.४०, वि.से. पृ.२१, व्य.प्र. पृ. २२६, वी.मि. पृ. २४९, व्य.म. पृ. १०८, व्य.नि. पृ.२४७

[150] वि. रत्ना. पृ.४२, वि.से. पृ.२१, व्य.प्र. पृ. २२७,

[151] वि.रत्ना. पृ.४२

[152] वि.से. पृ. २२

[153]कृ.क.त.पृ.३०५, स्मृ.च. पृ.३५३, वि. रत्ना. पृ.४३, वि.से. पृ.२१, व्य.प्र. पृ. २२८, वी.मि. पृ. २५१, व्य.म. पृ.१०९,

वाचस्पति मिश्र के अनुसार उसका पुत्र केवल मूलधन अदा करे ब्याज नहीं। इस सम्बन्ध में व्यास का कथन है पितामह का ऋण देने वाला पौत्र और प्रतिभू का पुत्र केवल मूलधन दे परन्तु उनके पुत्र मूलधन भी देने के उत्तरदायी नहीं है-

ऋणं पैतामहं पौत्र: प्रातिभाव्यागतं सुत: ।

समं दाप्यस्तत्सुतस्तु न दाप्य इति निश्चय: ।।[154]

यदि अनेक प्रतिभू हों तो उसके विषय में याज्ञवल्क्य का मत है कि वे अपने-अपने अंशों से उत्तमर्ण का धन दे। यदि एक ही अधमर्ण की छाया का आश्रयण सभी करते हों, तो इच्छा के अनुसार कोई एक भी उत्तमर्ण का पूरा धन दे दे-

बहव: स्युर्यदि स्वांशैर्दद्यु: प्रतिभुवो धनम्।

एकच्छायाश्रितेष्वेषु धनिकस्य यथारुचि।। [155]

मिताक्षराकार और वाचस्पति मिश्र के अनुसार यहां 'एकच्छाया' का अर्थ व्यवहारकाल में धनिक यदि यह कहे कि बहुत से प्रतिभू में से मैं किसी एक से ही सम्पूर्ण धन ग्रहण करूंगा तो एक ही प्रतिभू सम्पूर्ण धन दे सकता है अन्यथा सभी प्रतिभू अपना-अपना अंश दें। व्यवहारप्रकाश के अनुसार याज्ञवल्क्य का यह मत प्रत्ययादि विषयक प्रतिभू के विषय में है।[156]

२.१.५. ऋण के दान की विधि-

याज्ञवल्क्य ने ऋण के दान की विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि पिता के अन्य देश चले जाने, मर जाने अथवा असाध्य रोग से ग्रस्त हो जाने पर पुत्रादि के द्वारा ऋण का अपलाप करने पर भी साक्षी आदि प्रमाणों के द्वारा साधित ऋण को पुत्र और पौत्र को देना चाहिए –

पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुते तथा।

---

[154]कृ.क.त.पृ.३०६, स्मृ.च. पृ.३५४, वि. रत्ना. पृ.४४, वि.से. पृ.२२, व्य.प्र. पृ. २२९, वी.मि. पृ. २५०, व्य.म. पृ.१०८,

[155]या.स्मृ. २/५५, कृ.क.त.पृ.३०७, स्मृ.च. पृ.३५५, वि. रत्ना. पृ.४४, वि.से. पृ.२२, व्य.प्र. पृ. २२९, वी.मि. पृ. २५१, व्य.म. पृ.१०९,

[156]व्य. प्र. पृ.२२९

पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम्॥[157]

नारद का मत है कि पिता, पितृव्य, ज्येष्ठ भ्राता यदि ऋण लेकर विदेश चले जाते हैं अथवा खोजने पर भी नहीं मिलते तो बीस साल से पहले पुत्र को उनके ऋण का परिशोधन नहीं करना चाहिए –

नार्वाक्संवत्सराद्विंशात्पितरि प्रोषिते सुतः।

ऋणं दद्यात्पितृव्ये वा ज्येष्ठे भ्रातर्यथापि॥[158]

याज्ञवल्क्य ने लिखित ऋण की देयता के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए कहा है कि लेख्य में लिखित ऋण तीन पुरुषों द्वारा ही लौटाने योग्य होती है तथा आधि का भोग तब तक किया जा सकता है, जब तक ऋण वापस न किया जाय –

ऋणं लेख्यकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु।

आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते॥[159]

देय ऋण जिस समय जिस व्यक्ति द्वारा देय होता है उसके सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का मत है कि अविभक्त कुटुम्ब के प्रधान द्वारा द्वारा जो ऋण कुटुम्बहित के लिए लिया गया हो, उसकी मृत्यु के पश्चात् अथवा देशान्तरगमन पर उसके द्वारा कृत ऋण दायहरों को देना चाहिए –

अविभक्तैः कुटुम्बार्थं यद्दृणं तु कृतं भवेत्।

दद्युस्तद्दक्थिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि॥[160]

नारद के अनुसार आपत्काल के अतिरिक्त समय में भार्या द्वारा कृत ऋण का शोधन पति द्वारा नहीं करना चाहिए।पति के देशान्तरगमन पर कुटुम्ब के लिए पत्नी द्वारा लिया गया ऋण पति द्वारा अवश्य शोधित

---

[157] या. स्मृ.२/५०

[158] ना. स्मृ.४/१/१४

[159] या. स्मृ.२/९०

[160] या. स्मृ.२/४५

किया जाना चाहिए। धोबी, व्याध, गोपाल की पत्नियों द्वारा किया गया ऋण उनके पतियों को शोधित करना चाहिए ,क्योंकि उनका विश्वास उनके ऊपर है तथा उनका कुटुम्ब उन पर निर्भर है-

न भार्य्यया कृतमृणं कथंचिद्यत्पुरा भवेत्।

आपत्कालादृते पुंसः कुटुम्बार्थो हि दुस्तरः॥

अन्यत्र रजकव्याधगोपालशौंडिकयोषिताम्।

तेषां च तत्परावृत्तिः कुटुम्बं च तदाश्रयम्॥[161]

इसी प्रकार पत्नी को भी पतिकृत ऋण नहीं देना चाहिए। इस सम्बन्ध में नारद का मत है –

न स्त्री पतिकृतं दद्यादृणं पुत्रकृतं तथा।

मर्त्तुकामेन वा भर्त्रा उक्ता देयमृणं त्वया॥[162]

२.२.निक्षेप-

निक्षेप ऐसा धन है जिसे विश्वास के साथ किसी अन्य व्यक्ति के पास रखा जाता है। अमरकोशकार ने निक्षेप, उपनिधि एवं न्यास को पर्यायवाची माना है। धर्मशास्त्रों एवं स्मृतियों में इनके विभिन्न अर्थ किये गये हैं। याज्ञवल्क्य, नारद, मनु,[163] वसिष्ठ[164] एवं कौटिल्य[165] ने निक्षेप एवं उपनिधि को पृथक्-पृथक् बताया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार जो धन किसी पात्र-विशेष में रखकर उसकी संख्या अथवा स्वरूप को न बताते हुए रक्षा के लिए किसी अन्य के पास रख दिया जाता है, वह द्रव्य औपनिधिक कहलाता है और जो रखने का प्रकार है, उसे उपनिधि कहते हैं -

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते।

---

[161] ना. स्मृ.४/१/१८-१९

[162] वि.चि. पृ.२९

[163] म. स्मृ.८/१४९

[164] वसिष्ठ१६/१८

[165] अ. शा. ३/१२

द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत्॥

मिताक्षराकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है – **निक्षेपद्रव्यस्याधारभूतं द्रव्यान्तरं, वासनं करण्डादि, तत्स्थं वासनस्थं यद्द्रव्यं रूपसंख्यादिविशेषमनाख्याय अकथयित्वा मुद्रितमन्यस्य हस्ते रक्षणार्थं विस्रम्भादर्प्यते स्थाप्यते तद्द्रव्यमौपनिधिकमुच्यते।** मिताक्षराकार ने निक्षेप और उपनिधि में अंतर बताने के लिए नारद का मत उद्धृत किया है। नारद के अनुसार अपरिगणित और स्वरूपादि के ज्ञान से रहित तथा मुद्रांकित वस्तु को किसी के पास रखना उपनिधि है और परिगणित तथा स्वरूपादि के ज्ञान से युक्त वस्तु को किसी के पास रक्षार्थ रखना निक्षेप कहलाता है –

असंख्यात्मिविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते।

तज्ज्ञानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदु:॥

नारद के अनुसार निक्षेप का आशय बिना शंका के अपना द्रव्य किसी के पास विश्वासपूर्वक रखना है-

स्वं द्रव्यं यत्र विश्रम्भान्निक्षिपत्यविशंकित: ।

निक्षेपो नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधै:।।

स्मृतिचन्द्रिका में निक्षेप को स्पष्ट करने के लिए व्यास का मत उद्धृत किया गया है। व्यास के अनुसार – स्थान को त्यागने के कारण, राजभय और बन्धुजनों के द्वारा वञ्चित किये जाने के भय से अपने द्रव्य को किसी अन्य के पास रखना निक्षेप कहलाता है -

स्थानत्यागाद्राजभाद्दायादानां च वञ्चनात्।

स्वद्रव्यमर्प्यतेऽन्यस्य हस्ते निक्षेपमाह तम्॥

इसकी व्याख्या स्मृतिचन्द्रिकाकार ने इस प्रकार किया है–स्वमद्रव्यं स्वकीयद्रव्यं वस्त्रनिष्कादिमन्यस्य कुलजत्वादिगुणवतो हस्ते समर्प्यते ग्राहकसमक्षेवार्प्यते क्षेमार्थं यत्तत्र निक्षेप शब्दो वर्तत इत्यर्थ:। उपनिधि का लक्षण व्यास और वृहस्पति ने इस प्रकार बताया है-

अनाख्यातं व्यवहितं असंख्यातमदर्शितम्।

मुद्राङ्कितं च यद्दतं तदौपनिधिकं स्मृतम्॥

अर्थात अकथित, व्यवहित, अपरिगणित और बिना दिखाये तथा मुद्रांकित जो कुछ किसी अन्य के पास रखा जाता है वह उपनिधि है। कात्यायन ने उपनिधि को जमानत देने का एक सामान्य रूप माना है। यथा क्रय की गई वस्तु को किसी निमित्तवश विक्रेता के पास ही रहने देना, धरोहर रखना, आधि, एक के लिए दूसरे को जमानत देना, थोड़े समय के लिए किसी वस्तु को उधार रूप में लेना तथा किसी प्रतिनिधि को बिक्री के लिए सामान देना –

क्रय: प्रोषितनिक्षेपो बन्धोन्वाहितयाचितम्।

वैश्यवृत्त्यर्पितं चैव सोर्थ उपनिधि: स्मृत: ।।[166]

व्यवहारनिर्णयकार ने भी निक्षेप और उपनिधि में भेद प्रदर्शित करते हुए कहा है–उपनिधिरपि निक्षेपभेद एव। स्वरूपं संख्यां चानावेद्य करण्डकादिनिहितं मुद्रितं निक्षिप्तं उपनिधि:। तत्तथैव देयम्। स्वरूपसंख्या-मावेद्यार्पितं निक्षेप:। वीरमित्रोदयकार के अनुसार अपने द्रव्य को विश्वास के साथ दूसरे को देना निक्षेप है- तत्र निक्षेपो नाम स्वद्रव्यस्य विश्वासेन पुरुषान्तरे स्थापनम्। तथा उपनिधि अगणित द्रव्य का अन्य के पास स्थापन है। इस प्रकार अपरिगणित और स्वरूपादि के ज्ञान से रहित तथा मुद्रांकित वस्तु को किसी के पास रखना उपनिधि है और परिगणित तथा स्वरूपादि के ज्ञान से युक्त वस्तु को किसी के पास रक्षार्थ रखना निक्षेप कहलाता है।

स्मृतिकारों ने निक्षेप रखने वाले व्यक्ति की योग्यतायें गिनाई हैं। मनु के अनुसार कुलीन, आचारवान्, धर्मज्ञ, सत्यवादी, परिवारसम्पन्न, धनी तथा आर्य व्यक्ति के पास धरोहर रखें -

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।

महापक्षे धनिन्यार्थे निक्षेपं निक्षिपेद्बुध: ।।[167]

---

[166] का. स्मृ. ५९२, कृ.क.त.पृ.३३९, वि. रत्ना. पृ.८४,

[167]म. स्मृ. ८/१७९, कृ.क.त.पृ.३३९, वि. रत्ना. पृ.८५, वि.से. पृ.१३०, व्य.प्र. पृ. २४७, वी.मि. पृ. २८०, व्य.नि.पृ.२६६

वृहस्पति के अनुसार स्थान , गृह, गृहस्थ, उसके वर्ण, विविध गुण, सत्यता, शुचिता तथा बन्धु-बान्धवों की परीक्षा करके धरोहर रखनी चाहिए –

स्थानं गृहं गृहस्थं च तद्वर्णं च विविधान गुणान्।

सत्यं शौचं बन्धुजनं परीक्ष्य स्थापयेन्निधिम्॥[168]

कृत्यकल्पतरु, विवादरत्नाकर, विवादार्णवसेतु, व्यवहारप्रकाश, वीरमित्रोदय तथा व्यवहारनिर्णय में इस श्लोक में पठित निधि का अर्थ निक्षेप किया गया है तथा स्मृतिचन्द्रिका में निधि का अर्थ उपनिधि किया गया है।

नारद ने निक्षेप के दो प्रकार बताये हैं–एक साक्षी के साथ और दूसरा साक्षी के बिना। इन दोनों का प्रतिदान भी ग्रहण के समान है। अन्यथा दिव्य प्रमाण का प्रयोग करना पड़ता है-

स पुनर्द्विविध: प्रोक्त: साक्षिमानितरस्तथा।

प्रतिदानं तथैवास्य प्रत्यय: स्याद्विपर्यये।।[169]

स्मृतिकारों के अनुसार धरोहर रखने वाले व्यक्ति को सामान्यत: किसी लाभ की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु वह पुण्य का भागी अवश्य होता है और जो व्यक्ति धरोहर की ठीक प्रकार से रक्षा नहीं करता अथवा उसका दुरुपयोग करता है वह पाप का भागी होता है। वृहस्पति के अनुसार धरोहर का उपभोग करने वाले अथवा उसकी उपेक्षा करने वाले व्यक्ति को पुत्र तथा सुहृत् के वध का दोष लगता है तथा धरोहर रखने वाला धरोहर को नष्ट न करे और ग्रहण की गई धरोहर की यत्नपूर्वक रक्षा करे -

भर्तृद्रोहे यथा नार्या: पुंस: पुत्रसुहृद्वधे।

दोषो भवेत्तथा न्यासे भक्षितोपेक्षिते नृणाम्।।[170]

---

[168] कृ.क.त.पृ.३४०, स्मृ.च. पृ.४१५, वि. रत्ना. पृ.८५, वि.से. पृ.१३०, व्य. प्र. पृ.२४७, वी.मि. पृ. २८०, व्य.नि. पृ.२६७

[169] ना. स्मृ.४/२/६, कृ.क.त.पृ.३४०, वि.रत्ना. पृ.८५, वि.से. पृ.१३०, व्य.प्र. पृ. २४७, व्य. नि.पृ.२६६

न्यासद्रव्यं न गृह्णीयात्तन्नाशस्त्वयशस्कर: ।

गृहीतं पालयेद्यत्नात्सकृद्याचितमर्पयेत्।।[171]

वृहस्पति के अनुसार धरोहर जिस विधि से, जिसके द्वारा रखी गई हो, उसे उसी व्यक्ति को व्यक्ति वैसे ही लौटाया जाय अन्यथा नहीं -

स्थापितं येन विधिना येन यच्च यथाविधि।

तथैव तस्य दातव्यं न देयं प्रत्यनन्तरे।।[172]

मनु का मानना है कि मरने वाले निक्षेप्ता के प्रत्यन्तर (पुत्रादि) को धरोहर रखने वाला व्यक्ति स्वयं ही दे देता है तो उस पर न तो राजा के द्वारा और न ही निक्षेप्ता के बन्धुओं के द्वारा अभियोग करना चाहिए –

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे।

न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभि: ।।[173]

नारद के अनुसार धरोहर रखने वाले पुरुष के स्वयं के धन के साथ यदि निक्षिप्त वस्तु भी नष्ट हो जाये तो वह नष्ट निक्षेप्ता पुरुष का होता है। दैव और राजा के द्वारा नष्ट होने पर भी यही नियम है यदि बिना कुटिलता के यह होता है

ग्रहीतु: सह योर्थेन नष्टो नष्ट: स दायिन: ।

दैवराजकृते तद्वन्न चेत्तज्जैह्म्यकारितम्।।[174]

---

[170]कृ.क.त.पृ.३४०, स्मृ.च. पृ.४१७, वि. रत्ना. पृ.८६, वि.से. पृ.१३०, व्य.प्र. पृ. २४८, वी.मि. पृ. २८१, व्य.नि.पृ.२६६

[171] कृ.क.त.पृ.३४०, स्मृ.च. पृ.४१७, वि. रत्ना. पृ.८६, वि.से. पृ.१३०, व्य.प्र. पृ. २४८, वी.मि. पृ. २८१,

[172] कृ.क.त.पृ.३४१, स्मृ.च. पृ.४२१, वि. रत्ना. पृ.८७, वि.से. पृ.१३०, वी.मि. पृ. २८५,

[173] म. स्मृ. ८/१८६, कृ.क.त.पृ.३४२, स्मृ.च. पृ.४२४, वि. रत्ना. पृ.८७, वि.से. पृ.१३१, व्य.प्र. पृ. २५२, वी.मि. पृ. २८६, व्य. नि. पृ. २६७

इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र का कथन है कि राजा के द्वारा नष्ट होने पर भी यदि धरोहर रखने वाले की कुटिलता के कारण होता है तो ग्रहीता के द्वारा देय होगा अन्यथा नहीं। इस प्रकार ग्रहीता के अपराध के आधार धरोहर देय अथवा अदेय होगी अर्थात् ग्रहीता के अपराध पर धरोहर देय होगी और अपराध न होने पर देय नहीं होगी। मनु के अनुसार यदि रखी हुई धरोहर में से धरोहर रखने वाला कुछ भी नहीं लेता अथवा चोर चुरा ले जाय या जल बहा ले जाय अथवा अग्नि जला दे तो धरोहर रखने वाला निक्षेप्ता को कुछ भी न दे –

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव च।

न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किंचन।।[175]

नारद का भी यही अभिमत है।[176] राजा द्वारा नष्ट होने पर किन परिस्थितियों में ग्रहीता द्वारा धरोहर देय होगी इस सम्बन्ध में कात्यायन का कथन है जिस कार्य को उद्देश्य करके कोई वस्तु मांगी गई थी उस कार्य के पूर्ण हो जाने अथवा समय के समाप्त हो जाने पर भी ग्रहीता स्वामी को नहीं देता है तो राजा आदि के द्वारा नष्ट होने पर भी ग्रहीता द्वारा उस वस्तु का मूल्य आदि दिया जाना चाहिए -

प्राप्ते काले कृते कार्ये न दद्याद्याचितोपि सन्।

तस्मिन्नष्टे कृते वाथ ग्रहीता मूल्यमाहरेत्।।[177]

---

[174] ना. स्मृ. ४/२/९, कृ.क.त.पृ.३४२, स्मृ.च. पृ.४१७, वि. रत्ना. पृ.८८, वि.से. पृ.१३१, व्य.प्र. पृ. २४८, वी.मि. पृ. २८१,

[175]म. स्मृ.८/१८९, कृ.क.त.पृ.३४२, स्मृ.च. पृ.४१८, वि. रत्ना. पृ.८८, वि.से. पृ.१३१, व्य.प्र. पृ. २४८, वी.मि. पृ. २८२,

[176] चौरैर्हृतं जले मग्नमग्निना दग्धमेव च।

न दद्यात् यदि तस्मात् स न संहरति॥ ना.स्मृ. पृ. ४/२/१२

[177] कृ.क.त.पृ.३४८, स्मृ.च. पृ.४२८, वि.से. पृ.१३२, व्य.प्र. पृ. २५४, वी.मि. पृ. २८८,व्य.म.पृ.११९,

वृहस्पति के अनुसार धरोहर को रखने वाला यदि अपने धन से अलग करके धरोहर को रखे और धरोहर नष्ट हो जाय अथवा स्वामी के मांगने पर भी न दे, तो उसे वृद्धि सहित धरोहर देना चाहिए –

भेदेनोपेक्षया न्यासं ग्रहीता यदि नाशयेत्।

याच्यमानो न दद्याद्वा दाप्यं तत्सोदयं भवेत्।।[178]

इस संदर्भ में नारद का मत है यदि दाता के मांगने पर ग्रहीता निक्षेप को नहीं लौटाता है तो राजा उस व्यक्ति को दण्ड दे और वस्तु के नष्ट होने पर वस्तु का मूल्य दे और निक्षेप्ता की अनुमति के बिना निक्षिप्त द्रव्य के द्वारा ग्रहीता जो धन अर्जित करता है वह अर्थ और उसकी वृद्धि उससे ली जाती है और पुरुष दण्ड का भागी भी होता है -

याच्यमानस्तु यो दातुर्निक्षिप्तं न प्रयच्छति।

दण्ड्यः स राज्ञो भवति नष्टो दाप्यस्तु तत्समम्।।

यत्रार्थं साधयेत्तेन निक्षेप्तुरननुज्ञया।

तत्रापि दण्ड्यः स भवेत्तं च सोदयमाहरेत्।।[179]

मनु का मत है जो निक्षेप व्यास के अनुसार निक्षेप का उपभोग करने पर ग्रहीता वृद्धि सहित मूलधन दे, उपेक्षा करने पर वस्तु के मूल्य के बराबर दे तथा यदि ग्रहीता की अज्ञानतावश वस्तु नष्ट हो जाये, तो मूल्य से कुछ कम दे साथ ही जो कोई व्यक्ति दूसरे के धन का बहाने से हरण करता है परधन का हरण करने के लिए उकसाने वाले के साथ वह अनेक प्रकार के वधों द्वारा प्रत्यक्ष में ही मारा जाना चाहिए -

भक्षितं सोदयं दाप्यः समं दाप्य उपेक्षितम्।

किञ्चिन्न्यूनं प्रदाप्यः स्याद्द्रव्यमज्ञाननाशितम्।।[180]

---

[178]कृ.क.त.पृ.३४४, स्मृ.च. पृ.४१९, वि. रत्ना. पृ.९०, वि.से. पृ.१३२, व्य.प्र. पृ. २४९, वी.मि. पृ. २८२, व्य. म. पृ.११७ व्य.नि.पृ.२७१,

[179] ना. स्मृ. ४/२/७-८, कृ.क.त.पृ.५७, स्मृ.च. पृ.४२०, वि. रत्ना. पृ.९०, वि.से. पृ.१३२, व्य.प्र. पृ. २४९ वी. मि. पृ. २८३,

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ।

ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥[181]

नारद के अनुसार याचित, अन्वाहित, शिल्प, उपनिधि, न्यास और प्रतिन्यास में पूर्वोक्त विधि लागू होती है–

एष एव विधिर्दृष्टो याचितान्वाहितादिषु।

शिल्पिषूपनिधौ न्यासे प्रतिन्यासे तथैव च।।[182]

वृहस्पति का भी यही मत है। उनके अनुसार अन्वाहित, याचित और शिल्पिन्यास के संदर्भ में भी उपर्युक्त विधि धर्मानुकूल है - **अन्वाहिते याचितके शिल्पिन्यासे तथैवच।**

एष एवोदितो धर्मस्तथैव शरणागते।।[183]

मिताक्षराकार याचित, अन्वाहित, न्यास और प्रतिन्यास का अर्थ बताया है। विवाहादि उत्सवों में वस्त्र, अलंकारादि मांग कर ले आना 'याचित' कहलाता है।[184] यदि पहले किसी एक व्यक्ति के हाथ में रखा गया द्रव्य बाद में दूसरे के हाथ में धन स्वामी के लिए दो, ऐसा कहकर रख दिया, यह 'अन्वाहित' है।[185] गृहस्वामी को बिना दिखाये उसके परोक्ष में उसके घर के किसी सदस्य के हाथ में देना कि इसे गृहस्वामी

---

[180]कृ.क.त.पृ.५७, स्मृ.च. पृ.४२१, वि. रत्ना. पृ.९१, वि.से. पृ.१३०, व्य.प्र. पृ. २४९, वी.मि. पृ. २८१, व्य.नि. पृ.२७०

[181] म. स्मृ. ८/१९३, कृ.क.त.पृ.३४५, वि. रत्ना. पृ.९२, वि.से. पृ.१३३, व्य.प्र. पृ. २५०, व्य.नि.पृ.२७२

[182]ना. स्मृ. पृ४/२/१४, कृ.क.त.पृ.३४७, , वि. रत्ना. पृ.९६, , व्य.प्र. पृ. २५३, वी.मि. पृ. २८६, व्य.म. पृ.११८, व्य.नि.पृ.२६९,

[183] कृ.क.त.पृ.३४७, स्मृ.च. पृ.४२६, वि. रत्ना. पृ.९६, वि.से. पृ.१३३, व्य.प्र. पृ. २४८, वी.मि. पृ. २८१,

[184] विवाहाद्युत्सवेषु वस्त्रालंकारादि याचित्वाऽऽनीतं याचितम्। -या. स्मृ. २/६७ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[185] यदेकस्य हस्ते निहितं द्रव्यं तेनाप्यनु पश्चादन्यहस्ते स्वामिने देहीति निहितं तदन्वाहितम्। -या. स्मृ. २/६७ पर मिताक्षरा व्याख्या।

को समर्पित कर देना 'न्यास' कहलाता है।[186] प्रयोजन की अपेक्षा से परस्पर न्यास करना प्रतिन्यास कहलाता है जैसे 'तुम मेरे धन की रक्षा करो और मैं तुम्हारे धन की रक्षा करूंगा'।[187] वाचस्पति मिश्र ने शिल्पिन्यास की व्याख्या आभूषण के लिए शिल्पियों को दिये गये सुवर्णादि के रूप में की है – **शिल्पिन्यासेऽलङ्कारघटनार्थं शिल्पिषु समर्प्पिते सुवर्णादौ।**[188]

शिल्पिन्यास के सम्बन्ध में कात्यायन ने विशिष्ट नियम बताये हैं। यथा – यदि शिल्पिकार निश्चित समय के बाद सामग्री रख लेता है और दैवसंयोग से वह नष्ट हो जाती है तो वह मूल्य का देनदार होता है लेकिन यदि सामग्री दोषपूर्ण होने के कारण नष्ट हो जाये तो वह देनदार नहीं होता, किन्तु यदि सामग्री दोषरहित हो और शिल्पिकार द्वारा नष्ट हो जाय, तो वह नष्ट वस्तु का मूल्य देने का उत्तरदायी होता है –

यैस्तु संस्क्रियते न्यासो दिवसै: परिनिष्ठितै: ।
तदूर्ध्वं हापयञ्छिल्पी दाप्यो दैवहतं तु तत्।।
न्यासदोषाद्विनाशं स्याच्छिल्पिनं तं न दापयेत्।
दापयेच्छिल्पिदोषात्तत्संस्कारार्थं यदर्पितम्॥[189]

इस सन्दर्भ में विवादरत्नाकर में कहा गया है कि यदि भृतक से स्वामी के द्वारा अपेक्षित कर्म के विरुद्ध क्रिया से वस्तु नष्ट होती है तो देय है तथा यदि भृतक अपेक्षित कर्म के बाद वस्तु स्वामी को देना चाहता है परन्तु वस्तु को ग्रहण नहीं करता तत्पश्चात् वस्तु दैवदोष के कारण विनष्ट हो जाती है तो भृतक के द्वारा देय नहीं

---

[186] न्यासो नाम गृहस्वामिनेऽदर्शयित्वा तत्परोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रक्षेपो गृहस्वामिने समर्पणीयमिति। - या. स्मृ. २/६७ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[187] समक्षं तु समर्पणं निक्षेप:। प्रतिन्यासस्य च परस्परप्रयोजनापेक्षया 'त्वयेदं मदीयं रक्षणीयं, मयेदं त्वदीयं रक्ष्यते' इति न्यस्तस्य ग्रहणम्। - या. स्मृ. २/६७ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[188] वि. चि. पृ.३९

[189]कृ.क.त.पृ.३४९, स्मृ.च. पृ.४२६, वि. रत्ना. पृ.९८, व्य.प्र. पृ. २५३, वी.मि. पृ. २८४, व्य.म.पृ. ११९, व्य. नि. पृ.२७१.

होगा।[190] स्मृतिचन्द्रिकाकार के अनुसार जैसे धोने के लिए कोई व्यक्ति पुराने अथवा नये वस्त्र दे और धोते समय वे नष्ट हो जायें तो पुराने वस्त्र में रजक का कोई दोष नहीं क्योंकि वस्त्र जीर्णता के कारण नष्ट हो सकता है इसलिए कुछ न दें, नये वस्त्रों के नष्ट होने पर उसका मूल्य दे।[191] मनु के अनुसार जो निक्षेप को नहीं लौटाता तथा जो निक्षेप दिए बिना मांगता है, वह दोनों चोर की तरह अनुशासित करने योग्य हैं। उन्हें उस निक्षेप के बराबर दण्ड से दण्डित करना चाहिए -

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।

तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ तावत्समं दमम्।।[192]

स्मृतिचन्द्रिकाकार के अनुसार चोरवद्दण्ड का अर्थ प्रथम साहस है। मत्स्यपुराण में द्विगुण दण्ड का विधान किया गया है-

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।

तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ च द्विगुणं दमम्॥[193]

विवादरत्नाकर में इस द्विगुण दण्ड का कारण धनवान् तथा निकृष्ट आचार बताया गया है।[194] विवादचिन्तामणि[195] और विवादार्णवसेतु[196] के अनुसार मनोक्त समदण्ड निर्धन के लिए है तथा द्विगुण

---

[190] वि.रत्ना. पृ.९८

[191] स्मृ.च. पृ.४२

[192] कृ.क.त.पृ.३४५, स्मृ.च. पृ.४२३, वि. रत्ना. पृ.९१, वि.से. पृ.१३३, वी.मि. पृ. २८८, व्य.म.पृ.११७,

[193] कृ.क.त.पृ.३४५, वि. रत्ना. पृ.९१, वि.से. पृ.१३४, वी.मि. पृ. २८४,

[194] वि.रत्ना. पृ.९२

[195] वि. चि. पृ.४०

[196] वि.से. पृ. १३४

दण्ड निकृष्टाचरण के लिए है। वीरमित्रोदय[197] के अनुसार द्विगुण दण्ड का विधान दुर्वृत्तविषय तथा ब्राह्मणवर्ण के अतिरिक्त वर्ण के लिए है।

कात्यायन के अनुसार न्यासादि दूसरे के द्रव्य का उपभोग के कारण या उपेक्षा के कारण अथवा अज्ञानवश नष्ट हो जाने पर ऐसा करने वाला ही देने योग्य है उसके पुत्र आदि नहीं -

न्यासादिकं परद्रव्यं प्रभक्षितमुपेक्षितम्।

अज्ञाननाशितं चापि येन दाप्यः स एव तत्।।[198]

पुत्रादि द्वारा देय की अस्वीकृति का विधान गौतम ने भी किया है। यथा-**निध्यन्वाहितयाचितावक्रीतादयो नष्टाः सर्वाननिन्दितान्पुरुषापराधेन अवक्रीतं भाटकेनावनीतं सर्वान् पुत्रादीन् निरपराधान्।**

२.३. अस्वामिविक्रय-

अस्वामी अर्थात् किसी द्रव्य का स्वामी न होते हुए विक्रय करना ही अस्वामिविक्रय है। नारद, वृहस्पति[199] एवं व्यास[200] अग्निपुराण[201] के मतानुसार जब कोई व्यक्ति दूसरे के द्वारा निक्षिप्त द्रव्य, दूसरे का नष्ट द्रव्य प्राप्त करके अथवा अपहरण करके स्वामी के परोक्ष विक्रय करता है, उसको अस्वामिविक्रय कहते हैं –

---

[197] वी.मि. पृ. २८४

[198] कृ.क.त.पृ.३४९, स्मृ.च. पृ.४२०, वि. रत्ना. पृ.९९, वि.से. पृ.१३४, वी .मि.पृ.२८२.

[199]निक्षेपान्वाहितन्यासहृतयाचितबन्धकम्।

उपांशु येन विक्रीतस्वामी सोऽभिधीयते॥ -.क.क.त. पृ.३५०, स्मृ. च. पृ. ४०८, वि.रत्ना. पृ.१००, व्य. प्र. पृ.२५४, वी.मि. पृ.२९०

[200] याचितान्वाहितन्यासं हृत्वा चान्यस्य यद्धनम्।

विक्रीयते स्वाम्यभावे स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः॥ - वि.रत्ना. पृ.१००, वि. से. पृ.१३४, व्य. प्र. पृ.२५४, व्य. म. पृ. १२०, वी.मि. पृ.२९०.

[201] निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वा प्रहृत्य वा।

विक्रीयते परोक्षं यत् स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः॥ - अ. पु. २५३/१९

निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्यवा।

विक्रीयतेऽसमक्षं यत्स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रय:॥[202]

इस प्रकार की बिक्री करने वाला व्यक्ति अधिकृत विक्रेता न होने के कारण विवाद की स्थिति उत्पन्न होती है। अस्वामिविक्रय में दूसरे के धन को गुप्त रूप से दान देना या उसका देनदार होना भी सम्मिलित है और ऐसा किया गया व्यवहार अकृत के समान समझना चाहिए ऐसा नारद का मत है -

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।

अकृत: स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथास्थिति: ।।[203]

विवादचिन्तामणि में यह श्लोक नारदकृत कथित है परन्तु नारद स्मृति में यह श्लोक उपलब्ध नहीं होता अन्य निबन्ध ग्रंथों में यह मनु [204]एवं यम कृत कहा गया है। मिताक्षराकार के अनुसार विक्रीत शब्द दत्त अर्थात् विक्रय किया हुआ तथा आहित अर्थात् निक्षेप आदि की विधि से दूसरे के पास रखा धन इन दोनों का भी बोधक है। इसका कारण यह है कि उस प्रकार के धन को बेचता है तब भी वह अस्वामिविक्रय ही माना जायेगा, क्योंकि उस प्रकार के धन को भी बेचना अस्वामिविक्रय के समान ही है। इसका तात्पर्य यह है कि जो धन ग्राहक को दे दिया गया अथवा जो धन ग्रहीता के पास निक्षिप्त है, उसका वह व्यक्ति स्वामी नहीं है, केवल सुरक्षा के लिए उसके पास रखा है। इसी प्रकार दत्त स्थल में भी जब विक्रेता क्रेता को दे चुका है, तब उस धन का स्वामी क्रेता होगा, विक्रेता नहीं । अत: दोनों स्थानों पर अस्वामित्व मानना चाहिए।[205] इस संदर्भ में कात्यायन का मत है कि अस्वामिविक्रय, दान तथा आधि का प्रत्यावर्त्तन किया जा सकता है-

---

[202] ना. स्मृ. ७/१

[203] कृ.क.त.पृ.३५३, वि. रत्ना. पृ.१०४, वि.से. पृ.१३४, व्य.प्र. पृ. २४५, वी.मि. पृ. २९१,.व्य.नि.पृ.२७३

[204] म.स्मृ.८/१९९

[205]'विक्रीत' ग्रहणं दत्ताहितयोरुपलक्षणार्थम्; अस्वामिविक्रीतत्वेन तुल्यत्वात्।-या. स्मृ. व्यवहाराध्याय/ १६८ पर मिताक्षरा व्याख्या।

अस्वामिविक्रयं दानमाधिं च विनिवर्त्तयेत्।[206]

मनु का मत है स्वामी न होता हुआ भी जो व्यक्ति स्वामी की सम्मति के बिना उसकी सम्पत्ति को बेचता है, राजा उस स्वयं को चोर न मानने वाले व्यक्ति को चोर के समान मानते हुए साक्ष्य के रूप में ग्रहण न करे अर्थात् उसके द्वारा दिए गए साक्ष्य को न माने। यदि वस्तुओं का विक्रेता वस्तु के स्वामी का सम्बन्धी है तो छः सौ पण दण्ड का भागी होता है और यदि सम्बन्धी नहीं है और न ही वस्तु उसे उनसे मिली है तो वह चोर के पाप को प्राप्त करता है –

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।

न तन्नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम्।[207]

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षड्गतं दमम्।

निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम्।।[208]

वाचस्पति मिश्र ने विवादचिन्तामणि में इन श्लोकों की व्याख्या इस प्रकार की है। उन्होंने 'अवहार्य' की व्याख्या छोड़ दिया जाय के रूप में किया है। 'सान्वय' का अर्थ सम्बद्ध सम्पत्ति के मालिक के परिवार का, 'निरन्वय' अर्थात् जो स्वामी के परिवार का सदस्य नहीं है। 'अनपसर' अर्थात् उपहार आदि प्राप्ति का जो न्यायोचित तरीके है उसके विपरीत सम्पत्ति को प्राप्त करने वाला, 'षड्गतम्' का अर्थ 'उसे छः सौ पण का जुर्माना दिया जाय' है। विवादरत्नाकर में भी ये श्लोक उद्धृत हैं। वहां 'निरन्वय' शब्द की व्याख्या "उपयुक्त स्वामी से सम्बद्ध नहीं' के अर्थ में तथा 'अनपसर': का अर्थ स्वामी के घर से सम्पत्ति हटाना; वह व्यक्ति जो ऐसा करता है तथा दूसरे की चीजों का विक्रय करता है, उसे छः सौ पण का जुर्माना दिया जाना चाहिए।

---

[206] कृ.क.त.पृ.३५३, वि. रत्ना. पृ.१०४, वि.से. पृ.१३४, व्य.प्र. पृ. १५५, वी.मि. पृ. २९१,व्य.नि.पृ.२७४,

[207] म. स्मृ. ८/१९७, कृ.क.त.पृ.३५१ वि. रत्ना. पृ.१०३, वि.से. पृ.१३५, व्य.प्र. पृ. २५९, वी.मि.पृ.२९०, व्य.नि.पृ.२७४

[208] म. स्मृ. ८/१९८, कृ.क.त.पृ.३५२, वि. रत्ना. पृ.१०३, वि.से. पृ.१३५, व्य.प्र. पृ. २५९, व्य.नि.पृ.२७६

यदि बेचने वाला व्यक्ति स्वामी का सम्बन्धी नहीं है और विक्रेता जो स्वामी के परिवार से भिन्न व्यक्ति है उसके द्वारा सम्पत्ति हटा ली गई है तो वह चोर के समान दण्डनीय है। यदि वह सम्पत्ति किसी अन्य द्वारा हटाई गई है तथा उसका विक्रय स्वामी के सम्बन्धी ने किया है तो वह जुर्माना छ: सौ पण से भी अधिक हो सकता है। कृत्यकल्पतरुकार के अनुसार 'अपसर' का अर्थ स्वामी के अधिकार से वस्तुओं के हटाने को उचित कहना, क्योंकि उपहार आदि बताने के तरीके द्वारा सम्पत्ति को स्वामी के स्वामित्व से हटाया जाता है और वह जिसके पास कोई औचित्य नहीं है वह 'अनपसर' है और भी मनु के अनुसार स्वामी की जानकारी के बिना उसकी वस्तुओं को बेचने पर छ: सौ पण का जुर्माना करना चाहिए तथा स्वामी को जानकारी होने पर भी जानबूझकर बेचने पर चोर के समान दण्ड देना चाहिए। यथा हाथ कटवाया जा सकता है–

अनेन विधिना शास्य: कुर्वन्नस्वामिविक्रयम्।

अज्ञानाऽज्ञानपूर्वं तु चौरवद्दण्डमर्हति।।[209]

यदि किसी व्यक्ति ने वस्तु अस्वामी से क्रीत की हो तथा द्रव्य का पूर्वस्वामी उसके हाथ में द्रव्य को देखकर कहे कि 'यह मेरा है मुझे दो' और वह सत्य हो तो क्या करना चाहिए इस संदर्भ में वृहस्पति का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति आकर यह सिद्ध कर दे कि वह इस द्रव्य का पूर्वस्वामी है तो क्रेता जिससे वस्तु खरीदा है उसे उपस्थित करे देने पर दोष मुक्त माना जाता है –

पूर्वस्वामीति तद्द्रव्यं यदागत्य विधारयेत्।

तत्र मूलं दर्शनीयं क्रेतु: शुद्धिस्ततो भवेत्।।[210]

कात्यायन के मतानुसार क्रेता स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने के लिए यह सिद्ध करे कि उसने बिक्री खुले बाजार में की है अथवा वह विक्रेता को उपस्थित करे। विक्रेता को उपस्थित करने के लिए क्रेता को योजन की संख्या के अनुसार समय देना चाहिए। इस प्रकार विक्रेता को उपस्थित कर क्रेता उससे खरीदने की

---

[209] कृ.क.त.पृ.३५२, वि. रत्ना. पृ.१०३, वि.से. पृ.१३७, व्य.नि.पृ.२७६

[210] कृ.क.त.पृ.३५०, वि. रत्ना. पृ.१०१, वि.से. पृ.१३९, व्य.प्र. पृ. २५६, वी.मि. पृ. २९४,

बात करे तो उस विक्रेता से ही द्रव्य को प्राप्त करना चाहिए क्रेता से फिरर कोई प्रयोजन नहीं होता अर्थात् क्रेता दोषमुक्त माना जाता है, लेकिन यदि क्रेता व्यक्ति विक्रेता को उपस्थित नहीं कर पाता तो अपराध मुक्त होने के लिए उसे क्रय की शुद्धता सिद्ध करनी चाहिए -

प्रकाशं वा क्रयं कुर्यान्मूलं वापि समर्पयेत्।

मूलानयनकालस्तु देयो योजनसङ्ख्यया।।[211]

यदा मूलमुपन्यस्य पुनर्वादी वदेत्क्रयम्।

आहरेन्मूलमेवासौ न क्रयेण प्रयोजनम्।।[212]

व्यास का भी यही मत है। उनके अनुसार मूलधन के समाहरण कर लेने के पश्चात् क्रेता अभियोग अर्थात् अपराध का पात्र नहीं होता। मूल अर्थात् विक्रेता के साथ नाष्टिक (जिसका धन नष्ट हुआ ऐसा व्यक्ति) का विवाद होता है,यही नियम है अर्थात् क्रेता अपराध मुक्त माना जाता है -

मूले समाहृते क्रेता नाभियोज्य: कथंचन।

मूलेन सह वादस्तु नाष्टिकस्य तदा भवेत्।।[213]

वृहस्पति के अनुसार विक्रेता यदि व्यवहार में पराजित होता है अर्थात् वास्तविक स्वामी यह सिद्ध कर देता है कि यह मेरा धन है और विक्रेता ने स्वामी न होते हुए भी वस्तु क्रय किया है तो वह विक्रेता क्रेता को वस्तु का मूल्य, राजा को अर्थ दण्ड तथा वस्तु के स्वामी को उसकी वस्तु लौटानी पड़ती है –

विक्रेता दर्शितो यत्र हीयते व्यवहारत: ।

क्रेतृराज्ञोर्मूल्यदमौ प्रदद्यात्स्वामिने धनम्।।[214]

---

[211] कृ.क.त.पृ.३५१, वि. रत्ना. पृ.१०१, वि.से. पृ.१३९, व्य.नि.पृ.२७४,

[212] वि. रत्ना. पृ.१०१, वि.से. पृ.१३९, व्य.प्र. पृ. २५७, वी.मि. पृ. २९६,

[213] कृ.क.त.पृ.३५१, वि. रत्ना. पृ.१०२, वि.से. पृ.१३९, व्य.प्र. पृ. २५६, वी.मि. पृ. २९४, व्य.म.पृ.१२०

[214] कृ.क.त.पृ.३५१, वि. रत्ना. पृ.१०२, वि.से. पृ.१३९, व्य.प्र. पृ. २५६, वी.मि. पृ. २९२, व्य.म.पृ.१२०

नारद का मत है कि अस्वामी अर्थात् जिनके पास वस्तु बेचने के साधन न हों ऐसे दासादि द्वारा विक्रीत, गोपन मे विक्रीत या बहुत कम मूल्य में विक्रीत अथवा ऐसे असमय में बेचे हुए द्रव्य को जो खरीदता है वह दोष का भागी होता है। परन्तु अस्वामिविक्रीत द्रव्य को खरीदकर विक्रेता को प्रकाश में उपस्थापित करने से क्रेता शुद्ध माना जाता है लेकिन यदि क्रेता उपस्थापित नहीं कर पाता तो विक्रेता की तरह दोषभाक् होकर चोर के समान दण्ड का पात्र बनता है अर्थात् क्रेता तथा विक्रेता समान दोष के भागी होते हैं -

अस्वाम्यनुमताद्दासादसतश्च जनाद्रह: ।।

हीनमूल्यमवेलायां क्रीणंस्तद्दोषभाग्भवेत्।।[215]

न गूहेदागमं क्रेता शुद्धिरस्य तदागमात्।

विपर्यये तुल्यदोष: सर्वस्तद्दण्डमर्हति।।[216]

यदि क्रेता विक्रेता को उपस्थित नहीं कर पाता और साक्षी तथा दिव्यादि आदि प्रमाणों द्वारा क्रय वस्तु की शुद्धता को भी सिद्ध नहीं कर पाता है तो वही व्यक्ति अपराध के अनुसार धनी को धन तथा राजा को दण्डजन्य धन देगा -

अनुपस्थापयन्मूलं क्रयं च परिशोधयन्।

यथाभियोगं धनिने धनं दाप्यो दमं च स: ।।[217]

मनु के अनुसार वस्तु के विक्रेता को न जानते हुए भी क्रेता द्वारा वस्तु प्रत्यक्ष रूप से खरीदी गई है ऐसा स्पष्ट हो जाने पर वह क्रेता राजा के द्वारा दण्डनीय नहीं है तथा नाष्टिक अपना द्रव्य प्राप्त करने का अधिकारी है -

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितम्।

अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम्।।[218]

---

[215] कृ.क.त.पृ. ३५५, वि रत्ना.पृ.१०८, वि.से. पृ.१३८, व्य.नि.पृ.२७६

[216] कृ.क.त.पृ.३५६, वि. रत्ना. पृ.१०८, वि.से. पृ.१३९,

[217] कृ.क.त.पृ.३५६, वि. रत्ना. पृ.१०८, व्य.प्र. पृ. २५७, वी.मि. पृ. २९६, व्य.म.पृ.२२१, व्य.नि.पृ.२७६

मनोक्त इस श्लोक की व्याख्या विवादचिन्तामणिकार ने इस प्रकार की है –जहां विक्रय सभी के सामने हुआ है लेकिन वास्तविक स्वामी उस सम्पत्ति को अपनी बताता है और वह सम्पत्ति लौटाई नहीं जा सकती क्योंकि वह विदेश भेजी जा चुकी है तो फिर वह क्रेता दण्डनीय नहीं है क्योंकि उसने न्यायोचित तरीके से द्रव्य क्रय किया था परन्तु उसे उस द्रव्य का मूल्य वास्तविक स्वामी को चुकाना पड़ता है।[219] व्यवहारमयूखकार ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि विक्रेता द्वारा किया गया क्रय न्यायोचित है क्योंकि उसने सबके समक्ष खरीदा है, परन्तु वह विक्रेता को उपस्थित करने में अशक्त है तो द्रव्य का मूल्य वास्तविक स्वामी को चुकाना पड़ता है।[220] कात्यायन के अनुसार वास्तविक स्वामी अपनी सम्पत्ति वापस प्राप्त कर सकता है यदि वह साक्ष्य आदि प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध कर दे कि उसने वह सम्पत्ति किसी को दिया नहीं था अथवा त्यागा नहीं था या बेचा नहीं था -

नाष्टिकस्तत्र कुर्वीत तद्धनं ज्ञातृभि: स्वकम्।

अदत्तत्यक्तविक्रीतं कृत्वा स्वं लभते धनी।।[221]

वृहस्पति का मत है कि यदि मुकदमा प्रमाण से रहित हो तो राजा वादियों एवं प्रतिवादियों के कथनों के अनुसार समान, न्यून अथवा अधिक रूपों पर विचार करके निर्णय दे साथ ही यदि क्रय व्यापारियों, राजकर्मचारियों के समक्ष किया गया हो, किन्तु विक्रेता ऐसा हो जिसे क्रेता जानता न हो अथवा मर गया हो तो वास्तविक स्वामी अपनी वस्तु का आधा मूल्य देकर वस्तु प्राप्त कर सकता है इसका कारण यह है कि अज्ञात व्यक्ति से वस्तु खरीदना तथा अपनी वस्तु की रक्षा न करना दोनों दोषपूर्ण आचरण हैं -

प्रमाणहीनवादे तु पुरुषापेक्षया नृप: ।

---

[218]म.स्मृ.८/२०२, कृ.क.त.पृ.३५३, वि. रत्ना. पृ.१०३, वि.से. पृ.१३६, व्य.प्र. पृ. २५७, वी.मि. पृ. २९५,व्य. म. पृ.२२१

[219]वि. चि. पृ. ४३

[220] व्य. म. पृ.१२१

[221] कृ.क.त.पृ.३५३, वि. रत्ना. पृ.१०४, वि.से. पृ.१३६, व्य.प्र. पृ. २५६, वी.मि. पृ. २९४

समन्यूनाधिकत्वेन स्वयं कुर्याद्विनिर्णयम्।।[222]

वणिग्वीथीपरिगतं विज्ञातं राजपूरुषैः ।

अविज्ञाताश्रयात्क्रीतं विक्रेता यत्र वा मृतः ।।[223]

स्वामी दत्वार्द्धमूल्यं तु प्रगृह्णीत स्वकं धनम्।

अर्द्धं द्वयोर्पहृतं तत्र स्याद्व्यवहारतः ।।[224]

अविज्ञातक्रये दोषस्तथाचापरिपालनम्।

एतद्वयं समख्यातं द्रव्यहानिकरं बुधैः ।।[225]

लेकिन यदि नाष्टिक द्रव्य पर अपने स्वत्व को सिद्ध नहीं कर पाता है तो वह द्रव्य उस क्रेता का हो जाता है और नाष्टिक दण्ड का भागी होता है। इस सम्बन्ध में कात्यायन का मत है कि यदि नाष्टिक द्रव्य पर स्वत्व को सिद्ध नहीं कर पाता तो वह चोर के दण्डनीय है जिससे अन्य व्यक्ति ऐसा न करें –

यदि स्वं नैव कुरुते नाष्टिको ज्ञातृभिर्धनम्।

प्रसङ्गविनिवृत्त्यर्थं चौरवद्दण्डमर्हति।।[226]

वस्तु के स्वामी से ही वस्तु खरीदने पर भी कहीं -कहीं वह प्रामाणिक नहीं मानी जाती इस संदर्भ में वृहस्पति का मत है कि अधिकारियों द्वारा निर्धारित मूल्य पर वस्तु खरीदने पर कोई दोष नहीं होता परन्तु यदि वस्तु घर के अन्दर, ग्राम से बाहर, रात्रि में, निर्जन स्थान पर, दुष्ट व्यक्ति से अथवा अत्यन्त वस्तु के वास्तविक मूल्य से अत्यन्त कम मूल्य पर खरीदता है तो वह वैध नहीं माना जाता -

येन क्रीतं तु मूल्येन प्राग्ध्यक्षनिवेदितम्।

---

[222] कृ.क.त.पृ.३५६, वि.से. पृ.१३६, वी.मि. पृ. २९६,

[223] कृ.क.त.पृ.३५७, वि. रत्ना. पृ.१०९, वि.से. पृ.१३६, व्य.प्र. पृ. २५८, वी.मि. पृ. २९५, व्य.म.पृ,२२१

[224] कृ.क.त.पृ.३५६, वि. रत्ना. पृ.१०९, वि.से. पृ.१३७, वी.मि.पृ.२९५

[225] वि. रत्ना. पृ.१०९, वि.से. पृ.१३७, वी.मि. पृ. २९६,

[226] कृ.क.त.पृ.३५३, वि. रत्ना. पृ.१०५, वि.से. पृ.१३७, व्य.प्र. पृ. २५८, वी.मि. पृ. २९२

न तत्र विद्यते दोष:स्तेन: स्यादुपधिक्रये।।[227]

अन्तर्गृहे बहिर्ग्रामान्निश्युपांश्वऽसतो जनात्।

हीनमूल्यं तु यत्क्रीतं ज्ञेयोऽसावुपधिक्रय: ।।[228]

विष्णु का भी यही मत है।[229] जो व्यक्ति अपहृत या नष्ट अपना धन राजा को निवेदन किए बिना ही ग्रहण कर लेता है, वह दण्ड का भागी होगा इस संदर्भ में याज्ञवल्क्य का मत है जो व्यक्ति अपने अपहृत या भूले हुए धन के विषय में राजा को सूचित किए बिना ही अपहर्त्ता के हाथ से ग्रहण कर ले, तो वह व्यक्ति छियानवे पण से दण्ड के योग्य है -

हृतं प्रणष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात्।

अनिवेद्य नृपे दण्ड्य: स तु षण्णवतिं पणान्।।[230]

२.४. सम्भूयसमुत्थान-

सम्भूयसमुथान शब्द में 'सम्भूय' शब्द 'सम्' उपसर्ग के साथ 'भू' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है 'एक साथ होना' तथा 'समुत्थान' का अर्थ व्यापार या व्यवसाय होता है। इस प्रकार सम्भूयसमुत्थान का सम्मिलित अर्थ हुआ वह व्यापार या व्यवसाय जो मिलकर किया जाय। नारद स्मृति और अग्निपुराण[231] में सम्भूयसमुत्थान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जहां पर अनेक वणिक् मिलकर कार्य करते हैं तो उसे सम्भूयसमुत्थान संज्ञक व्यवहार पद कहते हैं –

वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते।

---

[227] कृ.क.त.पृ.३५५, वि. रत्ना. पृ.१०७, वि.से. पृ.१३८, व्य.प्र. पृ. २५५, वी.मि. पृ. २९१,

[228] कृ.क.त.पृ.३५५, वि. रत्ना. पृ.१०७, वि.से. पृ.१३८, व्य.प्र. पृ. २५५, वी.मि. पृ.२९२

[229] यद्यप्रकाशं हीनमूल्यमुपांशु क्रीणीयात्तदा क्रेता चौरवच्छास्य: ।

[230] या. स्मृ. व्यवहाराध्याय/ १७२, कृ.क.त.पृ.३५७, वि. रत्ना. पृ.११०, वि.से. पृ.१४० व्य.प्र. पृ. २५९, वी.मि. पृ. २९२, व्य.नि.पृ.२७६

[231] अ.पु. २५३/ १५

तत्सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्॥[232]

वीरमित्रोदयकार के अनुसार यहां 'वणिक्प्रभृतयो' शब्द से ऋत्विक, नट, नर्त्तक,कर्षक आदि का भी ग्रहण करना चाहिए – **'वणिक्प्रभृत्य इत्यनेन ऋत्विड्नटनर्त्तककर्षकादीनां ग्रहणम्।'** व्यवहारप्रकाशकार ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है- **'वणिजो वाणिज्यम्, ऋत्विजो यज्ञ, कृषिवला: कृषिं, हेमकारादय: शिल्पिन: शिल्पम्, नर्त्तकादयो नृत्यम्, ते यत् सम्भूय सहत्य कुर्वते तत्सम्भूय क्रियमाणं वाणिज्यादिकं सम्भूय समुत्तिष्ठन्ते समेधन्ते अनेनेति व्युत्पत्त्या सम्भूयसमुत्थानाख्यं व्यवहारपदमित्यर्थ:।'**[233] कात्यायन के अनुसार जब अनेक शिल्पी अथवा व्यापारी परस्पर मिलकर कोई कार्य अथवा व्यापार करते हैं तो वह कार्य अथवा व्यापार सम्भूयसमुत्थान कहलाता है –

समवेतास्तु ये केचिच्छिल्पिनो वणिजोऽपि वा।

अविभज्य पृथग्तै: प्राप्तं तत्र फलं समम्॥[234]

वृहस्पति ने सम्भूयसमुत्थान कर्म के लिए उपयुक्त व्यक्ति के संदर्भ में कहा है जो कुलीन, दक्ष, आलस्यरहित, प्राज्ञ, सिक्कों की जानकारी रखने वाले, आय-व्ययज्ञ, ईमानदार तथा शूर व्यक्ति हों, ऐसे व्यक्ति के साथ साझा करना चाहिए, इनके विपरीत व्यक्तियों के साथ नहीं –

कुलीनदक्षानलसै: प्राज्ञैर्नाणकवेदिभि:।

आयव्ययज्ञै: शुचिभि: शूरै: कुर्यात्सहक्रियाम्॥

अशक्तालसरोगार्त्तमन्दभाग्यनिराश्रयै:।

वाणिज्याद्या सहैतैस्तु न कर्त्तव्या: बुधै: क्रिया।।[235]

---

[232] ना. स्मृ.४/३/१

[233] व्य. प्र. पृ.२६२

[234] का. स्मृ. ६२४

[235]स्मृ. च. पृ.४२९-४३०, कृ.क.त. पृ.३५८, वि.रत्ना. पृ.१११, वि. से. पृ.१४०, व्य.प्र. पृ.२६१-६२, वी.मि. पृ.२९८, व्य. नि. पृ.२८०

वीरमित्रोदयकार ने श्लोक में पठित क्रिया की व्याख्या क्रय, कृषि, शिल्प, स्तेय, वाणिज्य के रूप में की है- 'क्रतुकृषिशिल्पस्तेयवाणिज्यरूपाम्'। व्यवहारप्रकाशकार का भी यही मत है।[236] स्मृतिचन्द्रिकाकार ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है–'**वाणिज्यकृषिशिल्पिक्रतुसङ्गीतस्तैन्यात्मिकामित्यर्थ। तत्र वाणिज्यक्रिया नाणकवेदिभिरायव्ययज्ञैर्सम्भूय कार्या, कृषिक्रिया त्वायव्ययज्ञै:, शिल्पिक्रिया सङ्गीतक्रिया च प्राज्ञै: क्रतुक्रिया कुलीनै: प्राज्ञश्शुचिभि:, स्तैन्यक्रिया शूरै:, वाणिज्यादिषड्विधाऽपि क्रिया दक्षै: अनलसैश्चेत्ववगन्तव्यम्। दक्षानलसगहणं भाग्याधिकव्याध्यपीडितानां प्रदर्शनीयम्। नाणकवेदिग्रहणं चाढ्यानाम्।**'[237] इस प्रकार अनेक व्यक्तियों द्वारा मिलकर लाभ की इच्छा से कार्य करना सम्भूयसमुत्थान है।

धर्मशास्त्रकारों ने सम्भूयसमुत्थान के लिए अनेक विधियों का विधान किया है। याज्ञवल्क्य के मत से लाभ की इच्छा से परस्पर मिलकर कार्य सम्पादित करने वाले वणिकों का व्यय किये गये धन के अनुसार अथवा कार्य करने से पहले लिखित संविदा के अनुसार लाभ तथा हानि का अधिकार जानना चाहिए-

समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म कुर्वताम्।

लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदाकृतौ।।[238]

विवादचिन्तामणिकार की व्याख्या के अनुसार कोई व्यवस्था न होने पर जिसने जितना मूलधन लगाया है उसके आधार पर लाभ और हानि दी जाय। पहले से कोई समझौता होने पर समझौते के अनुसार लाभ और हानि बांटी जाय।[239] यदि दैव तथा राज कृत मूलधन का क्षय तथा हानि हो तो उसके सम्बन्ध में वृहस्पति का कथन है कि जिसने जितना अंश लगाया है उसके अनुसार क्षय तथा हानि भी ग्रहण करे –

---

[236] व्य. प्र. पृ.२६२

[237] स्मृ. च. पृ.४२९-३०

[238]या. स्मृ. व्यवहाराध्याय/२५९, कृ.क.त.पृ.३५९,वि. रत्ना. पृ.११२, वि.से. पृ.१४०, व्य.प्र.पृ. २६२, वी. मि. पृ. २९९,

[239] वि. चि. पृ. ४५

क्षयो हानिर्यदा तत्र दैवराजकृताद्भवेत्।

सर्वेषामेव सा प्रोक्ता कल्पनीया यथांशत: ।।[240]

वृहस्पति ने इसके अपवाद भी बताये हैं। उनके अनुसार जब कोई व्यक्ति समझौते के विरुद्ध अथवा अनधिकृत रूप से या बिना किसी सलाह-मसविरे के कोई ऐसा कार्य कर देता है जिससे हानि होती है तो उसे सभी अंशधारियों का नुकसान अकेले अदा करना पड़ता है-

अनिर्दिष्टो वार्यमाण: प्रमादाद्यस्तु नाशयेत्।

तेनैव तद्भवेद्देयं सर्वेषां समवायिनाम्।।[241]

तथा यदि कोई साझेदार दैव अथवा राजकृत विपत्ति से साझे सामान की रक्षा करता है तो उसे विशेष पुरस्कार उसके विशिष्ट अंश के रूप में दिया जाता है, जो रक्षित की गई सम्पत्ति के दसवें भाग के रूप में होता है इसके बाद अन्य अंशधारी अपना अंश ग्रहण करें -

दैवराजभयाद्यस्तु स्वशक्त्या परिपालयेत्।

तस्यांशं दशमं दत्वा गृह्णीयुस्तेंशतोऽपरम् ॥[242]

नारद के अनुसार विपत्ति के समय जो व्यक्ति दैव, तस्कर, राजा, अग्नि, व्यसन आदि से अपनी शक्ति के अनुसार जिस वस्तु की रक्षा करता है उसका उसमें दसवां अंश देना चाहिए –

दैवतस्करराजाग्निव्यसने समुपस्थिते।

स्वशक्त्या रक्षयेद्यस्तु तस्यांशो दशम: स्मृत: ।।[243]

कात्यायन का कथन है चोर, सलिल और अग्नि से जिस द्रव्य की रक्षा करता है उस व्यक्ति को उसमें में से दशम अंश देना चाहिए यही नियम है -

---

[240] कृ.क.त.पृ.३६०, वि.से. पृ.१४१, व्य.प्र. पृ. २६३

[241] वि. रत्ना. पृ.१६३, वि.से. पृ.१४१, व्य.प्र. पृ. २६३, वी.मि. पृ. ३००

[242] स्मृ. च. पृ.४३३, कृ.क.त.पृ.३६०, वि. रत्ना. पृ.११४, वि.से. पृ.१४०, व्य.प्र. पृ. २६४, वी.मि. पृ. ३००

[243] कृ.क.त.पृ.३६१, वि. रत्ना. पृ.११४, वि.से. पृ.१४१, व्य.प्र. पृ. २६४, वी.मि. पृ. ३००,

चौरत: सलिलादग्नेर्द्रव्यं यस्तु समाहरेत्।

तस्यांशो दशमो देय: सर्वद्रव्येष्वयं विधि: ।।[244]

व्यास के अनुसार प्रत्येक साझेदार का यह कर्तव्य है कि वह अन्य साझेदारों के साथ, चाहे वे उपस्थित हों या अनुपस्थित, क्रय-विक्रय में ईमानदारी बरते –

समक्षमसमक्षं वाऽवञ्चयन्त: परस्परम्।

नानापण्यानुसारेण प्रकुर्यु: क्रयविक्रयौ।।।[245]

वृहस्पति का मत है कि जब यह सन्देह हो कि किसी साझेदार क्रय-विक्रय में वञ्चना की है तो उसे किसी शपथ अथवा साक्ष्यादि प्रमाणों से विशोधित करना चाहिए -

य: कश्चिद्वञ्चकस्तेषां विज्ञात: क्रयविक्रये।

शपथै: स विशोध्य: स्यात्सर्ववादेष्वयं विधि: ।।[246]

सम्भूयसमुत्थान कार्य में कोई व्यक्ति यदि वञ्चक हो तथा भाण्डादि-निरीक्षण में स्वयं असमर्थ हो उसके संदर्भ में याज्ञवल्क्य का मत है कि सम्मिलित होकर कार्य करने वालों में कोई वञ्चक हो, तो उसका लाभ लेकर समुदाय से बहिष्कृत कर देना चाहिए। भाण्डादि निरीक्षण कार्य में स्वयं असमर्थ व्यक्ति किसी अन्य विज्ञ व्यक्ति से निरीक्षणादि कार्य कराये। वणिक्कर्म के प्रतिपादन करने से ही ऋत्विक्, कृषिक तथा शिल्पविद्या से जीविका चलाने वालों के व्यवहार के प्रकार को भी कह दिया गया है-

जिह्मं त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोन्येन कारयेत्।

अनेन विधिराख्यात ऋत्विक्कर्षककर्मिणाम्।।[247]

---

[244] का. स्मृ. ६३१, स्मृ.च. पृ.४३३, कृ.क.त.पृ.३६१, वि. रत्ना. पृ.११४, वि.से. पृ.१४२, व्य.प्र. पृ. २६४, वी.मि. पृ. ३००

[245] कृ.क.त.पृ.३५९, वि. रत्ना. पृ.१६३, वि.से. पृ.१४१, व्य.प्र. पृ. २६३, वी.मि. पृ. २९९

[246] कृ.क.त.पृ.३६०, वि. रत्ना. पृ.११६३, वि.से. पृ.१४१, व्य.प्र. पृ. २६३,व्य.म. पृ.१२३

नारद के अनुसार अगर कोई व्यक्ति मर जाता है तो उसका दायाद उसका अंश लेता है। दायाद के अभाव में कोई समर्थ व्यक्ति जो उसका संस्कार करे या सब अपने सामर्थ्य को प्रकट कर संस्कार करने वाले उसका अंश ले सकते हैं –

एकस्य चेत्स्याद्व्यसनं दायादोऽस्य तदाप्नुयात्।

अन्यो वा सति दायादे शक्तश्चेत्सर्व एव वा।।[248]

तथा कोई अगर विदेश गया हुआ वणिक् भ्रमण के समय में ही मर जाता है तो उस देश का राजा उसके धन को मृत वणिक् के दायाद के आगमन तक अपनी देखभाल में रखता है –

कश्चिच्च संसरन्देशात्प्रेयादभ्यागतो वणिक्।

राजास्य भांडं तद्रक्षेद्यावद्दायाददर्शनम्।।[249]

वृहस्पति के अनुसार यदि कोई वणिक् मर जाता है तो राजा द्वारा नियुक्त राजपुरुष उसके धन को राजा के समक्ष प्रदर्शित करें उसकी मृत्यु के बाद यदि कोई व्यक्ति स्वयं को उसका दायाधिकारी सिद्ध करे तो वह उस मृतक की सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है-

यदा तत्र वणिक्कश्चित्प्रमीयेत प्रमादत: ।

तस्य भाण्डं दर्शनीयं नियुक्तै राजपूरुषै: ।।[250]

यदा कश्चित्समागच्छेत्तदा ऋक्थहरो नर: ।

स्वाम्यं विभावयेदन्यै: स तदा लब्धुमर्हति।।[251]

---

[247]कृ.क.त.पृ.३६४, वि. रत्ना. पृ.११५, वि.से. पृ.१४४, व्य.नि.पृ.२८२, व्य.प्र.पृ.२६३, वी.मि.पृ.२९९, व्य.म. पृ.१२३

[248] कृ.क.त.पृ.३६१, वि. रत्ना. पृ.११५, वि.से. पृ.१४२, व्य.प्र. पृ. २६४,व्य.नि.पृ.२८१

[249] कृ.क.त.पृ.३३२, वि. रत्ना. पृ.११५, वि.से. पृ.१४२, व्य.प्र. पृ. २६५,

[250] कृ.क.त.पृ.३६२, वि. रत्ना. पृ.११६, वि.से. पृ.१४२, व्य.प्र. पृ. २६५,

[251] कृ.क.त.पृ.३६२, वि. रत्ना. पृ.११६, वि.से. पृ.१४३, व्य.प्र. पृ. २६५,

नारद का मत है कि दायाद के अभाव में मृतक के बन्धुओं अथवा ज्ञातियों को मृतक का धन देना चाहिए। उनके अभाव में राजा दश वर्ष तक मृतक की सम्पत्ति को सुरक्षित रखे -

दायादे सति बन्धुभ्यो ज्ञातिभ्योऽथ तदर्पयेत्।

तदभावे सुगुप्तं तद्रक्षयेद्दश वत्सरान्।।[252]

विवादरत्नाकरकार का मानना है कि सर्वप्रथम सम्पत्ति का अधिकार बन्धुओं का होता है उनके न मिलने पर ज्ञातियों को देना चाहिए। हलायुधादि ने ज्ञाति के अभाव में मामा आदि का अधिकार माना है। विवादरत्नाकरकार ने बन्धुज्ञात की व्याख्या दायाद के अतिरिक्त निकट सम्बन्धी के रूप में की है।[253]रक्षा के निमित्त राजा वर्णानुसार शूद्र से धन का छ: अंश, वैश्य से नव भाग, क्षत्रिय से १०वां अंश तथा ब्राह्मण से धन का बीसवां भाग ग्रहण करे। लेकिन तीन वर्ष तक कोई भी अधिकारी व्यक्ति न आये तो राजा सम्पूर्ण धन ग्रहण कर ले परंतु ब्राह्मण का धन ब्राह्मण को ही दे ऐसा वृहस्पति का मानना है -

राजाऽऽददीत षड्भागं नवं दशमं तथा।

शूद्रविड्क्षत्रजातीनां विप्राद्ग्रह्णीत विंशकम्।।[254]

अब्दादूर्द्धं तु नागच्छेद्यत्र स्वामी कथञ्चन।

तदा गृह्णीत तद्राजा ब्रह्मस्वं ब्राह्मणं श्रयेत्।।[255]

इस संदर्भ में बौधायन का कथन है ब्राह्मण से भिन्न वर्ण के स्वामी का धन राजा एक वर्ष तक सुरक्षित रखे- **अब्राह्मणस्य प्रनष्टस्वामिकमृक्थं संवत्सरं परिपाल्य राजा हरेत्।**[256] विवादचिन्तामणिकार तथा कृत्यकल्पतरुकार के अनुसार यहां पर समय का जो एक वर्ष, तीन वर्ष अथवा दश वर्ष का जो विकल्प

---

[252] कृ.क.त.पृ.३६२, वि. रत्ना. पृ.११६, वि.से. पृ.१४३,

[253] वि. रत्ना. पृ.११६

[254] कृ.क.त.पृ.३६२, वि. रत्ना. पृ.११६, वि.से. पृ.१४३, व्य.प्र. पृ. २६५, व्य.नि.पृ.२८१

[255] कृ.क.त.पृ.३६२, वि. रत्ना. पृ.११६, वि. से. पृ.१४३, व्य.प्र. पृ. २६५, व्य.नि.पृ.२८२

[256] वि. चि.पृ.४८, कृ.क.त. पृ.३६३

दिया गया है वह आगमन के लिए मार्ग की दूरी तथा निकटता पर निर्भर करता है। नारद का कथन है कि जिस द्रव्य का कोई स्वामी नहीं हो या कोई मृत द्रव्य स्वामी का कोई दायाद नहीं है तो दश वर्ष तक रख कर राजा उस धन को अपने पास रख सकता है ऐसा करने से धर्म की हानि नहीं होती। ऋत्विकों के सम्बन्ध में भी यही विधि उपयुक्त है। जो दूसरा ऋत्विक प्रथम ऋत्विक का भार ग्रहण करता है वह उसका दक्षिणा भाग लेता है -

अस्वामिकमदायादं दशवर्षस्थितं तत:।

राजा तदाऽऽत्मसात्कुर्यादेवं धर्म्मो न हीयते।।[257]

ऋत्विजां व्यसने चैवमन्यस्तत्कर्म्म निस्तरेत्।

लभेत दक्षिणाभागं स तस्मात्संप्रकल्पितम्।।[258]

वृहस्पति का मत है कि यदि कोई साझेदार विपत्ति में है तो उसके बन्धु उसका कार्य कर सकते हैं अथवा अन्य साझेदार मिलकर कर सकते हैं -

एवं क्रियाप्रवृत्तानां यदा कश्चिद्विपद्यते।

तद्बन्धुना क्रिया कार्या सर्वैर्वा सहकारिभि: ।।[259]

इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का मत है कि सम्मिलित होकर कार्य करने वालों में कोई वञ्चक हो, तो उसका लाभ लेकर समुदाय से बहिष्कृत कर देना चाहिए। भाण्डादि निरीक्षण कार्य में स्वयं असमर्थ व्यक्ति किसी अन्य विज्ञ व्यक्ति से निरीक्षणादि कार्य कराये। वणिक्कर्म के प्रतिपादन करने से ही ऋत्विक्, कृषि तथा शिल्पविद्या से जीविका चलाने वालों के व्यवहार के प्रकार को भी कह दिया गया है-

जिह्मं त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोन्येन कारयेत्।

अनेन विधिराख्यात ऋत्विक्कर्षककर्मिणाम्।।[260]

---

[257] ना. स्मृ. ४/३/१८, कृ.क.त.पृ.३६३,वि. रत्ना. पृ.११७, वि.से. पृ.१४३, ब्य.नि.पृ.२८२

[258] ना. स्मृ. ४/३/८, कृ.क.त.पृ.३६३,वि. रत्ना. पृ.११७, वि.से. पृ.१४३, व्य.प्र. पृ. २६८,

[259] कृ.क.त.पृ.३६३,वि. रत्ना. पृ.११७, वि.से. पृ.१४४, वी.मि. पृ. ३०३

तथा मनु के अनुसार यज्ञ में नियुक्त हुआ ऋत्विक् यदि अपने कार्य को छोड़े तो उसके अनुरूप कार्य करने वाले दूसरे सहयोगी को उसका अंश दिया जाय तथा दक्षिणाओं के लिए दिए जाने पर अपने कर्म को छोड़ता हुआ ऋत्विक् अपने अंश को प्राप्त करे और समस्त कर्म को अन्य के द्वारा करवाया जाय –

ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत्।

तस्य कर्म्मानुरूपेण देयोंश: सह कर्तृभि: ।।

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन्।

कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव तु कारयेत्।।[261]

उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या विवादरत्नाकर में इस प्रकार की गई है -'स्वकर्म परिहापयेत्' की व्याख्या पूरे यज्ञ के लिए दिये जाने वाले भाग के विषय में तथा ऋत्विक् द्वारा सम्पन्न कार्यभाग के विषय में विचार करके व्याधि अथवा किसी कारणवश कार्य को छोड़ देने वाले ऋत्विक् को उसके द्वारा सम्पन्न कार्यभाग को उसका भाग दे देना चाहिए के रूप में की गई है। विवादचिन्तामणि में कहा गया है कि यदि ऋत्विक् बीमारी अथवा अन्य किसी दोष के कारण अपना काम करने में असमर्थ है तो उसे उसके द्वारा किए कार्य के अनुसार उसका भाग देना चाहिए। दूसरे श्लोक के विषय में विवादचिन्तामणि तथा विवादरत्नाकर में कहा गया है कि यदि मध्याह्न के कर्मों के बाद शुल्क लेकर ऋत्विक् अपना काम छोड़ देता है तो उसे सारा शुल्क वापस करना चाहिए तथा अपने पुत्र अथवा अन्यों द्वारा उस काम को पूरा करवाना चाहिए और भी मनु का कहना है कि सबसे मुख्य ऋत्विज् को आधा भाग, अन्य उस आधे का आधा, तीसरे चार ऋत्विक् को तृतीयांश तथा अन्तिम चार ऋत्विक् को चतुर्थांश दें -

सर्वेषामर्द्धिनो मुख्या द्वितीयास्तु तदर्द्धिन: ।

तृतीयिनिस्तृतीयास्तु चतुर्थाश्चैकपादिन:।।[262]

---

[260] कृ.क.त.पृ.३६४, वि.रत्ना. पृ.११५, वि.से. पृ.१४४, व्य.नि.पृ.२८२, व्य.प्र.पृ.२६३, वी.मि.पृ.२९९, व्य.म. पृ.१२३

[261] कृ.क.त.पृ.३६४, वि. रत्ना. पृ.११८, व्य.प्र. पृ. २६८, वी.मि. पृ. ३०२, व्य.नि.पृ,२८३

विवादचिन्तामणि में इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ में दक्षिणा के रूप में सौ गायें देने का विधान श्रुत है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह श्लोक 'किसको कितना भाग मिले' इस आकांक्षा के लिए उक्त है। चार मुख्य ऋत्विक् अर्थात् होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा उद्गाता आधे भाग के अधिकारी हैं अर्थात् ४८ गायें देना चाहिए। दूसरे मैत्रावरुण, प्रतिप्रष्ठाता, ब्रह्मणाच्छंसि तथा प्रस्तोता नामक ऋत्विकों को प्रथम भाग का आधा अर्थात् २४ गायें देनी चाहिए। तीसरे अच्छावाक, नेष्टा, अग्नीध्र तथा प्रतिहर्ता नामक ऋत्विकों को प्रथम भाग का तृतीय अंश अर्थात् १६ गायें देनी चाहिए। चतुर्थ वर्ग के ऋत्विक् अर्थात् ग्रावस्तोता, नेता, पोता तथा सुब्रह्मण्य को प्रथम का चतुर्थ भाग अर्थात् उनको १२ गायें देनी चाहिए। इस प्रकार १०० गायों का विभाजन चार वर्गों में करने का विधान 'अध्वर्युग्रुहपतिम्' इस श्रुति में कथित है। कृत्यकल्पतरु, विवादरत्नाकर, व्यवहारप्रकाश, वीरमित्रोदय तथा व्यवहारनिर्णय में भी ऐसा ही विभाजन किया गया है। विवादचिन्तामणिकार ने प्रथम आधे के लिए ४८ के विधान का कारण 'द्विन्यूनार्द्धभाजोऽग्रिमभागानुरोधात्तेन तेभ्यश्चतुर्भ्योऽष्टचत्वारिंशत' बताया है। व्यवहारप्रकाशकार ने इसका कारण भाग की पूर्णता के लिए बताया है –**'भागपरिपूरणोपपत्तये द्वाभ्यां न्यूनो ग्राह्यम्।'** मिताक्षराकार ने भी ऐसा ही विभाजन किया है।

तथा मनु ने आगे कहा है जिन वैदिक अनुष्ठानों के लिए जो प्रत्यंग दक्षिणायें कही गई हैं, सभी ऋत्विक् आपस में बांट लें –

यस्य कर्मणि यास्तु स्युरुक्ता: प्रत्यङ्गदक्षिणा: ।

स एव ताश्चाददीत भजेरन्सर्व एव वा।।[263]

विवादचिन्तामणि[264], विवादरत्नाकर[265] और कृत्यकल्पतरु[266] में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की गई है-'प्रत्यंगदक्षिणा' का तात्पर्य है एक विस्तृत यज्ञ के विशेष भाग के सम्बन्ध में विशेष ऋत्विक् के लिए

---

[262] म. स्मृ. ८/२१०, कृ.क.त.पृ.३६४, वि. रत्ना. पृ.११८, व्य.प्र. पृ. २६७, वी.मि. पृ. ३०१, व्य.नि.पृ.२८३

[263]म. स्मृ. ८/२०८, कृ.क.त.पृ.३६५, वि. रत्ना. पृ.११९, व्य.प्र. पृ. २६८,

[264] वि.चि. पृ.५०,

विहित दक्षिणा। उदाहरण के लिए अभिषेक के समय दो सुवर्ण-पात्र अध्वर्यु को दिये जाते हैं, इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि क्या समस्त वह दक्षिणा जिसके लिए विहित की गई है उसी एक ऋत्विक् द्वारा ग्रहण की जायेगी अथवा वह एक ऋत्विक् ही औपचारिक रूप से उसको लेगा तथा वह दक्षिणा उस कार्यक्रम में शामिल सभी पुरोहितों को समान रूप से बांट दी जायेगी। इसके निर्णय के लिए मनु ने निम्न विधान किया है – यज्ञ में आधान करने पर अध्वर्यु रथ को ग्रहण करे, ब्रह्मा तेज गति वाले घोड़े को, होता भी अश्व को तथा उद्गाता वहन करने वाली गाड़ी को ग्रहण करे -

रथं हरेदथाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम्।

होता चापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये।।[267]

शंखलिखित का मत है कि ऋत्विकों में से किसी के मृत्यु के प्राप्त हो जाने पर उसके स्थान पर अन्य ऋत्विक् को नियुक्त करना चाहिए। दूसरे नियुक्त ऋत्विक् को उसके कर्म के अनुसार देना चाहिए। जो दक्षिणा बचती है उसे अन्य जो ऋत्विक् पहले से हैं उनमें बांट देनी चाहिए। यदि कोई ऋत्विक् अकस्मात् किसी कार्यवश कहीं चला जाता है तो यजमान को उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। लेकिन यदि प्रवास के दौरान उसकी मृत्यु की अफवाह फैल जाय तो अन्य ऋत्विक् नियुक्त करके यज्ञ सम्पन्न करें और इस नियुक्त ऋत्विक् को ही दक्षिणा दें लेकिन यदि प्रथम ऋत्विक् वापस आ जाता है तो उसे भी उस दक्षिणा में से कुछ अंश दिया जाय। लेकिन यदि यजमान द्वारा निवारित किये जाने पर भी ऋत्विक् स्वेच्छा से प्रवास करे तो उसे १०० पण का दण्ड दिया जाय। इतना ही नहीं उस ऋत्विक् के गुरू को भी सौ पण का दण्ड दिया जाय। यदि ऋत्विक् के व्याधि से पीड़ित अथवा दुराचार आदि का पता चले तो उस ऋत्विक् को उपहार आदि से परितोषित करके अन्य ऋत्विक् की नियुक्ति करनी चाहिए। यदि कोई ऋत्विक् बिना किसी कारण के जानबूझकर किसी यजमान का यज्ञ करने से मना करता है तो उसे दो सौ पण का दण्ड देना

---

[265] वि.रत्ना. ११९

[266] कृ.क.त. पृ.३६६,

[267] कृ.क.त.पृ.३६६, वि. रत्ना. पृ.१२०, व्य.प्र. पृ. २६८, वी.मि. पृ. ३०१, व्य.नि.पृ.२८३

चाहिए। इसी प्रकार कोई यजमान किसी ऋत्विक् को स्वेच्छा से बिना किसी कारण के त्याग देता है तो उसे भी दो सौ पण दण्ड देना उचित है।[268] विवादरत्नाकरकार[269] के अनुसार ऋत्विक् की मृत्यु पर उसके दायाद को उसका भाग दायाद के कर्मानुसार देना चाहिए तथा उसके स्थान पर नियुक्त दूसरे ऋत्विक् को भी उसके कर्मानुसार ही दक्षिणा देनी चाहिए। विवादचिन्तामणि में दायाद का उल्लेख नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में मनु ने भी कहा है जो यजमान समर्थ ऋत्विक् का त्याग करता है तथा जो ऋत्विक् कर्मों में दोष रहित यजमान का त्याग करता है, उन दोनों के लिए सौ-सौ पण का दण्ड देना उचित है -

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं ऋत्वित्त्यजेद्यदि।

शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डं शतं शतम्।।[270]

विवादचिन्तामणि और कृत्यकल्पतरु तथा विवादरत्नाकरकार के अनुसार दो और सौ पण का विभेद अपराध इच्छा से कृत है अथवा अनिच्छा से तथा अपराधी धनवान् है अथवा निर्धन है इस पर निर्भर करता है।

नारद ने ऋत्विक् के तीन प्रकार बताये हैं प्रथम – क्रमानुसार पौरोहित्य कर्म करने वाला 'पूर्वजुष्ट', द्वितीय स्वयं वृत होने वाला 'स्वयंवृत' तथा तृतीय प्रीतिपूर्वक करने वाला 'यादृच्छिक। उनके अनुसार जो ऋत्विक् अपकार न करने वाले तथा अदुष्ट यजमान को छोड़ देता है तथा जो यजमान अदुष्ट ऋत्विक् को छोड़ देता है वे दोनों दण्डनीय हैं। क्रमागत पौरोहित्य करने वाले अर्थात् पूर्वजुष्ट तथा स्वयंवृत के लिए यह धर्म कहा गया है। यादृच्छिक भाव से पौरोहित्य करने वाले के त्याग से कोई पाप नहीं लगता -

ऋत्विक्क त्रिविधो ज्ञेयः पूर्वैर्जुष्टः स्वयंकृतः ।

यदृच्छया तु यः कुर्यादार्त्विज्यं प्रीतिपूर्वकम्।।[271]

---

[268] वि.चि. पृ.५१, वि. रत्ना. पृ.१२०-१२१, कृ.क.त. पृ ३६६-६७

[269] वि. रत्ना. पृ.१२०-१२१

[270] म. स्मृ. ८/३८८, कृ.क.त.पृ.३६८, वि. रत्ना. पृ.१२२, वी.मि. पृ. ३०३, व्य.नि.पृ.२८४

[271] ना. स्मृ. ४/३/१०, कृ.क.त.पृ.३६८,वि. रत्ना. पृ.१२२, वी.मि. पृ. ३०३, व्य.नि.पृ.२८२

ऋत्विग्याज्यमदुष्टं यस्त्यजेदनपकारिणम्।

अदुष्टश्चार्त्विजं याज्यो विनेयौ तावुभावपि।।[272]

क्रमागते स्वयं धर्मो वृतेष्वृत्विक्षु च स्वयम्।

यादृच्छिके तु संयोज्य त्यागे नास्त्येव किल्विषम्॥[273]

वृहस्पति का मत है कि क्रय और विक्रय स्थानीय नियम के अनुसार करना चाहिए, जो कुछ मिलकर दिया गया है उसे मिलकर ही ग्रहण करना चाहिए। जो व्यक्ति अपने लाभ को नहीं मांगता है वह उस लाभ से वञ्चित हो जाता है-

देशस्थित्या प्रदातव्यं ग्रहीतव्यं तथैव च।

समवेतैस्तु यद्दत्तं प्रार्थनीयं तथैव तत्।।

न याचते च यः कश्चिल्लाभात्स परिहीयते।[274]

कृषकों आदि के सम्भूयसमुत्थान के सम्बन्ध में वृहस्पति ने कहा है – भार ढोने वाले पशुओं, श्रम, बीज, क्षेत्र तथा उपकरण में समान व्यक्तियों के साथ ही कृषि कार्य करना चाहिए। वाह्य और बीज दोष से यदि कृषिकर्म में हानि होती है तो सभी साझेदारों को मिलकर क्षतिपूर्ति ग्रहण करना चाहिए -

श्रूयतां कर्षकादीनां विवादपदमुच्यते।

वाह्यकर्षकबीजाद्यैः क्षेत्रोपकरणेन च।

ये समानास्तु तैः सार्द्धं कृषिः कार्या विजानता।।

वाह्यबीजात्ययाद्यस्य क्षेत्रहानिः प्रजायते।

तेनैव सा प्रदातव्या सर्वेषां कृषिजीविनाम्।।[275]

---

[272] ना. स्मृ. ४/३/९, कृ.क.त.पृ.३६८,वि. रत्ना. पृ.१२२, वी.मि. पृ. ३०३

[273] ना. स्मृ. ४/३/११

[274] कृ.क.त.पृ.३६९, वि. रत्ना. पृ.१२३, वि.से. पृ.१४४, वी.मि.पृ.३००,

शिल्पियों के सम्बन्ध में वृहस्पति ने निम्न व्यवस्था की है -हिरण्य तथा अन्य धातुओं तथा सूत्र, काष्ठ, पत्थर और चर्म का विशोधन करने वाले शिल्पी कहलाते हैं। स्वर्णकार आदि जहां पर मिलकर शिल्पकार्य करते हैं वहां उनके कार्य के अनुसार उनका अंश मिलना चाहिए –

हिरण्यकुप्यसूत्राणां काष्ठपाषाणचर्मणाम्।

संस्कर्त्ता तु कलाभिज्ञ: शिल्पी चोक्तो मनीषिभि: ।।

हेमकारादयो यत्र शिल्पं सम्भूय कुर्वते।

कर्मानुरूपं निर्वेशं लभेरंस्ते यथांशत: ।।[276]

कात्यायन ने शिल्पियों के सम्बन्ध में कुछ विशेष व्यवस्थायें की हैं। उनके अनुसार यदि चार शिल्पी साथ कार्य कर रहे हों तो उनमें जो प्रशिक्षु हों उन्हें एक भाग, अनुभवी व्यक्ति को दो भाग, कुशल शिल्पियों को तीन तथा निर्देश देने वालों को चतुर्थ अंश प्राप्त होता है -

शिक्षकाभिज्ञकुशला आचार्यश्चेति शिल्पिन: ।

एकद्वित्रिचतुर्भागान्हरेयुस्ते तथोत्तरम्।।[277]

विवादचिन्तामणि में इसका कारण इन चारों के उत्तरोत्तर ज्ञानोत्कर्ष के कारण यह व्यवस्था की गई है।वृहस्पति के अनुसार देवगृह तथा चमड़े का उपकरण बनाने वाले यदि मिलकर कार्य करते हैं तो उनके अध्यक्ष को आधा भाग मिलना चाहिए। नर्त्तकों के लिए जो धर्म धर्मविदों द्वारा उदाहृत हैं, उनमें ताल मिलाने वाले को आधा तथा गाने वाले को भी उनके समान ही भाग मिलना चाहिए -

हर्म्यं देवगृहं वापी चार्मिकोपस्कराणि च।

---

[275]कृ.क.पृ.३६९,७०, वि.रत्ना.पृ.१२३-२४, वि.से. पृ.१४४-१४५, व्य.प्र. पृ.२६२,२६५, वी.मि. पृ.३०३, व्य. नि. पृ.२८५

[276] कृ.क.त.पृ.३७०, वि. रत्ना. पृ.१२४, वि.से. पृ.१४५, व्य.प्र. पृ. २६६, वी.मि. पृ. ३०४,व्य.नि.पृ.२८५

[277]कृ.क.त.पृ.३७१, वि.रत्ना. पृ.१२४, वि.से. पृ.१४५, व्य.प्र. पृ. २६६, वी.मि. पृ. ३०४, व्य. पृ.१२३, व्य. नि. पृ.२८६

सम्भूय कुर्वतां चैषां प्रमुख्योर्द्धांशमर्हति।।

नर्त्तकानामेष धर्मो धर्मविद्भिरुदाहृत: ।

तालज्ञो लभतेऽध्यर्द्धं गायनास्तु समांशिन: ।।[278]

इसी प्रकार यदि कोई राजा की आज्ञा युद्ध के समय शत्रु देश से कोई सम्पत्ति लाता है उसका छठां भाग राजा को देकर आपस में बांट ले। उसको बांटने का तरीका इस प्रकार है जो उनका अध्यक्ष हो उसे चतुर्थ भाग, अत्यन्त बहादुर को तीन भाग, समर्थ व्यक्ति को दो भाग तथा अन्य व्यक्तियों को एक भाग मिलता है–

अर्द्धमधिकं यत्र तदध्यर्द्धमंशं तालज्ञो लभत इत्यर्थ:

स्वाम्याज्ञया तु यच्चौरै: परदेशात्समाहृतम्।

राज्ञे दत्वा तु षड्भागं लभन्ते ते यथांशत: ।

चतुरोंशांस्ततो मुख्य: शूरस्त्र्यंशमवाप्नुयात्।।

समर्थस्तु हरेदूद्व्यंशं शेषास्त्वन्ये समांशिन:।।[279]

कात्यायन ने राजा को दश भाग देने की बात की है –

परराष्ट्राद्धनं यत्स्याच्चौरै: स्वाम्याज्ञया हृतम्।

राज्ञो दशांशमुद्धृत्य विभजेरन्यथाविधि।।[280]

छ: भाग तथा दश भाग की जो भिन्न व्यवस्था है वह राजा द्वारा संरक्षण प्रदान करने पर छठां भाग तथा न प्रदान करने पर दशवां भाग जानना चाहिए। ऐसा विवादचिन्तामणिकार, विवादरत्नाकरकार का मत है। यदि कोई व्यक्ति पकड़ा जाय तो उसे छुडाने में जो व्यय होता है उसे सबको वहन करना पड़ता है –

---

[278]कृ.क.त.पृ.३७१, वि. रत्ना. पृ.१२५, वि.से. पृ.१४५, व्य.प्र. पृ. २६६, वी.मि. पृ. ३०४, व्य.म. पृ.१२४, व्य. नि. पृ.२८६

[279] कृ.क.त.पृ.३७१, वि. रत्ना. पृ.१२५, वि.से. पृ.१४५, १४६, व्य.प्र. पृ. २६६, २६७, वी.मि. पृ. ३०५,

[280] कृ.क.त.पृ.३७१, वि. रत्ना. पृ.१२५, वि.से. पृ. १४६, व्य.प्र. पृ. २६७, वी.मि. पृ. ३०५,व्य.म.पृ.२८६

तेषां चेत्प्रसृतानां तु ग्रहणं य: समाप्नुयात्।

तन्मोक्षणार्थं यद्दत्तं तस्य कार्या समा क्रिया।।[281]

यदि व्यापारियों, कृषकों, चोरों एवं शिल्पियों में पहले से कोई समझौता न हुआ हो तो वे परस्पर निर्णय कर सकते हैं ऐसा कात्यायन का मानना है -

वणिजां कर्षकाणां च चौराणां शिल्पिनां तथा।

अनियम्यांशकर्त्तृणां सर्वेषामेष निश्चय: ।।[282]

२.५.दत्ताप्रदानिक-

जब कोई व्यक्ति किसी को कुछ देने के पश्चात् उसे पुन: लौटा लेना चाहता है कारण यह है कि उसने ऐसा करके नियम का उल्लंघन किया है। नारद ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है – किसी द्रव्य को अनुचित उपाय से देकर जो व्यक्ति फिर से लौटाना चाहता है उस व्यापार को दत्ताप्रदानिक नामक विवादपद कहते हैं -

दत्वा द्रव्यमसम्यग्यत्पुनरादातुमिच्छति।

दत्ताप्रदानिकं नाम तद्विवादपदं स्मृतम्।।[283]

दत्ताप्रदानिक को दत्तस्यानपाकर्म नामक अन्य नाम से भी जाना जाता है। मनुस्मृति में इसी नाम का उल्लेख है।[284] मेघातिथि ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है - जो कुछ दिया जा चुका है अथवा दिये जाने

---

[281]कृ.क.त.पृ.३७२, वि.रत्ना. पृ.१२६, वि.से. पृ.१४६, व्य.प्र. पृ.२६७, वी.मि. पृ. ३०५,व्य.म.पृ. १२४, व्य.नि. पृ.२८६

[282] का.स्मृ. पृ.६३५, कृ.क.त.पृ.३७२, वि. रत्ना. पृ.१२६, वि.से. पृ.१४६, व्य.प्र. पृ. २६७, वी.मि. पृ. ३०५, व्य.म.पृ.१२४,

[283]ना.स्मृ.४/४/१, कृ.क.त.पृ.३७३, वि.रत्ना.पृ.१२७, वि.से.पृ.१४७, व्य.प्र.पृ.२६९, वी.मि.पृ.३०६, व्य.म. पृ. १२४, व्य.नि.पृ.२८७

[284] म. स्मृ. ८/४

के लिए प्रतिश्रुत है उसका उचित आदान अथवा अपहरण दत्तस्यानपाकर्म कहलाता है।[285] गोविन्दराज ने इसकी व्याख्या यज्ञ आदि के लिए दिए गए अथवा प्रतिज्ञा किए गए को याग आदि करने आदि के समय पर न देना के रूप में की है। कुल्लूकभट्ट के अनुसार दिए गए धन का अयोग्य बुद्धि होने के कारण अथवा क्रोध आदि के कारण वापस ले लेना दत्तस्यानपाकर्म है।[286]

मिताक्षराकार ने दत्ताप्रदानिक तथा दत्तस्यानपाकर्म दोनों की व्याख्या की है – शास्त्रविहित मार्ग का आश्रय ग्रहण किये बिना ही कोई द्रव्य किसी व्यक्ति को देकर पुन: उस द्रव्य को दाता लेना चाहता है। जिस विवाद के विषय में ऐसा व्यवहार देखा जाता है वह दत्ताप्रदानिक नामक व्यवहारपद कहलाता है अर्थात् दी गई वस्तु का अप्रदान अर्थात् पुन: हरणरूप क्रिया जिस दान नाम के व्यवहार में हो वह दत्ताप्रदानिक नामक व्यवहारपद कहलाता है तथा शास्त्रविहित मार्ग का प्रतिपक्ष रूप शास्त्राविहित मार्ग का आश्रयण रूप से वह व्यवहार विषयक दत्तानपाकर्म कहलाता है।[287] व्यवहारप्रकाशकार ने भी ऐसी ही व्याख्या की है।[288]

दत्ताप्रदानिक देय और अदेय के भेद से चार प्रकार का होता है-

अदेयमथ देयं च दत्तं वादत्तमेव च।

---

[285] अपक्रिया क्रियापाय: तस्य तत्राप्रतिषेध:। दानमेवं न चलितं भवति। एषैव दाने स्थितिरिति यावत्। कथं प्रतिश्रुत्यादीयमाने धर्मो न नश्यतीति नैषा शंका कर्तव्या। एष एवात्र धर्मो यन्न दीयते दत्तं च प्रत्यादीयते। म. स्मृ.८/२१४ पर मेघातिथि टीका।

[286] दत्तस्य धनस्यापात्रबुद्ध्या क्रोधादिना वा ग्रहणम्। - म. स्मृ ८/७ पर कुल्लूकभट्ट की मन्वर्थमुक्तावलि टीका।

[287] असम्यगविहितमार्गाश्रयेण द्रव्यं दत्त्वा पुनरादातुमिच्छति यस्मिन्विवादपदे तद्दताप्रदानिकम् - दत्तस्य अप्रदानं पुनर्हरणं यस्मिन्दानाख्ये तद् दत्ताप्रदानिकं नाम व्यवहारपदम्। विहितमार्गाश्रयत्वेन तत्प्रतिपक्षभूतं तदेव व्यवहारपदं दत्तानपकर्मेत्यर्थादुक्तं भवति। दत्तस्य अनपाकर्म अपुनरादानं यत्र दानाख्ये विवादपदे तद्दत्तानपाकर्म। या. स्मृ. २/१७५ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[288] व्य. प्र. पृ.२६९

व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्विध: ।।[289]

i. देय – शास्त्र के द्वारा अनिषिद्ध अर्थात् जो वस्तु दान के योग्य हो, वह देय कहलाती है।[290]

ii. अदेय –शास्त्र के द्वारा निषिद्ध वस्तु अर्थात् जो दान देने के योग्य न हो, वह अदेय है।[291]

iii. दत्त – सभी प्रकार से स्वस्थ होकर दी गई वस्तु जिसका वापस न लिया जा सके, वह दत्त है।[292]

iv. अदत्त – जो वस्तु देने के पश्चात् भी वापस लेने योग्य है , वह अदत्त कहलाती है।[293]

इन चार प्रकार के दत्ताप्रदानिक में से अदेय आठ प्रकार का, देय एक प्रकार का, दत्त सात प्रकार का तथा अदत्त सोलह प्रकार का होता है -

तत्र ह्यष्टावदेयानि देयमेकविधं स्मृतम्।

दत्तं सप्तविधं विद्याददत्तं षोडशात्मकम्।।[294]

आठ प्रकार के अदेय को वृहस्पति ने इस प्रकार बताया है –साझे की सम्पत्ति, पुत्र, पत्नी, धरोहर, सन्तान वालों की सम्पूर्ण सम्पत्ति याचितक, निक्षेप और प्रतिश्रुत ये आठ अदेय हैं –

सामान्यपुत्रदाराऽऽधिसर्वस्वन्यासयाचितम्।

प्रतिश्रुतं तथाऽन्यस्य न देयं त्वष्टधा स्मृतम्।।[295]

---

[289]ना. स्मृ. ४/४/२, कृ.क.त.पृ.३७३, वि.रत्ना.पृ.१२७, वि.से.पृ.१४७, व्य.प्र.पृ.२६९, वी.मि.पृ.३०६, व्य.म. पृ.१२४, व्य.नि.पृ. २८७

[290] देयमित्यनिषिद्धदानक्रियायोग्यमुच्यते।

[291] अदेयमस्वतया निषिद्धतया वा दानानर्हम्।

[292] यत्पुन: प्रकृतिस्थेन दत्तमव्यावर्तनीयं तद्दत्तमुच्यते।

[293] अदत्तं तु यत्प्रत्याहरणीयं तत्कथ्यते।

[294] ना. स्मृ. ४/४/३, कृ.क.त.पृ.३७३, वि.रत्ना.पृ.१२७, वि.से.पृ.१४७, व्य.प्र.पृ.२७०, व्य.नि.पृ.२८७

[295] कृ.क.त.पृ.३७३, स्मृ.च.पृ.४४२, वि.रत्ना.पृ.१२७, वि.से.पृ.१४७, व्य.प्र.पृ.२७०, वी.मि.पृ.३०६

विवादचिन्तामणि तथा प्राय: सभी निबन्धकारों ने सामान्य का अर्थ अनेक स्वामी वाली सम्पत्ति रूप अर्थ किया है। इसका कारण बताते हुए स्मृतिचन्द्रिका तथा विवादचिन्तामणि में कहा गया है कि सामान्य का अदेयत्व का विधान इसलिए किया गया है क्योंकि अनेक स्वामी होने पर बिना सबकी अनुमति के नहीं दिया जा सकता। पुत्र, दारा और सर्वस्व का अदेयत्व का कथन 'देयं दारसुताद्दते। नान्वये सति सर्वस्वं।' इस दान निषेधक स्मृति वचन के कारण किया गया है। न्यास, याचितक और निक्षेप की अदेयता स्वात्वाभाव के कारण है तथा प्रतिश्रुत का अदेयत्व स्मृति वचन के कारण निषिद्ध है। नारद ने भी आठ अदेय का नामोल्लेख किया है तथा यह भी कहा है कि अत्यन्त कष्टपूर्ण आपत्स्थिति में भी ये दूसरों के लिए प्रतिश्रुति देकर भी ये नहीं दिये जा सकते -

अन्वाहितं याचितकमाधि: साधारणं च यत्।

निक्षेप: पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति।।

आपस्त्वपि हि कष्टासु वत्तमानेन देहिना।

अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्।।[296]

दक्ष का भी यही मत है।[297] कात्यायन ने इस सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की है कि पुत्र, पत्नी एवं सन्तान वालों की सम्पूर्ण सम्पत्ति बिना इनकी इच्छा से दान एवं विक्रय में नियुक्त नहीं किया जा सकता। परंतु आपत्काल में ऐसा किया जा सकता है अन्यथा नहीं करना चाहिए -

विक्रयं चैव दानं च न नेया: स्युरनिच्छव: ।

---

[296]ना. स्मृ.४/४/४-५, कृ.क.त.पृ.३७३, ३७४, स्मृ.च.पृ.४४३, वि.रत्ना.पृ.१२७, १२८, वि.से.पृ.१४८, व्य.प्र. पृ.२७०, वी.मि.पृ.३०६, व्य.म.पृ.१२४, व्य.नि.पृ.२८७

[297] सामान्यं याचितन्यास आधिर्दाराश्च तद्धनम्।

अन्वाहितं च निक्षेप: सर्वस्वं चान्वये सति॥

आपत्स्वपि न देयानि नव वस्तूनि पण्डितै:।

यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चितीयते नर:॥ व्य. नि. पृ. २८८।

दारा: पुत्राश्च सर्वस्वमात्मन्येव तु योजयेत्।।

आपत्काले तु कर्त्तव्यं दानं विक्रय एव वा।

अन्यथा न प्रवर्त्तेत इति शास्त्रविनिश्चय:॥[298]

वशिष्ठ के अनुसार जिस प्रकार पति-पत्नी का विक्रय अथवा दान नहीं कर सकता उसी प्रकार पिता अथवा माता में से अकेले कोई सन्तान का दान अथवा विक्रय नहीं कर सकता – **शुक्रशोणित्सम्भव: पुरुषो मातापितृनिमित्तक: तस्य दानविक्रयपरित्यागेषु मातापितरौ प्रभवत:।**

धर्मशास्त्रकारों ने देय वस्तु के सम्बन्ध में व्यवस्था करते हुए कहा है कि जो अपनी सम्पत्ति है, कुटुम्ब के भरण-पोषण से अतिरिक्त है, उसी का दान किया जाय ऐसा कात्यायन[299] एवं वृहस्पति का मानना है –

कुटुम्बभक्तवसनाद्देयं यदतिरिच्यते।

मध्वास्वादो विषं पश्चाद्दातुर्द्धर्मोऽन्यथा भवेत्।।[300]

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है – अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण से अवशिष्ट धन ही देना चाहिए। पत्नी तथा पुत्र को छोड़कर ही शेष धन देने के योग्य है। वंश में पुत्र, पौत्र आदि के विद्यमान रहने पर सम्पूर्ण धन दान देने के योग्य नहीं है। जो धन अन्य व्यक्ति को उद्देश्य करके संकल्प कर दिया गया, वह अन्य के लिए अदेय है-

स्वकुटुम्बाविरोधेन देयं दातसुताद्दते।

नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्।।[301]

---

[298]कृ.क.त.पृ.३७३,३७४, स्मृ.च.पृ.४४६, वि.रत्ना.पृ.१२८, वि.से.पृ.१४८, व्य.प्र.पृ.२७२, वी.मि.पृ.३०७, व्य. नि. पृ. २८८

[299] सर्वस्वं गृहवर्ज्जन्तु कुटुम्बभरणाधिकम्।

यद्द्रव्यं तत्स्वकं देयमदेयं स्यादतोऽन्यथा।। का. स्मृ. ६४२, कृ.क.त.पृ.३७५, स्मृ.च.पृ.४४४, ४४५, वि.रत्ना.पृ.१२९, वि.से.पृ.१४९, व्य.प्र.पृ.२७१, व्य.नि.पृ.२८९

[300] कृ.क.त.पृ.३७४, स्मृ.च.पृ.४४४, वि.रत्ना.पृ. १२९, वि.से.पृ.१४९, व्य.प्र.पृ.२७१,

निबन्धकारों के अनुसार जो कुछ अपने परिवार के भरण-पोषण से बच जाय उसका ही दान किया जाय, न बचने पर भी दान करने से धर्म की हानि होती है। अतिरिक्त धन का दान करने से पुण्य होता है। संयुक्त धन के दान के लिए सभी साझेदारों की सहमति आवश्यक होती है परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति के दान के लिए अन्य किसी की सम्मति की आवश्यकता नहीं होती। इस सम्बन्ध में वृहस्पति का मत है – सम्पत्ति अर्जित करने के सात पवित्रतापूर्ण साधन हैं, उनसे अर्जित सम्पत्ति, गृह, क्षेत्र, पैतृक सम्पत्ति तथा जिसे स्वयं अर्जित किया है, उसे अपनी इच्छा से दान किया जा सकता है। आधि को बन्धक के नियम के अनुसार दान दिया जा सकता है, क्रमागत रूप से प्राप्त सम्पत्ति तथा विवाह के समय प्राप्त धन का दान नहीं किया जा सकता-

सप्तागमाद्बृहत्क्षेत्रात्स्वंस्वं क्षेत्रं प्रदीयते।

पित्र्यं चाथ स्वयं प्राप्तं तद्दातव्यं विवक्षितम्।।

स्वेच्छादेयं स्वयं प्राप्तं बन्धावारेण बन्धकम्।

वैवाहिके क्रमायाते सर्वदानं न विद्यते।।[302]

यहां सप्तागम को मनु से इस प्रकार बताया है -

सप्तवित्तागमा धर्म्या दायो लाभ: क्रयो जय: ।

प्रयोग: कर्म्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च।।[303]

संयुक्त पैतृक स्थावर सम्पत्ति सभी उत्तराधिकारियों की सहमति से दी जा सकती है। सौदायिक (विवाह के समय कन्या के उपभोग के लिए जो धन दिया जाता है), क्रमागत रूप से प्राप्त, युद्ध में प्राप्त तथा स्त्रीधन का इनके स्वामी की अनुमति से दान किया जा सकता है -

सौदायिकं क्रमायातं शौर्यप्राप्तं च यद्भवेत्।

---

[301]या. स्मृ. २/ १७५, कृ.क.त.पृ. ३७५, स्मृ.च.पृ.४४४, वि.रत्ना.पृ.१२८, १२९, व्य.प्र.पृ.२७१,

[302] कृ.क.त.पृ.३७५, वि.से.पृ.१५०, व्य.प्र.पृ.२७१

[303] म. स्मृ. १०/११५, कृ.क.त.पृ.३७६, वि.से.पृ.१५०,

स्त्रीज्ञातिस्वाम्यनुमतं दत्तं सिद्धिमवाप्नुयात्।।[304]

एक बार किसी व्यक्ति को कुछ दान देने लिए प्रतिश्रुत करने तथा पुन: न देने पर क्या होता है ? इस सम्बन्ध में हारीत का कथन है कि प्रतिश्रुत होने पर यदि दान नहीं दिया जाता है तथा देकर पुन: ले लेने पर व्यक्ति विविध प्रकार के नरक को भोगते हुए तिर्यग्योनि को प्राप्त होता है। इस प्रकार वचन से प्रतिज्ञात करके तथा कर्म से उसका परिपालन न करने पर उस व्यक्ति को इस लोक एवं परलोक में ऋणी बनकर रहना पड़ता है-

प्रतिश्रुतार्थादानेन दत्तस्याच्छेदनेन च।

विविधान्नरकान्याति तिर्यग्योनौ च जायते।।

वाचा यच्च प्रतिज्ञातं कर्मणा नोपपादितम्।

ऋणं तद्धर्मसंयुक्तमिह लोके परत्र च।।[305]

इस सम्बन्ध में कात्यायन का मत है कि जो कोई ब्राह्मण को दान देने के लिए कहकर उसे पूरा नहीं करता है तो राजा को चाहिए कि वह प्रण-कर्त्ता को दान देने के लिए प्रेरित करे और फिर भी न देने पर प्रथम साहस अर्थात् २५० पण का दण्ड दे –

स्वेच्छया य: प्रतिश्रुत्य ब्राह्मणाय प्रतिग्रहम्।

न दद्याद्दृणवद्दाप्य: प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥[306]

मत्स्य पुराण में भी कहा गया है –

प्रतिश्रुताप्रदातारं सुवर्णं दण्डयेन्नृप:।[307]

---

[304] कृ.क.त.पृ.३७६, वि.से.पृ.१५०, व्य.प्र.पृ.२७३, वी.मि.पृ.३०९, व्य.नि.पृ.२९३

[305]कृ.क.त.पृ.३७७, स्मृ.च.पृ.४४८, वि.रत्ना.पृ.१३२,१३३, वि.से.पृ.१५१, व्य.प्र.पृ.२७३, वी.मि.पृ.३१०, व्य. नि. पृ.२७३, २९३

[306] का. स्मृ. ६४२, कृ. क. पृ. ३७७, वि. रत्ना. पृ. १३२, वि. से. पृ. १५२, व्य. प्र. पृ. २७३, वी. मि. पृ. ३१०, व्य. म. पृ. १२५ ।

लेकिन यदि कोई दानपात्र अधार्मिक हो तो दाता द्वारा प्रतिश्रुत दान देना आवश्यक नहीं है। गौतम का यह मत है –

प्रतिश्रुत्याप्यधर्मयुक्ताय न दद्यात्।

अधर्म इहासम्प्रदानत्वप्रयोजकोऽभिमत:॥[308]

२.४.१. दत्त विषय –

दत्त दान वह है जो सभी प्रकार से प्रकृतिस्थ होकर दिया जाता है तथा जिसको वापस न लिया जा सके।[309] वृहस्पति ने दत्त विषय के आठ प्रकार बतायें हैं-पारिश्रमिक, बन्दी-चारण आदि से प्रसन्न होकर प्रदान की जाने वाली तुष्टि, क्रीत वस्तु का मूल्य, स्त्रीशुल्क, उपकार के बदले दिया गया धन, अनुग्रहार्थ पुत्रादि को दिया गया धन, प्रीतिपूर्वक मित्रादि को दिया गया धन, श्रद्धा-दान –

भृतिस्तुष्टया पण्यमूल्यं स्त्रीशुल्कमुपकारिणे।

श्रद्धानुग्रहसंप्रीत्या दत्तमष्टविधं स्मृतम्॥[310]

नारद ने दत्त दान के सात प्रकार बताये हैं –

पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्टानां स्नेहात प्रत्युपकारत:।

स्त्रीभक्तयानुग्रहार्थं च दत्तं सप्तविधं स्मृतम्॥[311]

विवादचिन्तामणिकार तथा व्यवहारप्रकाश के अनुसार प्रीतिपूर्वक मित्रादि को दिये गये धन को धन में मिला देने से सात प्रकार के ही दत्त विषय हैं।

---

[307] म. पु. २२७/४, कृ. क. त. पृ. ३७७, वि. रत्ना. पृ. १३२, वि. से. पृ. १५२, वी. मि. पृ. ३१० ।

[308] वि. रत्ना. पृ.१३३, व्य. नि. पृ.२९३

[309] यत्पुन: प्रकृतिस्थे दत्तमव्यावर्तनीयं तद्दत्तमुच्यते । -या. स्मृ. २/१७५ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[310]कृ.क.त.पृ.३७७, स्मृ.च. पृ. ४५०, वि. रत्ना. पृ.१३३, वि. से. पृ. १५२, व्य. प्र. पृ. २७४, वी. मि. पृ. ३११, व्य. नि. पृ. २९२

[311] ना. स्मृ. ४/४/८

२.४.२.अदत्त दान

नारद ने अदत्त विषय के सोलह प्रकार बताये हैं। जो इस प्रकार हैं – भय, क्रोध, काम, शोक, रुग्ण, उत्कोच, उपहास, भ्रम, छल, कृत्याकृत्य, विवेक से शून्य बालक , मूढ, पुत्र, दासादि अस्वतन्त्र व्यक्ति, आर्त्त, मत्त, उन्मत्त, सम्बन्धियों द्वारा बहिष्कृत, और मुझे वह नियुक्ति दिलायेगा इस प्रकार प्रतिलाभ की इच्छा से जो दिया जाय वह अदत्त सोलह प्रकार का होता है –

अदत्तं तु भयक्रोधकामशोकरुगन्वितै:।

अथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगत:॥

बालमूढाऽस्वतन्त्रार्त्तिमत्तोन्मत्तापवर्जितै:।

कर्त्ता मयामं कर्मेति प्रतिलाभेच्छयापि यत्॥[312]

कात्यायन ने इन सोलह प्रकार के अदत्त विषय को ही पुन: प्रत्याहरणीय बताया है। साथ ही यदि दे दिया गया है तो बलपूर्वक लेकर उस पर ग्यारह गुने दण्ड का भी विधान किया है।[313]

वृहस्पति का भी यही मत है –

क्रुद्धत्हृष्टप्रमत्तार्त्तबालोन्मत्तभयातुरै:।

---

[312]ना. स्मृ. ४/४/९-१०, कृ.क.त.पृ. ३७८, ३७९, स्मृ.च.पृ.४५१, वि.रत्ना.पृ.१३४, वि.से.पृ.१५२-१५३, व्य. प्र. पृ. २७५, वी.मि.पृ.३११, व्य.म.पृ.१२५, व्य.नि.पृ.२९३-२९४ ।

[313] कामक्रोधधास्वतन्त्रार्त्तक्लीबोन्मत्तप्रमोहितै:।

व्यत्यासपरिहासासाभ्यां यद्दत्तं तत्पुनर्हरेत्॥

यदि कार्यप्रसिध्दयर्थमुत्कोचा स्यात्प्रतिश्रुता।

तस्मिन्नपि प्रसिद्धेर्थे न देया स्यात्कथंचन।

अथ प्रागेव दत्ता स्यात्प्रतिदाप्य: स तां ब्लात्।

दण्ड चैकादशगुणं प्राहुर्गार्गीयगालवा:॥ कृ.क.त.पृ.३७९, स्मृ.च.पृ.४५२, वि.रत्ना.पृ.१३५, वि.से.पृ.१५३, व्य.प्र.पृ.२७५, वी.मि.पृ.३१२, व्य.म.पृ.१२६, व्य.नि.पृ.२९४ ।

मत्तातिवृद्धनिर्धूतैः संमूढैः शोकिरोगिभिः॥

नर्मदत्तं तथैतैर्यत्तददत्तं प्रकीर्त्तितम्।[314]

आगे भी कात्यायन ने कहा है धर्म-कार्य से भिन्न कार्य के विषय में आर्त्त व्यक्ति स्वस्थ हो या आर्त्त हो, यदि धर्म कार्य के लिये संकल्प एक बार कर लिया तथा अन्य लोगों को भी सूचित कर दिया, परन्तु बिना दिये ही मर गया तो उसके पुत्र को उसके द्वारा संकल्पित धन को देना चाहिए। ऐसा कात्यायन का मानना है –

"सुस्थेनार्त्तेन वा दत्तं श्रावितं धर्मकारणात्।

अदत्वा तु मृते दाप्यस्तत्सुतो नात्र संशयः॥"[315]

कात्यायन ने उत्कोच का स्वरुप इस प्रकार बताया है-किसी व्यक्ति को चोर कहकर प्रत्युत्तर देने के बहाने या किसी को व्यभिचारी कहकर या दुष्ट व्यक्तियों की ओर इशारा करके या किसी के विषय में भ्रामक धारणायें फैलाकर जो धन वसूला जाय वह उत्कोच कहलाता है। कात्यायन के अनुसार ऐसी स्थिति में उत्कोच ग्रहण करने वाले को नहीं दण्डित करना चाहिए अपितु मध्यस्थ को दण्डित करना चाहिए –

स्तेनसाहसिकोद्दत्तपारदारिकशंसनात्।

दर्शनाद्दत्तनष्टस्य तथा सत्यप्रवर्त्तनात्॥

प्राप्तमेतैस्तु यत्किञ्चित्तदुत्कोचाख्यमुच्यते।

न तत्र दाता दण्ड्यः स्यान्मध्यस्थस्तत्र दोषभाक्॥[316]

धर्मकार्य के लिये मांगने पर कोई व्यक्ति किसी को धन देता है और बाद में वह कार्य उस प्रकार न हो तो दिया गया धन वापस लिया जा सकता है और यदि वह व्यक्ति दर्पवश वह धन न लौटाये तो उस धन को

---

[314] कृ.क.त.पृ. ३७९, स्मृ.च.पृ.४५३, वि.रत्ना.पृ.१३६, वि.से.पृ.१५४ व्य.प्र.पृ.२७५,.

[315]कृ.क.त.पृ.३८०, स्मृ.च.पृ.४५३, वि.से.पृ.१५४, व्य.प्र.पृ.२७५, वी.मि.पृ.३१३, व्य.म.पृ.१२६, व्य.नि. पृ. २९७

[316]कृ.क.त.पृ. ३८१, स्मृ.च.पृ.४५२, वि.रत्ना.पृ.१३७, वि.से.पृ.१५४ व्य.प्र.पृ.२७६, वी.मि.पृ.३१२, व्य.म. पृ. १२६, व्य.नि.पृ.२९४

संसाधित करें। और उस व्यक्ति को राजा द्वारा उसके दोष की निवृत्ति के लिये एक सुवर्ण का दण्ड दिया जाना चाहिए –

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम्।

पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तेन तद्भवेत्॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः।

राजा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य दोषस्य निष्कृतिः॥[317]

नारद ने भी यही कहा है –

गृह्णात्यदत्तं यो मोहाद्यश्चादेयं प्रयच्छति।

दण्डनीयावुभावेतौ धर्मज्ञेन महीभृता॥[318]

इस प्रकार ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय सम्भूयसमुत्थान तथ दत्ताप्रदानिक विवाद पदों की अलग-अलग विवेचना प्रस्तुत की गई। अष्टादश विवादपदों में ऋणादान प्रथम पद है। प्रायः सभी धर्मशास्त्र विषयक ग्रंथों ऋणादान का विस्तृत वर्णन किया गया है। ऋण शब्द का प्रयोग ऋग्वैदिक से होता आ रहा है। नारद ने ऋणादान की सात विधियों का वर्णन किया है यथा –देय अर्थात् कौन सा ऋण दिया जा सकता है कौन सा नहीं किन व्यक्तियों को तथा कब दिया जा सकता है आदि विषय ऋणादान प्रकरण के अन्तर्गत वर्णित किये जाते हैं। स्मृतिकारों ने विभिन्न द्रव्यों के लिए भिन्न-भिन्न वृद्धि की कल्पना की है। इस कल्पना का एक आधार यह भी बताया गया है कि जिस व्यक्ति को ऋण दिया जा रहा है उसका कार्य जितना जोखिमयुक्त है? अधिक जोखिमयुक्त कार्य करने वालों के लिए अधिक वृद्धि तथा कम जोखिमयुक्त काम के लिए कम वृद्धि। साथ ही लाभ की अधिकता तथा न्यूनता भी इसका आधार है। ऋणादान

---

[317] कृ.क.त.पृ. ३८०, स्मृ.च.पृ.४५३, वि.रत्ना.पृ.१३७, वि.से.पृ.१५५, व्य.प्र.पृ.२७६

[318]ना.स्मृ.४/४/१२, कृ.क.त. पृ.३८०, स्मृ.च. पृ.४५४, वि.रत्ना. पृ.१३७, वि.से. पृ.१५५, व्य.प्र. पृ.२७६, व्य. नि. पृ. २९९

विवादपद के अत्यन्त विस्तृत प्रतिपादन के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समय में ऋणादान से सम्बन्धित विवाद अधिक होते रहे होंगे।

विश्वासपूर्वक कोई धन किसी के पास रखना निक्षेप कहलाता है। शास्त्रकारों ने निक्षेप तथा उपनिधि में भेद किया है। जहां निक्षिप्त द्रव्य गिनकर रखा जाय वह निक्षेप होता है तथा इसके विपरीत निक्षिप्त द्रव्य की गणना न की गई हो वह उपनिधि कहलाता है। निक्षिप्त द्रव्य की रक्षा निक्षेप ग्रहण करने वाले व्यक्ति को सावधानीपूर्वक करनी चाहिए, अन्यथा यदि उसकी असावधानी के कारण निक्षेपित द्रव्य नष्ट हो जाता है तो उसे दण्ड भी देना पड़ता है।

द्रव्य का स्वामी न होते हुए भी स्वामी की अनुमति के बिना बेचना अस्वामिविक्रय कहलाता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति चोर के समान दण्ड का पात्र होता है। अस्वामिविक्रय में क्रेता तथा विक्रेता दोनों दोषी माने जाते हैं, परंतु यदि क्रेता विक्रेता को उपस्थित कर देता है अथवा यह सिद्ध कर देता है कि उसने वस्तु प्रकाश में खरीदी है तो वह दोषमुक्त माना जाता है।

वणिक्, ऋत्विक्, शिल्पी, कृषक आदि का साथ लाभ की इच्छा से साथ मिलकर कार्य करना सम्भूयसमुत्थान कहलाता है। साथ मिलकर कार्य कर रहे सभी व्यक्ति अपनी-अपनी अंशधारिता के अनुपात में लाभ तथा हानि के अधिकारी होते हैम्, परंतु यदि किसी एक व्यक्ति के दोष से हानि होती है तो वह सम्पूर्ण हानि का भोक्ता होता है।

किसी को कुछ देने के लिए प्रतिश्रुत करके न देना दत्ताप्रदानिक के अंतर्गत आता है। दत्ताप्रदानिक का विभाजन नारदादि ने देय, अदेय, दत्त तथा अदत्त शीर्षक में किया है। दत्ताप्रदानिक के सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि अपने तथा परिवार के भरण-पोषण से अतिरिक्त वस्तु का दान किया जा सकता है। धर्मशास्त्रकारों ने दान ग्रहण करने वाले व्यक्ति की अपात्रता की स्थिति में दान वापस प्राप्त करने का भी विकल्प दिया है।

तृतीय अध्याय

भृतकविधि, स्वामिपालविवाद, संविद्यतिक्रम, विक्रीयासंप्रदान और सीमाविवाद की समीक्षा

तृतीय अध्याय

भृतकविधि, स्वामिपालविवाद, संविद्व्यतिक्रम, विक्रीयासंप्रदान और सीमाविवाद की समीक्षा

३.१. भृतकविधि-

भृतकविधि को ही अभ्युपेत्याशुश्रूषा भी कहते हैं। वृहस्पति ने कहा है –

अदेयादिकमाख्यातं भृतानामुच्यते विधिः।

शुश्रूषाभ्युपेत्यैतत्पदमादौ निगद्यते॥[1]

इस प्रकार अभ्युपेत्याशुश्रूषा को ही भृतकविधि भी कहते हैं। नारदस्मृति, कात्यायन, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि तथा स्मृतिचन्द्रिका, विवादरत्नाकर, व्यवहारनिर्णय, वीरमित्रोदय, व्यवहारमयूख आदि में इस विवाद पद का नाम अभ्युपेत्याशुश्रूषा ही प्राप्त होता है। कृत्यकल्पतरु तथा व्यवहारप्रकाश में भृतकविधि और अभ्युपेत्याशुश्रूषा दोनों नाम उद्धृत हैं। तथा विवादचिन्तामणि तथा विवादार्णवसेतु केवल भृतकविधि नाम ही आया है। अभ्युपेत्याशुश्रूषा का लक्षण करते हुए नारद ने कहा है कि जो सेवा करने के लिए वचन देकर उसको सम्पादित नहीं करता, उसको लेकर अभ्युपेत्याशुश्रूषा नामक विवादपद निश्चित होता है –

अभ्युपेत्य च शुश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते।

अशुश्रूषाभ्युपेत्यैतद्विवादपदमुच्यते॥[2]

मिताक्षराकार ने अभ्युपेत्याशुश्रूषा की व्याख्या करते हुए कहा है कि आज्ञाकरण को शुश्रूषा कहते हैं, पहले उसको स्वीकार करके तत्पश्चात् उस शुश्रूषा रूप कार्य का सम्पादन न करना अभ्युपेत्याशुश्रूषा कहलाता

---

[1] कृ.क.त. पृ.३८२, वि.रत्ना.पृ.१३९, वि.से.पृ.१५५, व्य.प्र.पृ.२७८, वी.मि.पृ.३१३,

[2] ना. स्मृ. ४/५/१, कृ.क.त. पृ.३८२, वि.रत्ना.पृ.१३९, व्य.प्र.पृ.२७८,

है।[3] विवादचिन्तामणिकार के अनुसार शुश्रूषा को स्वीकार कर शुश्रूषा न करना अभ्युपेत्याशुश्रूषा नामक विवादपद कहलाता है।[4] व्यवहारप्रकाशकार के अनुसार आज्ञासम्पादन रूप कार्य को अंगीकृत करके बाद में न करना अभ्युपेत्यशुश्रूषा नामक विवादपद कहलाता है।[5] व्यवहारनिर्णयकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है- **शुश्रूषामहं कर्म तव करिष्यामित्यभ्युपेत्य तत्कर्म यो न करोति।**[6]

वृहस्पति ने भृतक के तीन भेद बताये हैं -

वेतनस्यानपाकर्म्म तदर्थं स्वामिपालयो:।

क्रमश: कल्प्यते वादौ भृतभेदत्रयं त्विदम्।[7]

शुश्रूषक कौन है और कितने प्रकार के होते है? इस सम्बन्ध में नारद का कथन है कि शुश्रूषक पांच प्रकार के होते हैं । चार प्रकार के कर्मकर और दास। दास भी पन्द्रह प्रकार के होते हैं -

शुश्रूषक: पञ्चविध: शास्त्रे दृष्टोमनीषिभि:।

चतुर्विध: कर्मकर: शेषा दासास्त्रिपञ्चका:॥[8]

इस प्रकार चतुर्विध कर्मकर दासों के साथ शुश्रूषक पांच प्रकार के होते हैं। ये चतुर्विध प्रकार के कर्मकर इस प्रकार हैं -

i. शिष्य
ii. अन्तेवासी

---

[3] आज्ञाकरणं शुश्रूषा, तामङ्गीकृत्य पश्चाद्यो न संपादयति तद्विवादपदमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यम्। या. स्मृ. व्यवहाराध्याय/१८२ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[4] शुश्रूषामभ्युपेत्याऽशुश्रूषोरेतत्पदं विवादपदमित्यर्थ:। वि. चि. पृ.६३

[5] अङ्गीकृताया आज्ञासम्पादनरूपाया: पश्चादकरणमभ्युतेयशुश्रूषाख्यं विवादपदमुच्यते इत्यर्थ:।

[6] व्य. नि. पृ. ३००

[7] कृ.क.त. पृ.३८२, वि.रत्ना.पृ.१३९, वि.से.पृ.१५६, व्य.प्र.पृ.२७८,

[8] कृ.क.त. पृ.३८२, वि.रत्ना.पृ.१३९, वि.से.पृ.१५६, व्य.प्र.पृ.२७८, वी.मि.पृ.३१३, व्य.नि.पृ.३००

iii. भृतक

iv. अधिकर्मकृत्

और दास गृहजात आदि के भेद से पन्द्रह प्रकार के होते हैं - गृह, द्वार, अशुचिस्थान, रथ्या (मार्ग), अवस्कर (कूड़ा आदि उठाने वाले), आदि अशुभ कर्मों को करने वाले दास कहलाते हैं। कर्मकर और दास दोनों में अस्वतन्त्रता समान रूप से पाई जाती है अर्थात् दोनों अस्वतन्त्र होते हैं -

शिष्यान्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वधिकर्मकृत्।

एते कर्मकरा ज्ञेया दासास्तु गृहजादय:॥

सामान्यमस्वतन्त्रत्वमेषामाहुर्मनीषिण:।[9]

इन चार प्रकार के कर्मकर सम्बन्ध में वृहस्पति ने भी कहा है।[10] चार प्रकार के कर्मकरों में से प्रथम अर्थात् शिष्यों के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए नारद ने कहा है कि विद्या ग्रहण पर्यन्त शिष्य यत्नपूर्वक गुरु की सेवा करे साथ ही वह गुरु –पत्नी तथा गुरु पुत्र के प्रति भी सेवा भाव रखे -

आ विद्याग्रहणाच्छिष्य: शुश्रूषेत्प्रयतो गुरुम्।

तद्वृत्तिर्गुरुदारेषु गुरुपुत्रे तथैव च॥[11]

---

[9] कृ.क.त.पृ.३८३, स्मृ.च.पृ.४५४,४५५, वि.रत्ना.पृ.१४०, वि.से.पृ.१५६, व्य.प्र.पृ.२७८, वी.मि.पृ.३१३, व्य.नि. पृ. ३००

[10] विद्याविज्ञानकामार्थनिमित्तेन चतुर्विधा।

विद्यात्रयी समाख्याता ऋग्यजु:सामलक्षणा।

तदर्थं गुरुशुश्रूषां प्रकुर्य्यच्छास्त्रदेशिताम्। कृ.क.त.पृ.३८२, ३८३ व्य.प्र.पृ.२७८, २७९ वी.मि.पृ.३१३, ३१४, व्य.म.पृ.१२६, व्य.नि.पृ.२९७, ३००

[11]ना. स्मृ.४/५/८, कृ.क.त. पृ.३८३, वि.रत्ना.पृ.१४०, वि.से.पृ.१५६, व्य.प्र.पृ.२७९, वी.मि.पृ.३१४, व्य.नि. पृ. ३०१

विज्ञान अर्थात् कला अथवा शिल्प का कार्य करने वाले के कर्तव्य का वर्णन करते हुए वृहस्पति ने कहा है – सुवर्ण तथा अन्य धातुओं की संस्कृति, तथा गीत, नृत्य, गृह-निर्माण आदि सीखने की इच्छा से बान्धवों की अनुमति लेकर शिल्पी अपने गुरू के घर निश्चित समय के लिए रहता है तथा उसके साथ कार्य करता है। आचार्य भी उस छात्र को अपने घर में वासस्थान तथा भोजन देकर शिक्षा प्रदान करे। भोजन तथा निवास के बदले में शिक्षा ग्रहण करने के अतिरिक्त आचार्य छात्र से अन्य कार्य न कराये तथा उसके साथ पुत्रवत् आचरण करे -

विज्ञानमुच्यते शिल्पं हेमकुप्यादिसंस्कृतिः।
नृत्यादिकं च तच्छिक्षन्कुर्यात्कर्म गुरोर्गृहे।।
विज्ञानार्थिन एव नारदेनान्तेवासित्वमुक्तम्।
स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया॥
आचार्यस्य वसेदन्ते कालं कृत्वा सुनिश्चितम्।।
आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्॥
न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत्।।[12]

जो अन्तेवासी शिक्षा देने वाले दोषरहित आचार्य का त्याग करना चाहे तो आचार्य उस अन्तेवासी को बलपूर्वक रखे तथा उसको प्रतिबन्धित करने के लिए ताडनादि दण्ड तथा बन्धक भी रख सकता है।पूर्वनिर्धारित काल से पहले शिक्षित हो जाने पर भी छात्र निश्चित काल तक आचार्य के पास ही निवास करे।आचार्य के पास निवास करते हुए छात्र जो भी कार्य करे उस कार्य से प्राप्त होने वाला फल अर्थात् धनादि आचार्य का ही होगा।[13] शिल्पविद्या को ग्रहण कर लेने के पश्चात् पूर्वनिश्चित समय के समाप्त हो जाने पर छात्र आचार्य की प्रदक्षिणा करके तथा उनको सम्मानित करके ही अन्तेवासी निवृत हो जाता है-

---

[12] कृ.क.त.पृ.३८३, ३८४ स्मृ.च.पृ.४५६, वि.रत्ना.पृ.१४१, वि.से.पृ.१५७, व्य.प्र.पृ.२७९, वी.मि.पृ.३१४, ३१२५, व्य.नि.पृ.३०१

[13] शिक्षयन्तमदुष्टं च यस्त्वाचार्यं परित्यजेत्।

गृहीतशिल्प: समये कृत्वाऽऽचार्यप्रदक्षिणम्।

शक्तितश्चानुमान्यैनमन्तेवासी निवर्त्तते॥[14]

नारद ने भृतक के तीन प्रकार बताये हैं। यथा-उत्तम, मध्यम और अधम। इन भृतकों का वेतन उनकी शक्ति, भक्ति तथा कर्म के अनुसार निश्चित किया जाता है। इनमें उत्तम आयुधधारी, मध्यम कृषीवल तथा अधम भारवाहनकारी होता है। कुटुम्ब के अर्थों में अधिकार प्राप्त करने वाला भी कर्मकर है। किन्तु वह कुटुम्ब के भीतर का कोई व्यक्ति होना चाहिए या उसको कुटुम्ब की तरह मान लिया जाय -

भृतकस्त्रिविधो ज्ञेय उत्तमाधममध्यमा:।

शक्तिभक्तानुरूपत्वादेषां कर्माश्रया भृति:।

उत्तमश्चायुधीयोत्र मध्यमश्च कृषीवल:॥

अधमो भारवाह: स्यादित्येष त्रिविधो भृत:।

अर्थेष्वधिकृतो य: स्यात्कुटुम्बस्य तथोपरि॥

सोधिकर्मकरो ज्ञेय: स च कौटुम्बिक: स्मृत:। [15]

नारद ने इन भृतकों के कर्म विशेष का भी वर्णन किया है। यथा-शुभ कर्मकरों के चार प्रकार हैं। अवशिष्ट अशुभ कर्मकर हैं। कर्म भी दो प्रकार के कहे गये हैं-शुभ और अशुभ। शुभ कर्म कर्मकर के लिए है तथा अशुभ दासों के लिए उक्त हैं। गृह-द्वार साफ करना, सड़क, गन्दे स्थल आदि स्वच्छ करना, स्वामी के गुह्य

बलाद्वासयितव्य:स्याद्वधबन्धौ च सोर्हति॥

शिक्षितोपि कृतं कालमन्तेवासीसमापयेत्।

तत्र कर्म च यत्कुर्यादाचार्यस्यैव तत्फलम्॥ - कृ.क.त.पृ.३८४, स्मृ.च.पृ.४५७, वि.रत्ना.पृ.१४१, वि.से.पृ.१५७, व्य.प्र.पृ.२८०, वी.मि.पृ.३१५, व्य.नि.पृ.३०१, ३०२.

[14] कृ.क.त. पृ.३८५, स्मृ.च.पृ.४५७, वि.से.पृ.१५७, व्य.प्र.पृ.२८०, वी.मि.पृ.३१५, व्य.नि.पृ.३०२

[15]कृ.क.त.पृ.३८६, वि.से.पृ.१५८, व्य.प्र.पृ.२८१, व्य.प्र.पृ.२८१ वी.मि.पृ.३१६, व्य.म.पृ.१२७, व्य.नि.पृ.३०२

अंगों को स्पर्श करना, उच्छिष्ट भोजन, जूठन कणों को एकत्र कर फेंकना, मल मूत्र फेंकना आदि अशुभ कर्म हैं। इसके अतिरिक्त कार्य शुभ कर्म हैं।

शुभकर्मकरा ह्येते चत्वार: समुदाहृता:। चत्वार: शिष्योन्तेवासीभृतक: कर्मकरश्च॥

जघन्यकर्मभास्तु शेषा दासास्त्रिपञ्चका:। कर्मापि द्विविधं प्रोक्तमशुभंशुभमेव वा॥

अशुभं दासकर्मोक्तंशुभं कर्मकरे स्मृतम्। गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम्॥

गुह्याग्डस्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोज्झनम्। गच्छत: स्वामिन:स्वाग्डैरुपस्थानमथान्तत:॥[16]

तथा घर में जन्म लिया हुआ, क्रीत, लब्ध, दाय के रूप में प्राप्त, अकाल के समय पालित, बन्धक के रूप में स्वामी से लब्ध, बड़े ऋण से मुक्त, युद्ध के समय प्राप्त, मैं आपका हूं ऐसा कहकर जो आता है, संन्यास से प्रत्यावर्त्तित आदि।

गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागत:। अनाकालभृतस्तद्वदाहित:स्वामिना च य।

मोक्षितो महतश्चर्णाद्युद्धे प्राप्त: पणे जित:। तवाहमित्युपगत:प्रव्रज्यावासित: कृत:॥

भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव वडवाभृत:। विक्रेता चात्मन: शास्त्रे दासा: पंचदश स्मृता:॥ [17]

इनके दासत्व से मुक्ति के विषय में भी नारद ने बताया है। ऊपर कथित दासों में से प्रथम चार अर्थात् गृहजात, विक्रीत, लब्ध तथा पारम्परीण दास धनिक के प्रसाद से दासत्व से मुक्त नहीं होते। वे वंशानुक्रमिक दास हैं-

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दासत्वान्न विमुच्यते।

प्रसादात्स्वामिनोऽन्यत्र दास्यमेषां क्रमागतम्॥[18]

---

[16] कृ.क.त.पृ.३८६, स्मृ.च.पृ.४५९,४६०, वि.रत्ना.पृ.१४१,१४४, वि.से.पृ.१५९, व्य.प्र.पृ.२८१, व्य.नि.पृ. ३०२, ३०३, वी.मि.पृ.३१३

[17]कृ.क.त. पृ.३८७-३८९, स्मृ.च.पृ.४६४- ४६५, वि.रत्ना.पृ.१४४, वि.से.पृ.१५९- १६०, व्य.प्र.पृ.२८२, २८३, वी.मि.पृ. ३१९, व्य.म.पृ.१२८, व्य.नि.पृ. ३०३-३०४,३०७

[18] वि.से.पृ.१६१, स्मृ.च.पृ. ४६४, व्य.प्र.पृ.२८२, व्य.म.पृ.१२८, व्य.नि.पृ.३०५

विशेष रूप से प्रव्रज्यावसित दास के विषय में बताते हुए नारद ने कहा है – ऐसा दास राजा का दास होता है तथा उसकी मुक्ति कभी नहीं होती –

राज्ञ एव तु दास: स्यात्प्रव्रज्यावसितो नर:।

न तस्य हि विमोक्षोस्ति न विशुद्धि: कथंचन॥

तथा जो नराधम स्वतन्त्र होकर स्वयं का विक्रय करता है वह सबसे जघन्यतर है उसकी मुक्ति कभी नहीं होती-

विक्रीणीते स्वतन्त्र: सन्नात्मानं यो नराधम:।

स जघन्यतमस्तेषां सोऽपि दास्यान्न मुच्यते॥[19]

कात्यायन और दक्ष ने भी प्रव्रज्यावसित दास के विषय में बताया है। इस प्रकार नारद[20], कात्यायन[21] ने दासों के सम्बन्ध में विविध व्यवस्थायें की हैं।

३.१.१. दास्याधिकार-

दासता के सम्बन्ध में नारद का कथन है –ब्राह्मणादि वर्णों के प्रतिलोम क्रम से दासत्व का विधान नहीं जानना चाहिए फिर भी यदि कोई अपने विहित आश्रम-धर्म का परित्याग करता है तो स्त्री के समान विपरीत- क्रम से भी दासता मानी जाती है -

---

[19]कृ.क.त. पृ.३८८, स्मृ.च.पृ.४६५, वि.रत्ना.पृ.१४५, वि.से.पृ.१६१, व्य.प्र.पृ.२८३, वी.मि.पृ.३२०, व्य.म.पृ. १२८, व्य.नि.पृ.३०५

[20]ना. स्मृ ४/५/३०-४३

[21] स्वदासीं यस्तु सङ्गच्छेत्प्रसूता च भवेत्तत:।

अवेक्ष्य बीजं कर्त्तव्या अदासी सान्वया तु सा॥ का. स्मृ. ७२३

दासस्य तु धनं यत्स्यात्स्वामी तस्य प्रभु: स्मृत:।

प्रसादविक्रयाद्यत्तु न स्वामी धनमर्हति॥

दासेनोढा त्वदासी या सापि दासत्वमाप्नुयात्।

यस्माभ्दर्त्ता प्रभुस्तस्या:स्वाम्यधीनप्रभुर्यत:॥

वर्णानां प्रतिलोम्येन दासत्वं न विधीयते ।

स्वधर्मत्यागिनोऽन्यत्र दारवद्दासता मता॥[22]

कात्यायन के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिए ही दासता कही गई है। ब्राह्मण वर्ण को कभी भी दास नहीं बनाना चाहिए। दासों से उनके शील, अध्ययन के अनुसार कर्म कराना चाहिए। द्विजोत्तम से अशुभ कर्म नहीं कराना चाहिए। राजा द्वारा ब्राह्मण से दास कर्म करवाने को निवृत करना चाहिए। समान वर्ण में दासकर्म नहीं किया जा सकता परंतु क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण का समान वर्ण में दासकर्म कभी- कभी किया जा सकता है, परंतु ब्राह्मण का नहीं -

त्रिषु वर्णेषु विज्ञेयं दास्यं विप्रस्य न क्वचित्।

समवर्णं तु विप्रस्तु दासत्वं नैव कारयेत्॥

शीलाध्ययनसम्पन्नस्तदूनं कर्म कारयेत्।

तत्रापि नाशुभं किंचित्प्रकुर्वीत द्विजोत्तम॥[23]

ब्राह्मणस्य हि दासत्वान्नृपतेजो विहन्यते।

क्षत्रविटशूद्रधर्मस्तु समवर्णं कदाचन॥

कारयेद्दासकर्माणि ब्राह्मणंन् न बृहस्पतिः।।[24]

मनु का मत है ब्राह्मण जीविका से दु:खी क्षत्रिय तथा वैश्य से अनुकम्पापूर्वक अपने-अपने कर्म करवाता हुआ उनका पोषण करे तथा अपने प्रभुत्व के बल से तथा लोभ के कारणवश ब्राह्मण यदि बिना इच्छा के संस्कृत द्विजों से कार्य करवाता है तो वह राजा द्वारा छः सौ पण दण्ड का भागी होता है। क्रीत तथा अक्रीत

---

[22]वि.चि.पृ.७१, कृ.क.त.पृ.३९६, स्मृ.च,पृ.४६१, वि.रत्ना.पृ.१५२, वि.से.पृ.१६५, व्य.प्र.पृ.२८६, वी.मि. पृ.३१७, व्य.म.पृ.१२७,

[23]वि.चि.पृ.७२, कृ.क.त.पृ.३९६, वि.रत्ना.पृ.१५२, वि.से.पृ.१६५, व्य.प्र.पृ.२८६, वी.मि.पृ.३१७-१८, व्य.म. पृ.१२७,

[24] वि.चि.पृ.७२, कृ.क.त.पृ.३९६, स्मृ.च.पृ.४६१, वि.रत्ना.पृ.१५२, वि.से.पृ.१६५, व्य.प्र.पृ.२८६

शूद्र से ब्राह्मण दासकर्म करवा सकता है क्योंकि स्वयम्भू के द्वारा शूद्र ब्राह्मण की दासता के लिए ही बनाया गया है। स्वामी द्वारा दासकर्म से मुक्त किया गया भी शूद्र दास्य-कर्म से मुक्त नहीं होता क्योंकि दास्य कर्म उनका नैसर्गिक कर्म है। इसलिए उससे कौन छुडा सकता है ? -

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्षितौ।

बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयेत्॥[25]

दास्यं च कारयन्मोहाद्ब्राह्मण: संस्कृतान्द्विजान्।

अनिच्छत: प्रभावित्वाद्राज्ञा दाप्य: शतानिषट्॥

शुद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीत एव वा।

दास्यायैवं हि सृष्टोऽसौ स्वयमेव स्वयंभुवा॥[26]

न स्वामिना विसृष्टो हि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते।

निसर्गत्वं हि तत्तस्य कथं तस्माद्व्यपोहति॥[27]

विष्णु ने उत्तमवर्ण अर्थात् ब्राह्मण से दास कर्म करवाने पर उत्तम साहस अर्थात् एक सहस्त्र पण के दण्ड का विधान किया है- यस्तूत्तमवर्णं दास्ये नियोजयति तस्योत्तमसाहसो दण्ड:।

कात्यायन के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी ब्राह्मण वर्ण की स्त्री की बिक्री करता है अथवा खरीदता है तो उस लेन-देन में शामिल सभी व्यक्तियों को राजा दण्डित करे।यदि किसी व्यक्ति के घर में कोई कुलीन आश्रय ग्रहण करती है और वह आश्रयदाता उसे दासी बना लेता है या किसी अन्य को बेच देता है वह भी दण्ड का भागी होता है-

---

[25] वि.चि.पृ.७२, कृ.क.त.पृ.३९७, स्मृ.च.पृ.४६२, वि.रत्ना.पृ.१५३, वि.से.पृ.१६६, व्य.प्र.पृ.२८७, वी.मि. पृ. ३१८, व्य.म.पृ.१२७,

[26]वि.चि.पृ.७२-७३, कृ.क.त.पृ.३९८, स्मृ.च.पृ.४६३, वि.रत्ना.पृ.१५३-५४, वि.से.पृ.१६६, व्य.प्र.पृ.२८७, वी. मि.पृ.३१९

[27] वि.चि.पृ.७३, वि.से.पृ.१६६

आदद्याद्ब्राह्मणीं यस्तु विक्रीणीयात्तथैव च।

राज्ञा तद कृतं कार्यं दण्डया:स्यु: सर्व एव ते॥

कामात्संसृजतीं यस्तु दासीं कुर्यात्कुलस्त्रियम्।

सडक्रामयति वान्यत्र दण्डयस्तच्चाकृतं भवेत्॥[28]

विवादचिन्तामणिकार के अनुसार स्वेच्छा से आश्रय ग्रहण करने वाली कुलीन स्त्री को जो व्यक्ति दासी बनाता है अथवा दूसरे को समर्पित कर देता है वह भी दण्डनीय है।[29] साथ ही कात्यायन का मत है कि जो व्यक्ति अपने बच्चे की धात्री से सम्भोग करता है अथवा किसी अन्य स्त्री से जो दासी नहीं है अथवा अपने नौकर की पत्नी से ऐसा करता है वह पूर्वसाहस दण्ड का पात्र होता है तथा जो व्यक्ति कष्ट में न रहने पर और पर्याप्त सम्पत्ति के रहते हुए भी अपनी विश्वासपात्र बिलखती हुई (अपने विक्रय के प्रति अनिच्छित) दासी को बेचना चाहता है उस पर २०० पण का दण्ड लगता है।

बालधात्रीमदासीं च दासीमिव भुनक्ति य:।

परिचारकपत्नीं च प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥[30]

विक्रोशमानां यो भक्तां दासीं विक्रेतुमिच्छति।

अनापदिस्थ: शक्त: सन्प्राप्नुयाद्दिशतं दमम्॥[31]

३.१.२. वेतनानपाकर्म्म

भृत्यों के वेतन को देने अथवा न देने का वर्णन जिस व्यवहारपद में किया जाता है, वह वेतनानपाकर्म कहलाता है।नारदस्मृति तथा अग्निपुराण[32] में वेतनानपाकर्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है - भृत्यों को वेतन देने अथवा न देने से सम्बन्ध रखने वाले विवादपद को वेतनानपाकर्म कहते हैं –

---

[28] वि.चि.पृ.७३, कृ.क.त.पृ.३९८, वि.रत्ना.पृ.१५४, वि.से.पृ.१६६-६७, व्य.प्र.पृ.२८७, व्य.म.पृ.१२८,

[29] वि. चि. पृ.७३

[30] वि.चि.पृ.७३, कृ.क.त.पृ.३९९, वि.रत्ना.पृ.१५५, वि.से.पृ.१६७, व्य.प्र.पृ.२८७, व्य.म.पृ.१२८

[31] वि.चि.पृ.७३, कृ.क.त.पृ.३९९, वि.रत्ना.पृ.१५५, वि.से.पृ.१६७, व्य.प्र.पृ.२८७, व्य.म.पृ.१२८

भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः।

वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्॥[33]

मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका मिताक्षरा में इसे वेतनादान कहा गया है। इसका अभिप्राय है वेतन का अदान अर्थात् नहीं देना। इस प्रकार वेतनादान का अर्थ है कि वेतन का दान स्वीकार करके कार्य करने वाले व्यक्ति को किस परिस्थिति में वेतन दिया जा सकता है और किस परिस्थिति में नहीं इसका निर्धारण जिस प्रकरण में किया जाता है उसे वेतनादान कहा जाता है। व्यवहारप्रकाश में वेतनानपाकर्म्म की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है –**यस्मिन्विवादपदे भृतानां वेतनस्य दानादानविधिक्रमो निरूपितः तद्विवादपदं वेतनस्यानपाकर्मेत्युच्यत इत्यर्थः।**[34] वीरमित्रोदयकार ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है -वेतन कर्ममूल्य तस्यानपाकर्म भृत्यायासमर्पण समर्पितस्य वा परावर्त्तनम्।[35] इस प्रकार भृत्यों के वेतन के दान अथवा अदान के विषय में जिस विवादपद में वर्णन किया जाता है, वह वेतनानपाकर्म कहलाता है।

भृतकों को वेतन देने अथवा न देने के सम्बन्ध में स्मृतिकारों ने विभिन्न व्यवस्थायें की हैं। उनके कार्य की अवधि, पारिश्रमिक, स्वामियों तथा भृतकों के उत्तरदायित्व आदि के सम्बन्ध में भी विभिन्न व्यवस्थायें की गई हैं, जो इस प्रकार हैं-

---

[32] भृत्यानां वेतनस्योक्ता दानादानविधिक्रिया।

वेतनस्यानपाकर्म तद् विवादपदं स्मृतम्॥

[33]ना. स्मृ. ४/६/१, कृ.क.त.पृ.४००, वि.रत्ना.पृ.१५६, व्य.प्र.पृ.२८८, वी.मि.पृ.३२३, व्य.म.पृ.१३०, व्य.नि. पृ.३१२

[34] व्य. प्र. पृ.२८८

[35] वी.मि. पृ. ३२३

भृतकों को वेतन देने की विधि का वर्णन करते हुए नारद ने कहा है –स्वामी भृतक को उसके कार्यकृत के आधार पर कार्य के प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में वेतन दे। वहां वेतन पहले से निश्चित नहीं हुआ है वहां वणिक्, ग्वाला एवं कर्षक को क्रमश: लाभ, दूध एवं अन्न का दशमांश दे -

भृताय वेतनं दद्यात्कर्म्मस्वामी यथाकृतम्।

आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणां यद्विनिश्चितम्॥

भृतावनिश्चितायां तु दशमं भागमाप्नुयु:॥[36]

लाभगोवीर्यसस्यानां वणिग्गोपकृषीवला:।[37]

याज्ञवल्क्य ने भी यही व्यवस्था की है –

दाप्यस्तु दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यत:।

अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत्स महीक्षिता॥ [38]

यदि अनेक भृत्य मिलकर संयुक्त रूप से कार्य करते हैं तो उस स्थिति में याज्ञवल्क्य का मत है कि यदि दो व्यक्तियों अथवा दो से अधिक व्यक्तियों के द्वारा कार्य सम्पन्न करने पर जो व्यक्ति जितना कार्य करता है उसे मध्यस्थ के द्वारा निर्णीत वेतन देना चाहिए। परंतु दोनों व्यक्तियों के द्वारा कार्य सम्पन्न होने पर पूर्व निश्चित वेतन दे -

यो यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम्।

उभयोरप्यसाध्यं चेत्साध्ये कुर्याद्यथाश्रुतम्॥[39]

---

[36] वि.चि.पृ.७४, कृ.क.त.पृ.४००, स्मृ.चि.पृ.४७०, वि.रत्ना.पृ.१५६, व्य.प्र.पृ.२८८, वी.मि.पृ.३२३-२४, व्य.नि.पृ.३१३

[37] ना. स्मृ. ४/६/२-३, वि.चि.पृ.७४, कृ.क.त.पृ.४००, स्मृ.चि.पृ.४७०, वि.रत्ना.पृ.१५६, व्य.प्र.पृ.२८८, वी. मि. पृ.३२३-२४, व्य.नि.पृ.३१३

[38] कृ.क.त.पृ.४०१, स्मृ.चि.पृ.४७०, वि.रत्ना.पृ.१५६, व्य.प्र.पृ.२८८, वी.मि.पृ.३२४,व्य.म.पृ.१३०, व्य.नि. पृ.३१३

मिताक्षराकार के अनुसार यह नियम ऐसी परिस्थिति के लिए है जब व्याधि आदि के कारण निश्चित वेतन के आधार पर किया जाने वाला कार्य समाप्त न हो तो जो भृत्य जितना कार्य करता है उसे उसके द्वारा सम्पन्न किये गये कार्य के आधार पर मध्यस्थ व्यक्ति द्वारा निर्धारित वेतन दिया जाना चाहिए। वृहस्पति के अनुसार कर्षक भृतक को अन्न का तीन अथवा पांच भाग मिलता है। यदि स्वामी भृत्य को भोजन और वस्त्र देता है तो उसे अन्न का पांचवां भाग तथा जिसे भोजन और वस्त्र नहीं मिलता उसे तिहाई मिलता है -

त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीयात्सीरवाहकः।

भक्ताच्छादनभृत्सीरी भागं गृह्णीत पञ्चकम्॥

जातशस्यत्रिभागं तु प्रगृह्णीतोपधाभृतः।[40]

इसके पहले नारद ने दशमांश की जो व्यवस्था की है वह कर्षक से भिन्न विषय के लिए है। आपस्तम्ब के अनुसार स्वामी को छोड़कर जाने वाले कर्षक को स्वामी द्वारा शरीर दण्ड देना चाहिए। तथा गोपालक के पशु आदि छीन लेना चाहिए -

उद्वसतः कीनाशस्य कर्मनाशे दण्डताडनं तथा। पशुपस्यावरोधनं चास्य पशूनाम्।

वृद्धमनु के अनुसार यदि भृत्यों का वेतन पूर्व निर्धारित न हो तो कुशल व्यापारियों की सहमति से स्थान,काल एवं उद्देश्य के अनुसार तय करना चाहिए –

समुद्रयानकुशला देशकालार्थवेदिनः।

नियच्छेयुर्भृतिं यां तु सा स्यात्प्रागकृता यदि॥[41]

पूर्व निश्चित पारिश्रमिक भी कुछ स्थानों पर कम या अधिक किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में वृहस्पति का कथन है – वेतन लेकर भी यदि कोई भृत्य कार्य नहीं करता तो उसे ग्रहीत वेतन का द्विगुण

---

[39] कृ.क.त.पृ.४०१, स्मृ.चि.पृ.४७२, वि.रत्ना.पृ.१५७, व्य.प्र.पृ.२८९, वी.मि.पृ.२२५, व्य.नि.पृ.३१३

[40] वि.चि.पृ.७४, कृ.क.त.पृ.४०१-२, स्मृ.चि.पृ.४७१, वि.रत्ना.पृ.१५७-५८, व्य.प्र.पृ.२८८, वी.मि.पृ.३२४, व्य.म.पृ.१३०, व्य.नि.पृ.३१५

[41] वि.चि. पृ. ७५, कृ.क.त.पृ.४०२, स्मृ. च. पृ.४७१, वि. रत्ना. पृ.१५८, व्य प्र.पृ.२८९, वी.मि.पृ.३२४, व्य.नि.पृ.३१५

दण्ड देना चाहिए –यदि भृतक कार्य करने में समर्थ न हो तो वह अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर सकता है। कार्य के प्रास्म्भ में ही वेतन लेकर कार्य छोड़ दे तब भी द्विगुण दण्ड देना चाहिए और यदि बिना वेतन लिए कार्य छोड़ दे तो वेतन के बराबर दण्ड देना चाहिए -

गृहीतवेतनं कर्म न करोति यदा भृत:।

समर्थश्चेद्दमं दाप्यो द्विगुणं तच्च वेतनम्॥

समर्थ: सन्कर्म्म न करोतीति सम्बन्ध:।

गृहीतवेतन: कर्म त्यजन्द्विगुणमावहेत्।

अगृहीते समं दाप्यो भृतै रक्ष्य उपस्कर:।[42]

नारद के अनुसार काम करने के वचन देकर भी जो कार्य नहीं करता उससे स्वामी बलपूर्वक कार्य करवाये। तथा वेतन लेकर भी कार्य न करे उसे वेतन का दोगुणा उससे लिया जा सकता है –

कर्माकुर्वन्प्रतिश्रुत्य कार्यो दत्वा भृतिं बलात्।

भृतिं गृहीत्वाऽनुकुर्वाणो द्विगुणां भृतिमाहरेत्॥[43]

वृहस्पति का मत है कि ऐसे व्यक्ति से दो सौ पण ग्रहण करे - स चेन्न कुर्यात्तत्कर्म प्राप्नुयाद्दिशतं दमम्। मनु के अनुसार जो सेवक स्वस्थ होते हुए दर्पवश जैसा कहा है वैसा कार्य नहीं करता, वह आठ कृष्णल दण्ड के योग्य है तथा ऐसे व्यक्ति का वेतन भी न दिया जाये। जो बीमार भृत्य स्वस्थ होने के बाद जैसा कहा है वैसा करता है वह दीर्घकाल का वेतन भी आरम्भ से प्राप्त करने योग्य है अर्थात् जो व्यक्ति बीमार होने के कारण कार्य बीच में ही छोड़कर चला जाय और स्वस्थ होने के बाद पूरा कर दे तो चिरकाल के बाद भी वेतन पाने के योग्य है तथा जो व्यक्ति बीमार होकर कहे गये कार्य न करे अथवा स्वस्थ होने पर भी न करे तो थोड़े बचे हुए कार्य का भी वेतन उसे न दिया जाये -

भृतोनार्त्तो यो न कुर्याद्दर्पात्कर्म यथोदितम्।

स दण्डय: कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम्।

---

[42] वि.चि.पृ.७५, कृ.क.त.पृ.४०३, स्मृ.चि.पृ.४७३, वि.रत्ना.पृ.१५९, व्य.प्र.पृ.२८९, वी.मि.पृ.३२५, व्य.नि.पृ. ३१५

[43]वि.चि.पृ.७५, कृ.क.त.पृ.४०३, वि.रत्ना.पृ.१५९, व्य.प्र.पृ.२९०, वी.मि.पृ.३२५, व्य.म.पृ.१३०, व्य.नि.पृ. ३१६

यथोक्तमार्त्त: सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्।

न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मण: ।।

आर्त्तोपि कुर्यात्सुस्थ: सन्यथाभाषितमादित: ।

सुदीर्घस्यापि कालस्य स लभेतैव वेतनम्॥[44]

कृत्यकल्पतरु में 'अनार्त्त:' की व्याख्या राजा अथवा दैवीय कारणों से किसी अशक्तता से ग्रस्त न होने पर की गई है। नारद का मत इस प्रकार है -

काले पूर्णे त्यजन्कर्म भृतेर्नाशमवाप्नुयात्॥

स्वामिदोषादपादपाक्रामन्यावत्कृतवाप्नुयात्॥[45]

विष्णु ने भी कहा है भृतक यदि कार्य पूर्ण न होते हुए भी बीच में ही छोड़ देता है तो सम्पूर्ण वेतन दे, साथ में राजा को सौ पण दण्ड दे और स्वामी भी यदि भृतक को कार्यावधि के पहले छोड़ दे तो वह सम्पूर्ण वेतन दे–**भृतकश्चापूर्णे काले कर्म त्यजन्सकलमेव मूल्यं दद्यात्। राज्ञे च पणशतं दद्यात्।स्वामी चेद्भृतकमपूर्णे काले जह्यात्. तस्य सकलमेव मूल्यं दद्यात्।'**

वृद्धमनु के अनुसार भृतक से यदि असावधानी के कारण वस्तु नष्ट हो जाये तो वस्तु का मूल्य दे लेकिन यदि द्रोह के कारण नष्ट हो तो वस्तु का दोगुणा मूल्य दे। लेकिन यदि चोर द्वारा चुरा लिया जाता है अथवा अग्नि में जल जाता है या जल में बह जाता है तो कुछ भी न दे -

प्रमादान्नाशितं दाप्य: समं द्विर्द्रोहनाशितम्।

न तु दाप्यो हृतं चौरैर्दग्धमूढं जलेन वा।[46]

---

[44] वि.चि.पृ.७५-७६, कृ.क.त.पृ.४०४, स्मृ.चि.पृ.४७३-७४, वि.रत्ना.पृ.१६०, व्य.प्र.पृ.२९०, वी.मि.पृ.३२६, व्य.म.पृ.१३०, व्य.नि.पृ.३१६

[45] वि.चि.पृ.७६, कृ.क.त.पृ.४०५, स्मृ.चि.पृ.४७४, वि.रत्ना.पृ.१६१, व्य.प्र.पृ.२९१, वी.मि.पृ.३२६, व्य.नि.पृ. ३१६

[46] व्य. प्र. पृ. ४०५

मत्स्यपुराण में भी कहा गया है कि शिल्प आदि सिखाने के लिए मूल्य लेकर जो गुरु नहीं सिखाता तो उसे पूरा धन दण्ड रूप में देना पड़ता है -

मूल्यमादाय यो विद्यां शिल्पं वा न प्रयच्छति।

दण्डय: स मूल्यं सकलं धर्मज्ञेन महीभृता॥[47]

वृहस्पति के अनुसार यदि स्वामी भृतक से कार्य करवाकर उसका वेतन न दे तो वह राजा द्वारा दण्ड्य है और निश्चित वेतन भी उसे देना पड़ता है -

कृते कर्मणि य: स्वामी न दद्याद्वेतनं भृते:।

राज्ञा दापयितव्य: स्याद्विनयं चानुरूपत:॥

यात्रा के समय भृतक द्वारा स्वामी को रास्ते में ही छोड़ देने के विषय में कात्यायन ने कहा है यदि भृतक स्वामी को यात्रा के समय थक जाने या रोग से पीड़ित होने के कारण छोड़कर आगे बढ जाता है तो वह ग्राम में तीन दिन तक स्वामी की प्रतीक्षा न करने के कारण अर्थ दण्ड के योग्य है -

त्यजेत्पथि सहायं य: श्रान्तं रोगार्त्तमेव वा ।

आप्नुयात्साहसं पूर्वं ग्रामे त्र्यहमपालयन्।[48]

३.१.३. पण्यस्त्रीविधि-

नारद ने इस सम्बन्ध में निम्न व्यवस्था की है –यदि कोई वेश्या किसी पुरुष से शुल्क लेकर उसके पास नहीं जाती तो उसे उस पुरुष से लिए गये शुल्क का दोगुणा देना चाहिए। शुल्क देकर भी यदि कोई पुरुष वेश्या स्त्री के पास जाने की इच्छा नहीं रखता तो वह शुल्क हानि को प्राप्त करता है अर्थात् वह शुल्क उसे वापस नहीं मिलता–

शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत्।

अनिच्छञ्छुल्कदातापि शुल्कहानिमवाप्नुयात्॥

---

[47] म. पु. २२७/६, व्य. प्र. पृ.४०६

[48] का. स्मृ. ६६०, व्य. प्र. पृ.४०८

परन्तु वृहस्पति के अनुसार कुछ पण्य स्त्रियां निर्दोष हैं जो व्यादि आदि से पीड़ित, सश्रमा, व्यग्रा, राजकर्मपरायणा पण्य स्त्री यदि किसी के बुलाने पर नहीं जाती तो भी वह दोषी नहीं होती -

व्याधिता सश्रमा व्यग्रा राजकर्मपरायणा।

आमंत्रिता च नागच्छेदवाच्या वडवा स्मृता॥[49]

मत्स्यपुराण में पण्यस्त्रियों से सम्बन्धित विषय में निम्न विधान किया गया है – यदि कोई पण्यस्त्री किसी व्यक्ति से शुल्क लेने के उपरान्त किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है या कहीं और चली जाती है तो उसे राजा द्वारा दण्ड दिया जाय तथा यदि कोई व्यक्ति किसी वेश्या के साथ भोग करने के पश्चात् उसे निश्चित शुल्क नहीं देता है तो उसे निश्चित शुल्क का दूना वेश्या तथा राजा को देना पड़ता है -

अन्यमुद्दिश्य यो वेश्यां नयेदन्यस्य कारणात्।

तस्य दण्डो भवेद्राज्ञः सुवर्णस्य तु माषकम्॥

नीत्वा भोगं न यो दद्याद्दाप्यो द्विगुणवेतनम्।

राज्ञश्च द्विगुणं दण्डं तथा धर्मान्न हीयते॥

बहूनां व्रजतामेकां सर्वे ते द्विगुणं धनम्।

तस्या दद्युःपृथग्राज्ञे दण्डं च द्विगुणं परम्॥[50]

नारद ने उनके विवाद सुलझाने के सम्बन्ध में व्यवस्था करते हुए कहा है –मुख्य वेश्याओं एवं उनकी अन्य भोग-निरत सहयोगिनियों के वेश्या सम्बन्धी लेने-देन के विवाद सुलझाने चाहिए -

वेश्याप्रधाना ये तत्र कामुकास्तद्गृहोषिताः।

तत्समुत्थेषु कार्येषु निर्णयं संशये विदुः ॥[51]

---

[49] वि.चि.पृ.७८, कृ.क.त.पृ.४०८, स्मृ.चि.पृ.४८१, वि.रत्ना.पृ.१६६, व्य.प्र.पृ.२९३, वी.मि.पृ.३३०, व्य.नि.पृ. ३१८

[50] म. पु. २२७/१४६-१४८ वि.चि.पृ.७८, कृ.क.त.पृ.४०८-९, वि.रत्ना.पृ.१६७, वी.मि.पृ.३३०

[51] वि. चि. पृ७९, व्य. प्र. पृ.४१०

३.१.४. गृह आदि के शुल्क की विधि-

इस सम्बन्ध में नारद का मत है कि जो व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की भूमि पर शुल्क देकर गृहनिर्माण करके निवास करता है, वह जाने के समय घर के उपादान तृण, काष्ठ अथवा ईंट ले जा सकता है। दूसरे व्यक्ति की इच्छा के बिना शुल्क न देते हुए भी यदि कोई व्यक्ति उसकी भूमि पर गृह निर्माण करके निवास करता है तो, वह जाने के समय तृण, काष्ठ अथवा ईंट नहीं ले जा सकता -

परभूमौ गृहं कृत्वा स्तोमं कृत्वा वसेत्तु यः।

स तद्गृहीत्वा निर्गच्छेत्तृणकाष्ठेष्टकादिकम्॥

स्तोमं विना वसित्वा तु परभूमावनिच्छतः।

निर्गच्छेत्तृणकाष्ठानि न गृह्णीयात्कथंचन॥[52]

कात्यायन के अनुसार किराये के घर, जलाशय या हाट को स्वामी से लेकर उसे लौटाता नहीं है तो उसे राजा द्वारा दण्डित होना पड़ता है तथा यदि कोई व्यक्ति हाथी, घोड़ा, बैल, गधा अथवा ऊंट किराये पर लेकर और उनसे कार्य लेकर लौटाता नहीं है तो वह उसे किराये के साथ लौटाना पड़ता है-

गृहवार्यापणादीनि गृहीत्वा भाटकेन यः।

स्वामिनो नार्पयेद्यावत्तावद्दाप्यः स भाटकम्॥

वारि परकृताप्रातिष्ठितनत्र विवक्षितम्।

हस्त्यश्वगोखरोष्ट्रादीन्गृहीत्वा भाटकेन यः।

स्वामिनो नार्पयेद्यावत्तावद्दाप्यः स भाटकम्॥[53]

---

[52]ना स्मृ.४/६/२०-२१, वि.चि.पृ.७९, कृ.क.त.पृ.४११, स्मृ.चि.पृ.४७९-८०, वि.रत्ना.पृ.१६८, व्य.प्र.पृ. २९४, व्य.म.पृ. १३२, व्य.नि.पृ.३१९

[53] वि.चि.पृ.७९, कृ.क.त.पृ.४११-१२, स्मृ.चि.पृ.४७९, वि.रत्ना.पृ.१६८-६९, व्य.प्र.पृ.२९५, व्य.नि.पृ.३२०

नारद के अनुसार यदि कोई व्यक्ति निश्चित समय में निर्दिष्ट किराया लेकर शकट आदि के द्वारा वस्तु पहुंचाने के लिए समझौता करके दैव अथवा राजकृत उपद्रव के न होने पर भी शकट आदि के भग्न होने के कारण नहीं पहुंचा पाता है तो उस शकट चालक को ही नष्ट वस्तु देना पड़ेगा -

स्तोमवाहीनि भाण्डानि पूर्णकालेऽप्युपानयेत्।

ग्रहीतुराभवेभ्दग्नं नष्टं वान्यत्र संल्पवात्॥[54]

३.३. स्वामिपालविवाद-

पशुओं के स्वामी और उनके पालक के बीच होने वाले विवाद को स्वामिपालविवाद कहते हैं। मनु ने स्वामिपालविवाद का अर्थ करते हुए कहा है-

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे।

विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वत:॥[55]

विवादरत्नाकरकार ने इस श्लोक में उद्धृत 'पशुषु' की व्याख्या उन पशुओं के रूप में की है जो विवाद का विषय है। नारदस्मृति में विवादपद का वर्णन वेतानानपाकर्म प्रकरण में किया गया है। स्मृतिकारों ने पशुओं के स्वामियों और उनके पालकों के सम्बन्ध में विभिन्न व्यवस्थायें की हैं। मनु के अनुसार दिन में पशुओं का उत्तरदायित्त्व पालक पर होता है तथा रात्रि में पशु स्वामी के घर में रहते हैं तो स्वामी का उत्तरदायित्त्व होता है अन्यथा पालक का कर्तव्य होता है –

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।

योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात्॥[56]

---

[54] ना. स्मृ.४/६/२२ वि.चि.पृ.७९, कृ.क.त.पृ.४१२, स्मृ.चि.पृ.४७९, वि.रत्ना.पृ.१६८, व्य.प्र.पृ.२९४, , व्य.नि.पृ.३२०

[55] कृ.क.त. पृ.४१३, स्मृ.च.पृ.४८२, वि.रत्ना.पृ.१७०, व्य.प्र.पृ.२९६, वी.मि.पृ.३४६, व्य.नि.पृ.३२२,

[56] कृ.क.त. पृ.४१५, वि.रत्ना.पृ.१७१, व्य.प्र.पृ.२९६

जो गोपालक दूध के रूप में अपनी वृत्ति लेता है उसके सम्बन्ध में मनु का मत है – वह गोस्वामी की अनुमति से उसकी दस गायों में से जो अच्छी लगे उसका दूध ले ले। अन्य वेतन न लेने वाले गोपालक का यही वेतन है -

गोप: क्षीरभृतिर्यस्तु स दुह्याद्दशतोवराम्।

गोस्वाम्यनुमते भृत: सा स्यात्पालेऽभृते भृति:॥[57]

नारद ने इससे पृथक व्यवस्था की है। उनके अनुसार सौ गायों का चारण करने वाला गोपालक तीन वर्ष की गाय पारिश्रमिक रूप में लेता है, दो सौ गायों का चारण करने पर एक दुग्धवती गौ लेता है तथा प्रत्येक आठवें दिन उन गायों का दूध गोप को देना चाहिए -

गवां शताद्वत्सतरी धेनु: स्याद्विशताद्धृति।

प्रतिसंवत्सरे गोपे संदोहश्चाष्टमेऽहनि॥[58]

वृहस्पति ने भी कहा है-'तथा धेनुभृत: क्षीरं लभते ह्यष्टनेखिलम्।' नारद ने गोपालकों के कार्यों का वर्णन करते हुए कहा है–प्रत्येक सुबह गोपाल गोचारण के लिए गोस्वामी से गायों को ले जाये तथा शाम को आहार तथा जल पिलाकर वापस घर लाये -

उपायनेद्गां गोपाय प्रत्यहं रजनीक्षये।

चीर्णा: पीताश्च ता गोप: सायाह्ने प्रत्युपानयेत्॥[59]

ऐसा न करने पर याज्ञवल्क्य ने गोपालक के लिए दण्ड का विधान किया है। उनके अनुसार गायों का स्वामी प्रात:काल पशुओं की गणना कर गोपालक को समर्पित करे। गोपालक भी सायंकाल वैसे ही गोस्वामी को समर्पित करे। अपनी असावधानी के कारण पशुओं के मृत या नष्ट हो जाने पर वेतन पाने वाला गोप उसका मूल्य गोस्वामी को दे-

---

[57] कृ.क.त. पृ.४१३, स्मृ.च.पृ.४८३, वि.रत्ना.पृ.१७०, व्य.प्र.पृ.२९६, वी.मि.पृ.३४७, व्य.नि.पृ.३२३

[58] कृ.क.त. पृ.४१३, स्मृ.च.पृ.४८३, वि.रत्ना.पृ.१७०, व्य.प्र.पृ.२९६, वी.मि.पृ.३४६, व्य.नि.पृ.३२३

[59] कृ.क.त. पृ.४१४, स्मृ.च.पृ.४८४, वि.रत्ना.पृ.१७१, व्य.प्र.पृ.२९६, वी.मि.पृ.३४६, व्य.नि.पृ.३२३

अथार्पितान्पशून्गोप: सायं प्रत्यर्पयेत्तथा।

प्रमादहृतनष्टांश्च प्रदाप्य: कृतवेतन:॥[60]

लेकिन यदि चोरों द्वारा पहले से घोषणा करके पशु आदि अपहृत कर लिये जाते हैं और उसे यदि पालक अपने स्वामी को इस सम्बन्ध में उचित स्थान और समय पर सूचित करता है तो गोपालक उस पशु को देने का उत्तरदायी नहीं होता है -

विक्रम्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति।

यदि देशे च काले च स्वामिनस्तच्च शंसति।।[61]

व्यास ने भी कहा है कि पालक के घर, ग्राम अथवा राष्ट्र के विप्लव के कारण पशु नष्ट अथवा अपहृत हो जाय तो उसमें पालक को कोई दोष नहीं लगता-

पालग्रहे ग्रामघाते तथा राष्ट्रस्य विप्लवे।

यत्प्रणष्टं हृतं वा स्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी॥[62]

वृहस्पति का कथन है कि कीड़ो, चोरों व्याघ्र, गर्त्तों, कन्दराओं आदि से पशुओं को बचाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करे अथवा स्वामी को इस सम्बन्ध में सूचित करे और ऐसा न करने पर उसे नष्ट हुए पशु का मूल्य तथा राजा को अर्थदण्ड देना पड़ता है -

कृमिचौरव्याघ्रभयाद्दरीश्वभ्राच्च पालयेत्।

आयच्छेच्छक्तित: क्रोशेत्स्वामिने वा निवेदयेत्॥

अव्यायच्छन्नविक्रोशन्स्वामिने चानिवेदयन्।

वोढुमर्हति गोपस्तां विनयं चैव राजनि॥[63]

---

[60] कृ.क.त. पृ.४१४, वि.रत्ना.पृ.१७१, व्य.प्र.पृ.२९६, व्य.नि.पृ.३२४

[61] कृ.क.त. पृ.४१५, स्मृ.च.पृ.४८४, वि.रत्ना.पृ.१७२, व्य.प्र.पृ.२९७

[62] कृ.क.त. पृ.४१५, स्मृ.च.पृ.४८५, वि.रत्ना.पृ.१७२, व्य.प्र.पृ.२९७, व्य.नि.पृ.३२५

मनु का मत है कि नष्ट हुए, कीड़ों द्वारा विनष्ट हुए, कुत्तों द्वारा मारे गये अथवा विषम स्थान में मरे हुए अथवा गोपालक के सामर्थ्य से रहित होने पर पशु को पालक ही प्रदान करे -

नष्टं विनष्टं कृमिभि: श्वहतं विषमे मृतम्।

हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यादगोप एव च॥[64]

कृत्यकल्पतरु में श्वहतम् का अर्थ मांसभक्षी पशु किया गया है। विवादचिन्तामणिकार के अनुसार गोपालक की असावधानी के कारण ही उसे स्वामी के नुकसान की भरपाई करनी होती है अन्यथा नहीं। याज्ञवल्क्य के अनुसार पालक के दोष से पशु का विनाश हो जाने पर गोपालक को साढ़े तेरह पण दण्ड का मिलना चाहिए तथा स्वामी को विनष्ट पशु का कल्पित मूल्य गोप गोस्वामी को दे -

पालदोषविनाशे तु पाले दण्डो विधीयते ।

अर्द्धत्रयोदशपणा: स्वामिनो द्रव्यमेव च ॥[65]

ब्रह्मपुराण के अनुसार वेतन लेकर यदि गोपालक पशुओं को निर्जन वन में छोड़कर ग्राम में घूमता मिल जाये तो उसे राजा द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए तथा यदि रोगादि के कारण पशु की मृत्यु हो जाती है तो गोस्वामी उस गोपालक को उसका वेतन न दे -

गृहीतमूल्यो गोपालो गास्त्यक्त्वा निर्जने वने।

ग्रामचारी नृपैर्वध्य: शलाकी वनगोचर:॥

यदि रोगादिदोषेण म्रियते गौर्गृहे क्वचित्।

तदा स गोपतिर्दण्डयोऽदत्वा गोपालवेतनम्॥[66]

---

[63] कृ.क.त. पृ.४१५-१६, स्मृ.च.पृ.४८५-८६, वि.रत्ना.पृ.१७२-७३, व्य.प्र.पृ.२९७, वी.मि.पृ.३४७-४८, व्य.नि. पृ. ३२४

[64] कृ.क.त. पृ.४१६, स्मृ.च.पृ.४८५, वि.रत्ना.पृ.१७३, व्य.प्र.पृ.२९७, वी.मि.पृ.३४७

[65]कृ.क.त. पृ.४१६, स्मृ.च.पृ.४८६, वि.रत्ना.पृ.१७३, व्य.प्र.पृ.२९८, वी.मि.पृ.३४८, व्य.म.पृ.१३५, व्य.नि.पृ. ३२५

याज्ञवल्क्य ने महिषी आदि द्वारा सस्य के नष्ट होने पर दण्ड की व्यवस्था की है जो इस प्रकार है – सस्य को नष्ट करने वाली महिषी को आठ माष, गाय को चार माष तथा बकरी एवं भेड़ को दो-दो माष दण्ड देना चाहिए। यहां महिषी आदि के लिए जो दण्ड का विधान किया गया है उसके सम्बन्ध में मिताक्षराकार का मानना है कि ये शब्द उनके स्वामियों के उपलक्षक हैं। साथ ही सस्य को खाकर उसी खेत में बैठे हुए पशु को पूर्वकथित दण्ड का दोगुणा दण्ड देना चाहिए। गधे तथा ऊंट को भी महिषी के समान ही दण्ड देना चाहिए। जिस खेत का जितने मूल्य का अन्न तथा पलाल आदि को नष्ट किया है सामन्तादि के द्वारा परिकल्पित उतना फल भूस्वामी को देना चाहिए तथा गोपालक केवल ताडन का दण्ड पाने योग्य है। गोस्वामी पूर्वोक्त आठ माषादि दण्ड का पात्र होगा -

माषानष्टौ तु महिषी सस्यघातस्य कारिणी।

दण्डनीया तदर्धं तु गौस्तदर्धमजाविकम्॥

भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्ताद्विगुणो दमः।

सममेषां विवीतेऽपि खरोष्ट्रं महिषीसमम्॥[67]

यावत्सस्यं विनश्येत्तु तावत्स्यात्क्षेत्रिणः फलम्।

गोपस्ताड्यश्च गोमी तु पूर्वोक्तं दण्डमर्हति॥[68]

नारद ने कहा है कि पशुओं की मृत्यु हो जाने पर मृत पशु का बाल या श्रृंगादि दिखाने से पशुपालक दोष से मुक्त हो जाता है -

अनेन सर्वपालानां विवादः समुदाहृतः।

मृतेषु तु विशुद्धिः स्याद्बालश्रृङ्गादिदर्शनात्॥[69]

---

[66] कृ.क.त. पृ.४१६-१७, वि.रत्ना.पृ.१७४, व्य.प्र.पृ.२९८, वी.मि.पृ.३४७,

[67] वी.मि.पृ.३५०,व्य.म.पृ.१३५, व्य.नि.पृ.३२९

[68] या. स्मृ. व्यवहाराध्याय/ १५९-१६१व्य.म.पृ.१३५

[69] कृ.क.त. पृ.४१७, स्मृ.च.पृ.४८७, वि.रत्ना.पृ.१७५, व्य.प्र.पृ.२९९, व्य.नि.पृ.३२५

३.२. संविद्यतिक्रम-

किसी संघ या गण द्वारा निर्धारित नियम का उल्लंघन करना संविद्यतिक्रम कहलाता है। नारद ने संविद् का अर्थ समय किया है तथा उन्होंने इसका लक्षण करते हुए कहा है कि पाखण्डी तथा नैगमादि की स्थिति को समय कहते हैं तथा इसका वर्णन समयस्यानपाकर्म प्रकरण के अंतर्गत किया है -

पाखण्डि[70] नैगमा[71]दीनां[72] स्थिति: समय उच्यते।

समस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्॥

मनु ने संविद्यतिक्रम[73] और समयभेदि दो नामों का उल्लेख किया है। अठारह विवादपदों की गणना के समय संविद्यतिक्रम शब्द का प्रयोग किया है और उनके विशिष्ट धर्मों का वर्णन करते समय समयभेदि शब्द का उल्लेख किया है-

---

[70] पाखण्डी की व्याख्या विवादचिन्तामणि (पृ.८३) और विवादरत्नाकर (पृ.१७७) में 'त्रयीविद्या से जो बाहर' हैं की गई है। व्यवहारप्रकाश (पृ.३०६) में इसका अर्थ क्षपणकादि किया गया है। व्यवहारमयूख (पृ.१३२) में पाखण्डी वैदिक मार्ग के विरोधी वाणिज्यादि कर्म करने वाले कहे गये हैं। वीरमित्रोदय (पृ.३३१) वैदिक मार्ग के विरोधी क्षपणकादि पाखण्डी कहे गये हैं।

[71] नैगम शब्द का अर्थ विवादचिन्तामणि (पृ.८३) और विवादरत्नाकर (पृ.१७७) में पौर किया गया है। व्यवहारप्रकाश (पृ.३०६), वीरमित्रोदय (पृ.३३१) और मदनरत्न में इसका अर्थ सार्थिक अथवा वणिज किया गया है। व्यवहारमयूख (पृ.१३२) में वेद मार्ग को मानने वाले नैगम शब्द से कहे गये हैं।

[72] विवादरत्नाकर(पृ.१७७) में कहा गया है कि आदि शब्द से गण, संघादि समूहों की विवक्षा की गई है। व्यवहारप्रकाश(पृ.३०६) के अनुसार आदि शब्द से त्रयीविद्या को जानने वाले ब्राह्मण समूह, श्रेणी, पूग, व्रात, गण, गुल्म, ग्राम, देशादि का ग्रहण किया गया है। व्यवहारमयूख(पृ.१३२) के अनुसार आदि शब्द से त्रयी विद्या के लिए प्रयुक्त है। वीरमित्रोदय (पृ.३३१) के अनुसार आदि शब्द से विद्वान् ब्राह्मण समूह ग्रहण किया गया है।

[73] म. स्मृ.८/५

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मण:।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम्॥

व्यवहारनिर्णयकार ने इस प्रकरण का नाम समयानपाकर्म किया है तथा समय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है- बहुभि: साधुभि: महाजनरक्षणार्थं कृता संवित् 'समय:'। तस्यान्यथाकरणम् समयस्यानपाकर्मोच्यते। संविद्यतिक्रम का कथन करते हुए मनु ने कहा है-जो मनुष्य ग्रामवासी, देशवासी तथा समुदायों की सत्यपूर्वक शपथ लेकर लोभवश उस शपथ को भंग करे, उसे राष्ट्र से प्रवासित कर देना चाहिए –

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम्।

विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥[74]

वृहस्पति ने भी समय का अर्थ मनुस्मृति के समान ही किया है और कहा है कि ग्राम, श्रेणि और गणों द्वारा बनाये गये नियम लोगों की बाधओं को दूर करने तथा उनके कल्याण के लिए होते हैं –

ग्रामश्रेणिगणानां च सङ्केतत्समयक्रिया।

बाधाकाले तु सा कार्या धर्मकार्ये तथैव च॥[75]

इस प्रकार ग्राम, श्रेणि अथवा संघों द्वारा बनाये गये नियमों का व्यतिक्रम अर्थात् परिपालन न करना संविद्यतिक्रम कहलाता है। मनु, नारद, कात्यायन, याज्ञवल्क्य, वृहस्पति आदि स्मृतियों में संविद्यतिक्रम से सम्बन्धित विभिन्न विवादों और उनके परिपालन के सम्बन्ध में विविध व्यवस्थायें की हैं जो इस प्रकार हैं - ग्राम, श्रेणि, गणों द्वारा बनाये नियमों का सभी को पालन करना होता है इस सम्बन्ध में वृहस्पति का मत है –राजभय और चोरी सर्वसाधारण बाधायें हैं, इसलिए इन नियमों का पालन सभी के द्वारा किया जाना चाहिए किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं। श्रेणियों, संघों आदि के व्यापार का निरीक्षण करने के लिए सभा होती है। जिसमें दो, तीन अथवा पांच सदस्य होते हैं ये सदस्य वेदधर्मज्ञ, पवित्र, दान्त, दक्ष, श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, और सभी कार्यों में प्रवीण होने चाहिए तथा वचनों का पालन सभी को करना होता था –

---

[74] कृ.क.त.पृ.४२४, स्मृ.च.पृ.५३०, वि.रत्ना.पृ.१८२, व्य.प्र.पृ.३११, वी.मि.पृ.३३५

[75] स्मृ.च.पृ.५२१, व्य.प्र.पृ.३०६, व्य.नि.पृ.३३१

वाटचौरभये बाधा सर्वसाधारणी स्मृता।

तत्रोपगमनं कार्यं सर्वैर्नैकेन केनचित्।।

कोषेण लेख्यक्रियया मध्यस्थैर्वा परस्परम्।

विश्वासं प्रथमं कृत्वा कुर्युः कार्याण्यनन्तरम्।

शुचयो वेदधर्मज्ञा दान्ता दक्षाः कुलोद्भवाः॥

सर्वकार्यप्रवीणास्तु कर्त्तव्यास्तु महत्तमाः।

द्वौ त्रयः पञ्च वा कार्याः समूहहितवादिनः ॥

कर्त्तव्यं वचनं तेषां ग्रामश्रेणिगणादिभिः।[76]

याज्ञवल्क्य ने इनके नियमों का उल्लंघन करने वाले के लिए दण्ड की व्यवस्था की है। उनके अनुसार समूह हित के लिए बोलने वाले व्यक्तियों के कथनों का अनुसरण अन्य लोगों द्वारा करना चाहिए, इसके विपरीत जो व्यक्ति सामूहिक हित के वचन को प्रतिबन्धित करने वाला हो अथवा न मानने वाला हो वह व्यक्ति राजा द्वारा प्रथम साहस अर्थात् २५० पण के दण्ड का पात्र बनता है -

कर्त्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम्।

यस्तत्र विपरीतः स्यात्स दाप्यः प्रथमं दमम्॥[77]

कात्यायन ने भी ऐसे व्यक्ति के लिए २५० पण के दण्ड का विधान किया है –

युक्तियुक्तं च यो हन्याद्वक्तुर्योऽनवकाशदः।

अयुक्तं तत्र यो ब्रूयात्प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥[78]

---

[76] वि.चि.पृ.८३, स्मृ.च.पृ.५२२-२४-२६, वि.रत्ना.पृ.१७८-७९, व्य.प्र.पृ.३०७-९, वी.मि.पृ.-३३२-३३-३४, व्य.नि.पृ.३३२

[77]वि.चि.पृ.८३, कृ.क.त.पृ.४२१, स्मृ.च.पृ.५२६-२७, वि.रत्ना.पृ.१७९, व्य.प्र.पृ.३०९

[78]वि.चि.पृ.८३, कृ.क.त.पृ.४२१, स्मृ.च.पृ.५२७, वि.रत्ना.पृ.१७९, व्य.प्र.पृ.३०९, वी.मि.पृ.३३४, व्य.नि.पृ.३३२

नारद के पाषण्ड, नैगम, श्रेणि, पूग, व्रात तथा गणों द्वारा निर्मित नियमों को राजा दुर्ग और जनपद में संरक्षित करे -

पाषण्डनैगमश्रेणिपूगव्रातगणादिषु।

संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा ॥[79]

कृत्यकल्पतरु[80] में 'श्रेणी' का अर्थ समान कर्म करके जीविका चलाने वाले शिल्पियों का समूह किया गया है। विवादररत्नाकर[81] में समान जाति के एक वृत्ति अपनाने वाले समूहों को श्रेणी शब्द से कहा गया है। व्यवहारमयूख[82] में अनेक जातियों द्वारा मिलकर एक जाति के कर्म करने वाले समूह को श्रेणी कहा गया है। वीरमित्रोदय[83] में एक शिल्प से जीविका चलाने वाले समूह को श्रेणी कहा गया है। कृत्यकल्पतरु[84], विवादरत्नाकर[85] तथा विवादचिन्तामणि[86] में 'पूग' का अर्थ वणिकों आदि का समूह किया गया है तथा वीरमित्रोदय[87] तथा व्यवहारप्रकाश[88] में हस्तियों और अश्वारोहियों का समूह अर्थ किया गया है और

---

[79]वि.चि.पृ.८३, कृ.क.त.पृ.४२२, स्मृ.च.पृ.५२३,वि.रत्ना.पृ.१८०, व्य.प्र.पृ.३०७, वी.मि.पृ.३३२, व्य.म.पृ. १३२

[80] 'श्रेणय:'समानकर्मशिल्पोपजीविन: कारव:। - कृ.क.त. पृ.४२१,

[81] श्रेणि: समानजातीयैकवृत्तिकारसमूह:। - वि.रत्ना. पृ.१७९

[82] नानाजातीयानामेकजातीयं कर्म कुर्वतां संघाता ।:श्रेणय : -व्य.म. पृ.१३२

[83] श्रेणय: एक शिल्पोपजीविन:। - वी. मि. पृ.३३३

[84] 'पूगो' वणिगादिसमूह:। - कृ.क.त. पृ.४२१

[85] पूगोऽत्र वणिगादिसमूह:। -वि.रत्ना. पृ.१८०

[86] पूगो वणिगादि समूह:। -वि.चि. पृ.८३

[87] पूगा हस्त्यश्वारोहादय:। -वी.मि.पृ.३३३

[88]पूगा: हस्त्यश्वारोहादय:। - व्य.प्र. पृ.३०७

व्यवहारमयूख[89] में अनेक जातियों द्वारा मिलकर कार्य करने वाले संघ को पूग कहा गया है। 'व्रात' का अर्थ कृत्यकल्पतरु[90], विवादचिन्तामणि[91] और विवादरत्नाकर[92] में आयुधधारियों का समूह किया गया है। व्यवहारमयूख[93] में संबन्धियों और बन्धुओं के संघात को व्रात कहा गया है। 'गण' का अर्थ कृत्यकल्पतरु[94], विवादरत्नाकर[95] तथा विवादचिन्तामणि[96] में ब्राह्मणादि का समूह किया गया है। व्यवहारमयूख[97] में पाखण्डि एवं व्रातों के संघों को गण कहा गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मणादि अपने श्रौत तथा स्मार्त धर्मों का विरोध न करते हुए जो पारिभाषिक धर्म हो, उसका प्रत्यनपूर्वक पालन करें तथा अपने धर्म का विरोध न करने वाले राजा के द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्यों का भी प्रयत्नपूर्वक पालन करें -

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिकोभवेत्।

सोपि यत्नेन संरक्षेद्धर्मो राजकृतश्च य:॥[98]

कात्यायन के अनुसार जो व्यक्ति राजा द्वारा प्रवर्त्तित धर्म का पालन नहीं करता वह निन्दनीय है और राजा द्वारा दण्ड का भागी है -

---

[89] भिन्नजातीयं कर्म कुर्वतां संघा: पूगा:। - व्य.म. पृ.१३२

[90] व्रात: नानयुधधरसमूह:। - कृ.क.त. पृ, ४२२

[91] व्रात आयुधीसमूह:। -वि.चि. पृ.८३

[92] व्रात आयुधीसमूह:। - वि.रत्ना. पृ.१८०

[93] व्राता: ज्ञातिसंबंधिबंधूनां संघाता: । -व्य.म. पृ.१३२

[94] गणो ब्राह्मणसमूह:। -कृ.क.त. पृ.४२१,

[95] गणो ब्राह्मणसमूह:। -वि.रत्ना. पृ.१७९

[96] गणो ब्राह्मणादि समूह:। -वि.चि. पृ.८३

[97] एतेषां पाखण्ड्यादीनां व्रातान्तानां संघा गणा:। - व्य. म. पृ.१३२

[98] वि.चि.पृ.८३, कृ.क.त.पृ.४२२, स्मृ.च.पृ.५२५, वि.रत्ना.पृ.१८१, व्य.प्र.पृ.३०८, वी.मि.पृ.३३३, व्य.म.पृ. १३२

राज्ञा प्रवर्त्तितान्धर्मान्यो नरो नानुपालयेत्।

गर्ह्यः स पापो दण्डयश्च लोपयन्नाजशासनम्॥[99]

गणों के द्रव्यों का अपहरण करने वाले के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का मत है कि जो व्यक्ति सामूहिक धन का अपहरण करता है अथवा नियम का उल्लंघन करता है, उसके सम्पूर्ण धन को लेकर राष्ट्र से निकाल देना चाहिए -

गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङघयेत्तु यः।

सर्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्।।[100]

कात्यायन का भी कथन है कि साहसी, भेदकारी तथा सामूहिक द्रव्य के विनाशक व्यक्ति का सब कुछ लेकर राजा को सूचित करना चाहिए -

साहसी भेदकारी च गुणद्रव्यविनाशकः ।

उच्छेद्याः सर्व एवैते विज्ञाप्यैवं नृपे भृगुः॥[101]

वृहस्पति का भी यही मत है -

पालनीया समस्तैस्तु यः समर्थो विसंवदेत्।

सर्वस्वहरणं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात्॥

तत्र भेदमुपेक्षां वा यः कश्चित्कुरुते नरः।

चतुः सुवर्णः षण्निष्काः दण्डस्तस्य विधीयते॥

सार्द्धं शतं सुवर्णानां निष्कमाहुर्मनीषिणः।

अरुन्तुदः सूचकश्च भेदकृत्साहसी तथा।

श्रेणीपूगानृपद्वेष्टा क्षिप्रं निर्वास्यते ततः॥[102]

---

[99] वि.चि.पृ.८४, कृ.क.त.पृ.४२३, स्मृ.च.पृ.५२६, वि.रत्ना.पृ.१८१, व्य.प्र.पृ.३०८, वी.मि.पृ.३३४

[100] या. स्मृ.२.१८७

[101] वि.चि. पृ८४

सामूहिक धन का अपहरण करने वाले के लिए याज्ञवल्क्य ने कहा है जो सामूहिक कार्य को पूर्ण करने के लिए प्रेरित होने पर जो कुछ भी प्राप्त हो, वह कार्यकर्त्ता को अर्पित कर दे। यदि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से अर्पित नहीं करता है तो ग्यारह गुणा अधिक देना चाहिए -

समूहकार्यप्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत्।

एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत्स्वयम्॥

वृहस्पति के अनुसार साथ मिलकर वाणिज्य करने वाले वणिकों द्वारा राजभाग अपहरण करने पर हरण किये गये का आठगुणा दण्ड देना चाहिए -

सम्भूयैकमतं कृत्वा राजभागं हरन्ति ये।

ते तदष्टगुणं दाप्या वणिजः प्रपलायिनः॥[103]

कात्यायन के अनुसार यदि कोई व्यक्ति गण के हित के लिए ऋण लेता है, तो उस कर्त्ता द्वारा ही वह देय होगा तथा यदि कोई बाद में गण में शामिल होता है तो उसे गण के सभी पुराने हानि-लाभों में सहभागी होना पड़ता है -

गणमुद्दिश्य यत्किञ्चित्कृत्वर्णं भक्षितं भवेत्।

आत्मार्थं विनियुक्तं वा देयं तैरेव तद्भवेत्॥

गणानां श्रेणिवर्गानां गताः स्युर्ये तु मध्यताम्।

प्राक्तनस्य धनर्णस्य समांशाः सर्व एव ते॥[104]

---

[102] वि.चि. पृ.८४-८५

[103]वि. चि. पृ.८६

[104] वि.चि. पृ.८६

३.४. विक्रीयासम्प्रदान

विक्रेता द्वारा किसी वस्तु का मूल्य लेकर विक्रय कर दिये जाने पर भी यदि वह वस्तु क्रेता को न दी जाये तो उससे सम्बन्धित विवाद विक्रीयासम्प्रदान कहलाता है। नारदस्मृति में विक्रीयासम्प्रदान का यही लक्षण किया गया है –

विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेतुर्यो न प्रयच्छति।

विक्रीयासम्प्रदानं तद्विवादपदमुच्यते॥[105]

यह ध्यान देने योग्य है कि मनुस्मृति एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र में विक्रीयासम्प्रदान नामक एक ही शीर्षक है तथा याज्ञवल्क्य एवं नारदस्मृति में विक्रीयासम्प्रदान एवं क्रीत्वानुशय नामक दो प्रकरण वर्णित हैं। इसी प्रकार स्मृतिचन्द्रिका, कृत्यकल्पतरु, विवादरत्नाकर, विवादार्णवसेतु, व्यवहारप्रकाश, वीरमित्रोदय, व्यवहारमयूख और व्यवहारनिर्णय में विक्रीयासम्प्रदान और क्रीत्वानुशय नामक दो शीर्षक ही वर्णित हैं। विवादचिन्तामणि में इन दोनों के अन्तर्गत वर्णित विषयों का वर्णन विक्रीयासम्प्रदान शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार विवादचिन्तामणि के आधार पर विक्रीयासम्प्रदान का लक्षण मनुस्मृति के अनुसार मानना चाहिए। मनुस्मृति में विक्रीयासम्प्रदान का अभिप्राय जिसे खरीदकर अथवा बेचकर क्रमश: क्रेता अथवा विक्रेता को कोई पश्चाताप् हो तो दश दिनों के अन्दर वह वस्तु लौटा देनी चाहिए –

क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यस्येहानुशयो भवेत्।

सोऽन्तर्दशाहात्तद्व्यं दद्याच्चैवाददीत॥[106]

नारद ने विक्रीयासम्प्रदान का अर्थ करते हुए कहा है कि जहां व्यक्ति द्वारा मूल्य लेकर पण्य द्रव्य को बेचने पर भी क्रेता को न दिया जाय विक्रीयासम्प्रदान कहलाता है तथा क्रीत्वानुशय का अर्थ जहां मूल्य देकर पण्य को क्रय करके भी क्रेता क्रय को उचित नहीं समझता है ऐसा किया है।

नारद ने द्रव्य के दो प्रकार बताये हैं –

---

[105]वि.चि.पृ.८६, कृ.क.त.पृ.४२९, स्मृ.च.पृ.५०९, वि.रत्ना.पृ.१९०, व्य.प्र.पृ.३१५, वी.मि.पृ.३४२, व्य.नि. पृ.३३७,

[106] वि.चि.पृ.८८, कृ.क.त.पृ.४३०, स्मृ.च.पृ.५१२, वि.रत्ना.पृ.१९०, व्य.प्र.पृ.३१७

i. स्थावर और

ii. जंगम

क्रय और विक्रय कार्य में ये स्थावर और जंगम द्रव्य पण्य कहलाते हैं –

लोकेऽस्मिन् द्विविधं द्रव्यं जङ्गमं स्थावरं तथा।

क्रयविक्रयधर्मेषु सर्वं तत् पण्यमुच्यते॥ [107]

नारद के ये जंगम और स्थावर के भेद वाले पण्य भी दान और अदान के भेद से छः प्रकार के होते हैं – गणिम, तुलिम, मेय, क्रिया, रूप और श्री –

षड्विधस्तस्य तु बुधैर्दानादानविधिः स्मृतः।

गणिम तुलिमं मेयं क्रियया रूपतः श्रिया॥ [108]

मिताक्षाराकार, व्यवहारनिर्णयकार[109] तथा व्यवहारप्रकाशकार[110] ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए गणिम का उदाहरण क्रमुक फल और नारिकेल फल बताया है अर्थात् जो गणना करने योग्य है। तोलने के योग्य वस्तु को तुलिम शब्द से कहा जाता है जैसे – कनक, चन्दन, कंकुम, कर्पूर आदि। मेय वस्तु वह है जो नापने के योग्य है जैसे- ब्रीहि आदि। वाहन, दोहनादि रूप क्रिया से उपलक्षित अश्व एवं महिषी आदि हैं। अंगना आदि का ज्ञान उसके रूप से होता है। पद्मरागादि की पहचान उसकी श्री अर्थात् दीप्ति से करते हैं।

---

[107] कृ.क.त.पृ.४२९, वि.रत्ना.पृ.१८९, व्य.प्र.पृ.३१५, वी.मि.पृ.३४२, व्य.नि.पृ.३३६

[108]कृ.क.त.पृ.४२९, वि.रत्ना.पृ.१८९, व्य.प्र.पृ.३१५, वी.मि.पृ.३४२, व्य.नि.पृ.३३६,

[109] 'गणिमं' संख्येयं क्रमुकफलादि। 'तुलिमं' तुलया धार्यं, हिरण्यचन्दनकुंकुमादि। 'मेयं' प्रस्थादिभिः ब्रीह्यादि। 'क्रियया' कर्षणादिना बलीवर्दादि। 'रूपतः' खड्गादि। श्रिया' मण्यादिः, तस्य पण्यस्य दानादानग्रहणविधिरेवं षड्विधः॥ व्य. नि. पृ.३३६

[110] गणिमं नारिकेलफलादि। तुलिमं कर्पूरादि। मेयं कुड्वादिना ब्रीह्यादि। क्रियया वाहनदोहनादिरूपयोपलक्षितमश्वमहिष्यादि। रूपतः पण्याङ्गनादि। श्रिया कान्त्या रत्नादि।

नारद का मत है कि जो विक्रेता मूल्य लेकर पण्य द्रव्य क्रेता को नहीं देता, उस विक्रेता द्वारा स्थावर पण्य का उदय अर्थात् तज्जन्य वस्तु और जंगम का क्रियाफल क्रेता को दिया जाना चाहिए। विक्रेता मूल्य लेकर यदि पण्य द्रव्य नहीं देता और बाद में उस द्रव्य का कोई मूल्य ह्रास होता है तो विक्रय के समय उस विक्रीत द्रव्य को देने से जितने लाभ की संभावना थी उतने लाभ के साथ विक्रेता को खरीदे गये द्रव्य के साथ क्रेता को देना पड़ेगा। यह नियम स्वदेश में व्यवसाय करने वाले क्रेता के लिए है। जो क्रेता देशदेशान्तर में परिभ्रमण करके व्यापार करते हैं तो उस देश में तत्समय जो नियम है उसके अनुसार द्रव्य देना पड़ेगा -

विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेतुर्यो न प्रयच्छति।

स्थावरस्य क्षयं दाप्यो जङ्गममस्य क्रियाफलम्॥

अर्धाच्चेदवहीयेत सोदयं पण्यमाहरेत्।

स्थायिनामेष नियमो दिग्लाभो दिग्विचारिणाम्॥[111]

मिताक्षराकार और स्मृतिचन्द्रिकार के अनुसार बेचने के बाद भी वस्तु का विक्रेता द्वारा उपभोग करना ही क्षय कहलाता है। ऐसा क्रेता के सम्बन्धरूप से होता है क्योंकि विक्रेता द्वारा मूल्य लेकर वस्तु बेच देने से उस वस्तु का सम्बन्ध क्रेता से हो जाता है। इसलिए यदि वस्तु में कोई विकार आने पर उससे होने वाली हानि क्रेता की ही होगी।

विष्णु ने ऐसा करने वाले विक्रेता के लिए सौ पण दण्ड की भी व्यवस्था की है - **गृहीतमूल्यो यः पण्यं क्रेतुर्नैव दद्यात्। तस्याऽसौ सोदयं दाप्यो राज्ञा च पणशतं दण्डयः ।**

विवादचिन्तामणि[112] और व्यवहारप्रकाश[113] में विष्णु के इस कथन की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ऐसा तभी होना चाहिए जब विक्रेता ने वस्तु का सम्पूर्ण मूल्य क्रेता से ग्रहण कर लिया हो। मूल्य ग्रहण न करने पर विक्रेता का कोई दोष नहीं होता।

---

[111]वि.चि.पृ.८६, कृ.क.त.पृ.४२९, स्मृ.च.पृ.५०९-१०, वि.रत्ना.पृ.१९०, व्य.प्र.पृ.३१५, वी.मि.पृ.३४२, व्य.नि. पृ.३३७

[112] वि. चि. पृ. ८७

[113] व्य. प्र. पृ.३१६

द्रव्य के नाश, दहन या अपहरण होने की स्थिति में हानि विक्रेता की ही होती है ऐसा नारद का मानना है -

उपहन्येत वा पण्यं दह्येतापह्रियेत वा ।

विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयाऽसंप्रयच्छत:।।

दत्तमूल्यस्य पण्यस्य विधिरेष प्रकीर्त्तित:।

अदत्तेऽन्यत्र समयान्न च क्रेतुरति क्रम:॥[114]

याज्ञवल्क्य ने राजा अथवा दैव के कारण हानि होने की स्थिति में भी विक्रेता की हानि की कल्पना की है। उनके अनुसार राजा अथवा दैवकृत विपत्ति के कारण पण्य वस्तु यदि विनष्ट होती है, तो क्रेता के मांगने पर भी नहीं देने वाले विक्रेता को ही उस पण्य की हानि उठानी पड़ती है। इसके विपरीत स्थिति में अर्थात् विक्रेता के देने पर भी क्रेता यदि क्रय पण्य का ग्रहण नहीं करता तो क्रेता को हानि का वहन करना पड़ता है-

राजदैवोपघातेन पण्यदोष उपागते।

हानिर्विक्रेतुरेवासौ याचितस्याऽप्रयच्छत:॥

दीयमानं न गृह्णाति क्रीतपण्यं तु य: क्रयी।

स एवास्य भवेद्दोषो विक्रेतुर्योऽप्रयच्छत:॥[115]

मनु के अनुसार यदि किसी व्यक्ति को जिसे खरीदकर अथवा बेचकर कोई अनुशय अर्थात् दु:ख हो वह उस पण्य को क्रय अथवा विक्रय के दश दिन के भीतर वापस कर दे। दश दिन के पश्चात् क्रेता अथवा विक्रेता न तो वापस ले और न ही राजा दिलवाये तथा जो व्यक्ति ऐसा करता है वह छ: सौ पण दण्ड का पात्र होता है। क्रय अथवा विक्रय में पश्चाताप् होने पर ही यह विधि नहीं लागू होती अपितु अन्य स्थानों पर भी जिस-जिस कार्य में पश्चाताप हो उसका भी निपटारा राजा इस विधि से कराये।

---

[114] वि.चि.पृ.८७, कृ.क.त.पृ.४३२-३४, स्मृ.च.पृ.५१३-१५, वि.रत्ना.पृ.१९२-९४, व्य.प्र.पृ.३१८-१६, वी.मि.पृ.३४४-४५, व्य.म.पृ.१३४, व्य.नि.पृ.३३७-३८,

[115] वि.चि.पृ.८७, कृ.क.त.पृ.४३२-३३, स्मृ.च.पृ.५१३, वि.रत्ना.पृ.१९२, व्य.प्र.पृ.३१७-१८, वी.मि.पृ.३४४, व्य.म.पृ.१३४, व्य.नि.पृ.३३७९

क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यस्येहानुशयो भवेत्।

सोन्तर्दशाहे तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा॥

परेण तु दशाहस्य नादद्यान्नैव दापये।

आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्डय: शतानि षट्॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेतु।

तमनेन विधानेन धर्म्ये पथि निवे शयेत्॥[116]

कात्यायन का मत है कि दश दिन के भीतर वस्तु तभी लौटायी जा सकती है जब विक्रेता को पश्चाताप हो, पश्चाताप न होने पर नहीं लौटायी जा सकती है -

क्रीत्वा प्राप्तं न गृह्णीयाद्यो न दद्याददूषितम्।

समूल्याद्दशभागं तु दत्वा स्वं द्रव्यमाप्नुयात्॥

अप्राप्तार्थे क्रियाकारे कृतेनैव प्रदापयेत्।

एवं धर्मो दशाहात्तु परतोऽनुशयो न तु॥[117]

लेकिन यदि कोई व्यक्ति पण्य को दोषयुक्त जानता हुआ भी क्रय करता है तो उसे उस पण्य का दोगुना देना चाहिए तथा उसके बराबर दण्ड भी राजा द्वारा लिया जाना चाहिए तथा जो व्यक्ति दूसरे के हाथों से खरीदता अथवा बेचता है, उसके लिए भी यही विधि है। ऐसा वृहस्पति का मत है --

ज्ञात्वा सदोषं य: पण्यं विकीणात्यविचक्षण।

तदेव द्विगुणं दाप्यस्तत्समंविनयं तथा।

अन्यहस्ते तु विक्रीय अन्यस्मै य: प्रयच्छति।

सोपि तद्विगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु॥[118]

---

[116] वि.चि.पृ.८८, कृ.क.त.पृ.४३१, स्मृ.च.पृ.५१२, वि.रत्ना.पृ.१९०-९१, व्य.प्र.पृ.३१७, वी.मि.पृ.३४१,

[117] वि.चि.पृ.८८, कृ.क.त.पृ.४३२, स्मृ.च.पृ.५११, वि.रत्ना.पृ.१९१, व्य.प्र.पृ.३१७, वी.मि.पृ.३४३, व्य.नि.पृ.३४०,

[118] वि.चि.पृ.८८-८९, स्मृ.च.पृ.५१५, वि.रत्ना.पृ.१९२, व्य.प्र.पृ.३१७, वी.मि.पृ.३४५, व्य.म.पृ.१३५, व्य.नि. पृ.३४०

इसके अतिरिक्त यदि कोई पण्य को मत्त, उन्मत्त, अस्वतंत्र तथा मूढ लोगों से क्रय करे तो वह पण्य उसे लौटाना पड़ता है तथा वह पण्य विक्रेता का ही माना जाता है-

मत्तोन्मत्तेन विक्रीतं हीनमूल्यं भयेन च।

अस्वतंत्रेण मूढेन त्याज्यं तस्य पुनर्हरेत्॥[119]

क्रय की गई वस्तु यदि विक्रेता के देने पर भी क्रेता ग्रहण नहीं करता तो उसे विक्रेता अन्य व्यक्ति को बेंच सकता है इससे विक्रेता को दोष नहीं लगता -

दीयमानं न गृह्णाति क्रीत्वा पण्यं च यः क्रयी।

विक्रीणानस्तदन्यत्र विक्रेता नापराध्नुयात्॥[120]

याज्ञवल्क्य का मत है कि यदि किसी वस्तु का क्रय कर लेने के पश्चात् क्रेता उस वस्तु को ग्रहण नहीं करता तो उस वस्तु की होने वाली हानि क्रेता को ही ग्रहण करना पड़ता है -

विक्रीतमपि विक्रेयं पूर्वं क्रेतर्यगृह्णति।

हानिश्चेत्क्रेतृदोषेण क्रेतुरेव हि स भवेतु॥[121]

लेकिन यदि क्रेता ने किसी वस्तु के लिए कुछ अग्रिम दिया है तथा वह वस्तु यदि विक्रेता के दोष से बिक जाती है तो विक्रेता क्रेता को अग्रिम धन का दोगुना वापस करे ऐसा याज्ञवल्क्य का मानना है -

सत्यङ्कारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिपादयेत्।

---

[119] वि.चि.पृ.८९, स्मृ.च.पृ.५१५, वि.रत्ना.पृ.१९३, व्य.प्र.पृ.३१७, वी.मि.पृ.३४५,व्य.म.पृ.१३४

[120]वि.चि.पृ.८९, कृ.क.त.पृ.४३३, स्मृ.च.पृ.५१५, वि.रत्ना.पृ.१९४, व्य.प्र.पृ.३१८, वी.मि.पृ.३४४, व्य.म.पृ. १३४, व्य.नि.पृ.३३८,

[121]वि.चि.पृ.८९, कृ.क.त.पृ.४३३, स्मृ.च.पृ.५१४, वि.रत्ना.पृ.१९४, व्य.प्र.पृ.३१६, वी.मि.पृ.३४४, व्य.नि. पृ. ३३९

वृहस्पति का मत है कि क्रय की जाने वाली वस्तु का क्रेता द्वारा भली प्रकार जांच कर लेनी चाहिए तथा अन्य द्वारा भी परीक्षण करवा लेना चाहिए। इसका कारण है कि भली प्रकार जांच परख कर ली गई वस्तु क्रेता द्वारा वापस नहीं की जा सकती-

परीक्षेत स्वयं पण्यमन्येषां च प्रदर्शयेत्।

परीक्षितं बहुमतं क्रेता च न पुनस्त्यजेत्॥[122]

लेकिन यदि क्रेता पण्य वस्तु को खरीद लेता है तथा बाद में वह उस वस्तु को दुष्क्रीत समझता है तो विकार रहित उस वस्तु को क्रेता क्रय किये गये दिन ही वापस कर दे-

क्रीत्वा मूल्येन यो द्रव्यं दुष्क्रीतं मन्यते क्रयी।

विक्रेतु: प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्नयविक्षतम्॥[123]

यदि क्रेता वस्तु को उसी दिन नहीं लौटा पाता तो उसके सम्बन्ध में नारद ने कहा है कि यदि क्रेता दूसरे दिन वस्तु को लौटाये तो वस्तु के मूल्य का तीसवां अंश विक्रेता द्वारा ग्रहण कर लिया जाना चाहिए तथा तीसरे दिन लौटाने पर उसका दोगुणा अर्थात् साठवां अंश लेकर वापस करना चाहिए। इसके बाद तो वह वस्तु क्रेता की हो जाती है उसको न लौटाने पर विक्रेता को कोई दोष नहीं लगता है -

द्वितीयेह्नि ददत्क्रेता मूल्यात्रिंशांशमाहरेत्।

द्विगुणं तु तृतीयेह्नि परत: क्रेतुरेव तत्॥ [124]

कात्यायन ने दोह्य पण्यों के विषय में दसवां अंश ग्रहण कर लौटाने की बात कही है उनके अनुसार दोह्यादि वस्तुओं के सम्बन्ध में वापस करने के लिए जो समय निश्चित है उस काल के भीतर लौटाने पर विक्रेता मूल्य का दशवां अंश ग्रहण कर वस्तु वापस ले ले -

---

[122] वि.चि.पृ.८१, कृ.क.त.पृ.४३६, स्मृ.च.पृ.५१७, वि.रत्ना.पृ.१९८, व्य.नि.पृ.३४४,

[123] वि.चि.पृ.८१, कृ.क.त.पृ.४३५, स्मृ.च.पृ.५१७, वि.रत्ना.पृ.१९६, व्य.नि.पृ.३४२,

[124] वि.चि.पृ.९१, कृ.क.त.पृ.४३५, स्मृ.च.पृ.५१९, वि.रत्ना.पृ.१९६, व्य.प्र.पृ.३१४, वी.मि.पृ.३४१, व्य.म.पृ. १३३, व्य.नि.पृ.३४३,

कृत्वा चानुशयात्पण्यं त्यजेद्दोह्यादि यो नरः।

अदुष्टमेव काले तु स मूल्याद्दशमं वहेत्॥[125]

वाचस्पति मिश्र का मत है कि कात्यायन द्वारा कथित व्यवस्था वहां उचित है जहां क्रेता ने वस्तु को अपने अधिकार में न लिया हो अन्यथा उपर्युक्त कथन ही उचित है। भृगु ने छः भाग लेकर ही वस्तु को लौटाने की बात कही है-

क्रीत्वागच्छन्ननुशयम् क्रयीहस्तमुपागतम्।

षड्भागं तत्र मूल्यस्य दत्वा क्रीतं त्यजेद्भृगुः॥ [126]

कुछ वस्तुओं के सन्दर्भ में स्मृतिकारों ने विशेष व्यवस्था की है अर्थात् कुछ वस्तुओं को जांचने -परखने के लिए क्रय करने के उपरांत कुछ समय मिलता है, इस सम्बन्ध में व्यास का मत है कि चर्म, काष्ठ, ईंट, सूत्र, धान्य, आसव, रस, वस्त्र, कुप्य और स्वर्ण का परीक्षण तुरंत करना चाहिए और बाद में ये वस्तुयें लौटाई नहीं जा सकतीं। दोह्य अर्थात् दूध देने वाले पशुओं का परीक्षण तीन दिन तक किया जा सकता है और वाह्य पशुओं का पांच दिन तक किया जा सकता है अर्थात् इन वस्तुओं का क्रय करने के बाद उक्त तीन अथवा पांच दिन में परीक्षण करके दोष की स्थिति में वस्तु को लौटा देने पर वस्तु का सम्पूर्ण मूल्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। मोती, हीरे और प्रवालों का सात दिन, पुरुष का पन्द्रह दिन तथा स्त्रियों का एक मास, सभी प्रकार के बीजों का परीक्षण दश दिन तक तथा लोहा और वस्त्रों का परीक्षण एक दिन में करना चाहिए -

चर्मकाष्ठेष्टकासूत्रधान्यासवरसस्य च।

वस्त्रकूप्यहिरण्यानां सद्य एव परीक्षणम्॥

त्र्यहाद्दोह्यं परीक्ष्येत पञ्चाहाद्वाह्यमेव च।

---

[125] वि.चि.पृ.९२, कृ.क.त.पृ.४३५, स्मृ.च.पृ.५१२, वि.रत्ना.पृ.१९७, व्य.प्र.पृ.३१४, वी.मि.पृ.३४०

[126] वि.चि.पृ.८२, कृ.क.त.पृ.४३५, स्मृ.च.पृ.५१२, वि.रत्ना.पृ.१९७, व्य.प्र.पृ.३१४, वी.मि.पृ.३४०

मुक्तावज्रप्रवालानां सप्ताहं स्यापरीक्षणम्॥

द्विपदामर्द्धमासं तु पुंसां ताद्विगुणं स्त्रिया:।

दशाह:सर्वबीजानामेकाहो लोहवाससाम्॥[127]

याज्ञवल्क्य ने व्यास से कुछ भिन्न व्यवस्था की है उनके अनुसार बीज का दश, लौह का एक, बैल का पांच, मुक्ताप्रवालादि का सात, दासी एक मास, गो महिषी आदि का तीन दिन तथा दास का अर्धमास तक परीक्षण किया जा सकता है -

दशैकपञ्चसप्ताहमासत्र्यहाद्धमासिकम्।

बीजायोवाह्यरत्नस्त्रीदोसयपुंसां परीक्षणम्॥[128]

विक्रीत वस्तु में बाद में यदि कोई दोष दिखाई देता है, तो क्रेता उस वस्तु विक्रेता को लौटाकर उसका मूल्य प्राप्त कर सकता है, ऐसा वृहस्पति का मानना है तथा यदि विक्रेता दोषयुक्त वस्तु का क्रय क्रेता को बिना वस्तु का दोष बताये कर देता है तथा क्रेता को बाद में पता चलता है तो उपर्युक्त समय के बाद भी वह क्रेता को पण्य वापस कर सकता है -

अतोर्वाकपण्यदोषस्तु यदि संजायते क्वचित्॥

विक्रेतु: प्रतिदेयं तत्क्रेता मूल्यंवाप्नुयात्।

अविज्ञातं तु यक्रीतं दुष्टं पश्चाद्विभावितम्।

क्रीतं तत्स्वामिने देयं पण्यं कालेऽन्यथा न तु॥.[129]

लेकिन यदि वस्त्रादि किसी दोष युक्त वस्तु का क्रेता द्वारा भोग कर लिया जाता है तो वह क्रेता की ही मानी जाती है विक्रेता की नहीं –

परिभुक्तं तु यद्वास: क्लिष्टरूपं मलीमसम्।

---

[127] वि.चि.पृ.९०, कृ.क.त.पृ.४३६, स्मृ.च.पृ.५१७, वि.रत्ना.पृ.१९८-९९, व्य.प्र.पृ.३१३, व्य.म.पृ.१३३

[128] वि.चि.पृ.९०

[129] वि.चि.पृ.९०-९१, कृ.क.त.पृ.४३७, स्मृ.च.पृ.५१७-१८, वि.रत्ना.पृ.१९९, व्य.प्र.पृ.३१४, व्य.नि.पृ.१३३,

सदोषमपि तत्क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत्पुनः॥[130]

जहां पर वस्तु के दोष को छुपाकर पण्य वस्तु विक्रय की गई है वहां बहुत समय बाद भी वस्तु लौटाई जा सकती है। इस सम्बन्ध में मनु ने कहा है कि अन्य वस्तु से मिलते जुलते रूप वाली, सार-रहित, नाप-तौल में कम, दूर रखी हुई वस्तु तथा अन्धकार में छिपी हुई वस्तु का विक्रय नहीं किया जा सकता -

क्रीत्वा नानुशयं कुर्याद्वणिक्पण्यविचक्षणः।

क्षयं वृद्धिं च जानीयात्पण्यानां यस्य यादृशी॥[131]

३.५. सीमाविवाद-

क्षेत्रादि की मर्यादा से सम्बन्धित विवाद को सीमाविवाद कहते हैं। नारद ने सीमाविवाद का नामकरण 'क्षेत्रजविवाद' किया है तथा उसका लक्षण इस प्रकार किया है – सेतु अथवा बाँध, खेत की सीमा, कृष्ट (उर्वर) अथवा अकृष्ट (अनुर्वर) खेत से सम्बन्धित विवाद क्षेत्रज विवाद कहलाते हैं –

सेतुकेदारमर्यादाविकृष्टाकृष्टविनिश्चये।

क्षेत्राधिकारो यस्तु स्याद्विवादः क्षेत्रजस्तु सः॥[132]

अग्निपुराण में भी ऐसा ही लक्षण किया गया है।[133] मिताक्षराकार ने सीमाविवाद का लक्षण करते हुए कहा है कि क्षेत्रादि की मर्यादा को सीमा कहते हैं –**सीमा क्षेत्रादिमर्यादाः।**[134] इस प्रकार क्षेत्रादि की सीमा को लेकर कि 'यह मेरा है इसका नहीं हैं' होने वाले विवाद को सीमाविवाद कहते हैं।

---

[130]वि.चि.पृ.९१, कृ.क.त.पृ.४३७, स्मृ.च.पृ.५२०, वि.रत्ना.पृ.२००, व्य.प्र.पृ.३१४, वी.मि.पृ.३४१, व्य.म.पृ. १३४, व्य.नि.पृ.३४५,

[131]वि.चि.पृ.९२, कृ.क.त.पृ.४३६, स्मृ.च.पृ.५१२, वि.रत्ना.पृ.१९८, व्य.प्र.पृ.३१५, वी.मि.पृ.३४०, व्य.नि.पृ. ३४४

[132] ना. स्मृ. ४/११/१, कृ.क.त.पृ.४३८, वि.रत्ना.पृ.२०१, व्य.प्र.पृ.३१८, वी.मि.पृ.३५३, वि.नि.पृ.३६४

[133] सेतुकेदारमर्य्यादाविकृष्टाकृष्टविनिश्चयाः।

क्षेत्राधिकारे यत्र स्युर्द्विवादः क्षेत्रजस्तु सः॥ अ. पु. २५३/२३

कात्यायन ने सीमाओं के सम्बन्ध में होने वाले विवाद को छः भागों में विभक्त किया है – भाग में अधिकता, न्यूनता, है (अस्ति), नहीं है (नास्ति), अभोगभुक्ति तथा सीमा ये छः प्रकार के भूसम्बन्धी विवाद के कारण माने गये हैं –

आधिक्यं न्यूनता चांशे अस्तिनास्तित्वमेव च।

अभोगभुक्तिः सीमा च षड् भूवादस्य हेतवः॥[135]

यहां आधिक्य का अभिप्राय यह है कि जैसे देवदत्त यह कहे कि 'इस भूखण्ड में मेरी पांच निवर्तना से अधिक भूमि है।' इस कथन का प्रतिषेध करते हुए यज्ञदत्त यह कहे कि 'तुम्हारी पांच निवर्तना ही भूमि है, अधिक नहीं'। इस प्रकार का विवाद आधिक्यमूलक विवाद कहलाता है। न्यूनतामूलक विवाद इसके विपरीत है जैसे देवदत्त यदि कहता है कि 'पांच निवर्तना भूमि मेरी है'। इसके प्रतिवाद में यज्ञदत्त यह कहे कि तुम्हारी भूमि पांच निवर्तना से कम है'। 'अस्ति तथा नास्ति' जैसे देवदत्त कहता है कि 'इस भूखण्ड में पांच निवर्तना भूमि मेरी है'। इस पर यज्ञदत्त इसका प्रतिषेध करते हुए कहे कि 'इस भूखण्ड में तुम्हारा अंश नहीं है।' अभोगभुक्ति जैसे देवदत्त कहता है कि यह भूखण्ड मेरा है , पहले यज्ञदत्त का भोग नहीं था परन्तु सम्प्रति इनका भोग है'। देवदत्त के इस कथन पर यदि यज्ञदत्त कहे कि सतत मेरा भोग नहीं है, परन्तु चिरन्तन काल से मेरा भोग है'। 'मेरे भूखण्ड की सीमा यह है अथवा वह है इस प्रकार विवाद को सीमा विवाद कहते हैं।

मिताक्षराकार ने चार प्रकार की सीमायें बताई हैं –

i. जनपदसीमा
ii. ग्रामसीना
iii. क्षेत्रसीमा
iv. गृहसीमा

---

[134] या. स्मृ. २/१५० पर मिताक्षरा व्याख्या।

[135] कृ.क.त.पृ.४३८, वि.रत्ना.पृ.२०१, व्य.प्र.पृ.३१८

मिताक्षराकार तथा व्यवहारप्रकाशकार ने नारद का कथन उद्धृत करते हुए कहा है कि ये सीमायें पांच लक्षणों से युक्त होती हैं ऐसा नारद का कथन है –ध्वजिनी (वृक्षादि से उपलक्षित), मत्स्यिनी (तदागादि से उपलक्षित), नैधानी (खात, धान्य की भूसी और कोयला आदि के चिह्न से युक्त), भयवर्जिता (अर्थी तथा प्रत्यर्थी की परस्पर सहमति से निर्मित), राजशासननीता(राजा की इच्छा से निर्धारित) –

ध्वजिनी मत्स्यिनी चैव नैधानी भयवर्जिता।

राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता॥[136]

३.५.१. सीमाविवाद का निर्णय-

दो गाँवों के बीच सीमा सम्बन्धी विवाद होने पर उनके निर्णय के सम्बन्ध में मनु का कथन है कि दो गाँवों के बीच सीमा सम्बन्धी विवाद होने पर ज्येष्ठ मास में चिह्नों के भली प्रकार से स्पष्ट हो जाने पर निर्णय करना चाहिए –

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयो: ।

ज्येष्ठे मासि नयेदेनां सप्रकाशेषु सेतुषु॥[137]

यहां 'ज्येष्ठे' की व्याख्या करते हुए विवादरत्नाकार तथा वीरमित्रोदयकार ने कहा है कि ज्येष्ठ मास का कथन तो दृष्टान्त रूप है। इसका अर्थ है कि जब सीमा सम्बन्धी चिह्न भली प्रकार स्पष्ट हो उस समय यह कार्य करना चाहिए। मनु का कथन है कि उदुम्बर, वट वृक्ष, कुर्वीत किंशुक, सेमल, ताड़, दूध वाले वृक्षों को सीमावृक्ष के रूप में लगाना चाहिए और गुल्म, अनेक प्रकार के बांस, शमीलता, ऊंचे नीचे स्थानों, तेज मूंज, तथा कुब्जगुल्म को भी सीमा पर लगाना चाहिए क्योंकि इन से सीमा नष्ट नहीं होती है-

सीमावृक्षांस्तु कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।

शाल्मलीशालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।

---

[136] या. स्मृ. २/१५० पर मिताक्षरा व्याख्या।, व्य. प्र. पृ. ३१९

[137] वि.चि.पृ,९२, कृ.क.त.पृ.४३९, वि.रत्ना.पृ.२०१, वी.मि.पृ.३५३,

शरान्कुब्जकगुल्मांश्च यथा सीमा न नश्यति॥[138]

साथ ही तडाग, कुएँ, बावड़ी, झरने, और देवताओं के मन्दिर को राजा सीमा के सन्धि स्थल पर बनवाये। इसके अतिरिक्त अन्य गुप्त चिह्नों को भी बनवाये तथा पत्थर, अस्थि, गाय के बाल, भूसा, राख, कपालिक, सूखा गोबर, ईंट, कोयला, कंकड़ तथा रेत को भी सीमा पर रखा जा सकता है -

तडागान्युदपानानि वाप्य: प्रस्रवणानि च।

सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च॥

भूमिच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्।

सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य लोके नित्यं विपर्ययम्॥

अश्मनोस्थीनि गोवालांस्तथा भस्मकपालिका:।

करीषमिष्टकाङ्गराञ्छर्करावालुकाश्च ह॥[139]

इस प्रकार जो वस्तुयें कालक्रम से भूमि द्वारा नष्ट न हो सकें, उन वस्तुओं को सीमा पर अप्रकाशित रूप से स्थापित करना चाहिए। ऐसा मनु का कथन है –

यानि चैवंप्रकरानि कालद्भूमिर्न भक्षयेत्।

तानि सन्धिषु सीमाया अप्रकाशानि कारयेत्।[140]

मनु का कथन उपरोक्त चिह्नों से अथवा निरन्तर उपभोग करने वाले लोगों के कथन से अथवा जल-प्रवाह के मार्ग से विवाद को उपस्थित करने वाले लोगों का निर्णय राजा को करना चाहिए –

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदतां नृणाम्।

पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन वा ॥[141]

---

[138] वि.चि.पृ.९३, कृ.क.त.पृ.४३९-४०, स्मृ.च.पृ.५३५, वि.रत्ना.पृ.२०२, व्य.प्र.पृ.३१९, वी.मि.पृ.३५४, व्य.नि.पृ.३६५

[139] वि.चि.पृ.९३, कृ.क.त.पृ.४४०, वि.रत्ना.पृ.२०२, व्य.प्र.पृ.३१९

[140] कृ.क.त.पृ.४४१, स्मृ.च.पृ.५३५, वि.रत्ना.पृ.२०३, व्य.प्र.पृ.३१९

वृहस्पति का मत है कि वापी, कूप, तडागादि सीमा चिह्नों के विषय में संशय होने पर किया जा सकता है। अथवा साक्षियों के द्वारा निर्णय करना चाहिए –

वापीकूपतडागादिचैत्यारामसुरालया:।

स्थलनिम्ननदीस्त्रोत: शरगुल्माश्मराशय:॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने।

साक्षिप्रत्यय एव स्याद्विवादे सीमनिश्चय:॥[142]

तथा वृहस्पति का ही मत है कि साक्षी के अभाव में चार ग्राम की सीमा पर रहने वाले वासियों द्वारा राजा के समक्ष दिये गये बयान से सीमा का निर्णय करना चाहिए और इन सामन्तों के भी न मिलने पर सीमा के सम्बन्ध में साक्ष्य देने वाले मौलों द्वारा निर्णय करना चाहिए। इनके भी उपस्थित न होने पर वन गोचर पुरुषों से पूछना चाहिए -

साक्ष्यभावे च चत्वारो ग्रामसीमान्तवासिन:।

सीमाविनिर्णयं कुर्यु: प्रयता राजसन्निधौ।

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीमसाक्षिणाम्।

इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान्॥[143]

कात्यायन ने मौल का लक्षण इस प्रकार किया है कि जो व्यक्ति उस स्थान पर पहले सामन्त था तथा उसके पश्चात् वह किसी अन्य देश चला गया, परन्तु तन्मूलक होने के कारण ही ऋषियों ने उसे मौल कहा है –

ये तत्र पूर्वंसामन्ता: पश्चाद्देशान्तरं गता:।

तन्मूलत्त्वात्तु ते मौला ऋषिभि: परिकीर्त्तिता:॥[144]

---

[141] वि.चि.पृ.९३, कृ.क.त.पृ.४४१, वि.रत्ना.पृ.२०४, व्य.प्र.पृ.३२०, वी.मि.पृ.३५५

[142] वि.चि.पृ.९३, कृ.क.त.पृ.४४०, स्मृ.च.पृ.५३४, वि.रत्ना.पृ.२०३, व्य.प्र.पृ.३१९, वी.मि.पृ.३५४, व्य.नि.पृ. ३६५

[143] वि.चि.पृ.९४, कृ.क.त.पृ.४४२, स्मृ.च.पृ.५३७, वि.रत्ना.पृ.२०६, व्य.प्र.पृ.३२०, वी.मि.पृ.३५५, व्य.नि. पृ.३६७

[144] वि.चि.पृ.९५, कृ.क.त.पृ.४४७, स्मृ.च.पृ.५३९, वि.रत्ना.पृ.२१३, वी.मि.पृ.३५७

वृहस्पति ने इसके बाद भी कहा है कि इन साक्षी, सीमान्त, मौल, वनगोचर के न मिलने पर व्याध, शकुनि, गोप, कैवर्त्त, मूलखातक (जड़ी-बूठियों का संग्रह करने वाले), व्यालग्राह (सर्प पकड़ने वाले), उच्छवृत्ति से जीवनयापन करने वाले तथा इनके अतिरिक्त जो वनों में विचरण करने वाले हैं उनसे पूछना चाहिए। इनसे पूछे जाने पर दोनों गांवों की सीमा सन्धि का जैसा लक्षण ये कहते हैं, राजा द्वारा धर्मपूर्वक वैसा ही स्थापित करवाना चाहिए -

व्याधाञ्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्त्तान्मूलखानकान्।

व्यालग्राहानुञ्छलवृत्तीनन्यांश्च वनगोचरान्॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रुयु: सीमासन्धिषु लक्षणम्।

तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयो:॥[145]

मनु ने भी ऐसा ही कहा है।[146] साक्षियों को साक्ष्य देते समय किस प्रकार की वेशभूषा धारण करनी चाहिए उस सम्बन्ध में मनु का कथन है – साक्षी माला तथा लाल रंग के वस्त्र पहनकर, सिर पर मिट्टी को उठाये हुए अपने-अपने पुण्यों की शपथ लेकर सत्य कहना चाहिए तथा जैसा वे साक्षी जिस प्रकार से सीमा के विषय में बतायें, वैसा ही सीमा तथा उन साक्षियों के नाम से लिखना चाहिए -

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्त्रग्विणा रक्तवासस:।

सुकृतै: शापिता: स्वै: स्वैर्ब्रूयुस्ते तु समञ्जसम्॥ [147]

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयु: समस्ता: सीम्नि निश्चयम्।

निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामत:॥[148]

---

[145] वि.चि.पृ.९४, कृ.क.त.पृ.४४४, स्मृ.च.पृ.५४०

[146] म. स्मृ. ८/२५८-२६१

[147] वि.चि.पृ.९४, कृ.क.त.पृ.४४५, स्मृ.च.पृ.५४२, वि.रत्ना.पृ.२१०, वी.मि.पृ.३५९

[148] म. स्मृ. ८/२५५-२५६, वि.चि.पृ.९४, कृ.क.त.पृ.४४५, स्मृ.च.पृ.५४१, वि.रत्ना.पृ.२१०

नारद का मत है कि एक साक्षी द्वारा सीमानिर्णय जैसा गुरुतर कार्य नहीं करना चाहिए। लेकिन यदि एक ही साक्षी सीमानिर्णय करता है तो उसे उपवासपूर्वक सिर पर मिट्टी रखकर लालवस्त्र पहनकर एवं माला धारण कर निर्णय करना चाहिए।[149] वृहस्पति का भी यही मत है –

ज्ञातृचिह्नविनाशे तु एकोप्युभयसंमतः।

मनु ने साक्ष्य सही न देने वाले साक्षियों के लिए दण्ड का विधान किया है। उनके अनुसार शास्त्रानुसार सत्य बोलने वाले साक्षी निर्दोष हैं, तथापि इसके विपरीत कहने वाले दो सौ पण दण्डस्वरूप दें तथा यदि सामन्त पडोसी झूठ बोलें तो राजा उन सबको अलग-अलग रूप से मध्यम साहस का दण्ड दे –

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः।

विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम्॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम्।

सर्वे पृथक्पृथग्दण्डया राज्ञा मध्यमसाहसम्॥[150]

कात्यायन का मत है कि ग्राम सम्बन्धी सीमा का निर्धारण जो व्यक्ति ग्रामादि को चारों दिशाओं से वेष्टित करके स्थित हो उससे करवाना चाहिए। इसी प्रकार क्षेत्र और गृह का भी करना चाहिए।[151] नारद का कथन है कि यदि कोई भी व्यक्ति सीमा को जानने वाला न हो तथा सीमा का कोई लक्षण भी ज्ञात न हो रहा हो तो राजा अपनी इच्छा से सीमा का निर्धारण कर सकता है –

यदा तु न स्युर्ज्ञातारः सीमायां न च लक्षण।

---

[149] ना. स्मृ. ४/११/९-१०

[150]वि.चि.पृ.९५, कृ.क.त.पृ.४४६, स्मृ.च.पृ.५४८, वि.रत्ना.पृ.२११, व्य.प्र.पृ.३२९, वी.मि.पृ.३६०, व्य.म.पृ. १३५

[151] ग्रामो ग्रामस्य सामन्तः क्षेत्रं क्षेत्रस्य कीर्त्तितम्।

गृहं गृहस्य निर्दिष्टं समन्तात्परिरभ्य च॥ -वि.चि. पृ.९५

तदा राजा द्वयो: सीमामुन्नयेदिष्टत: समम्॥[152]

वृहस्पति का मत है कि यदि दो गांवों के मध्य बहने वाली नदी में बाढ आने से एक गाँव की कुछ भूमि दूसरे गाँव में चली जाय तो पहले वाले गाँव का उस पर अधिकार नहीं रह जाता है, लेकिन ऐसा तभी होता है जब भूमि में कोई फसल न उगी हो, फसल बोई हुई भूमि यदि बहकर दूसरे गाँव में चली जाय तो पहले वाले गाँव को अन्न प्राप्त होता है तथा दूसरे गाँव को भूमि प्राप्त होती है –

ग्रामयोरुभयोर्यत्र मर्यादा कल्पिता नदी ।

क्षयोदयेना चाल्पासौ चालयन्दण्डमर्हति॥

एकत्र कूलपातं तु भूमेरन्यत्र संस्थितम्।

नदीतीरे प्रकुरुते तस्य तां न विचालयेत्॥

क्षेत्रं समस्तमुल्लङ्घ्य भूमिश्छिन्ना यदा भवेत्।

नदीस्त्रोत:प्रवाहेण पूर्वस्वामी लभेत ताम्॥[153]

मनु का कहना है कि एक गाँव के खेत, कुएँ, तडाग, उद्यान और गृह के सीमाबंध का निर्णय गाँव के सामन्तों अर्थात् पड़ोसियों द्वारा करना चाहिए –

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च।

सामन्तप्रत्ययो ज्ञेय: सीमासन्धिविनिर्णय:॥[154]

वृहस्पति ने गृह, जल तथा आपणों की स्थापना के समय से जो जिस प्रकार भोग कर रहा हो उससे उसको विचलित नहीं करना चाहिए तथा वातायनों, जलमार्ग, घोरियों , चतुर्द्वार वाले गृहों तथा पटल प्रान्त को जो बहुत दिनों से एक समान ही चले आ रहे हों, उनको भी हटाना नहीं चाहिए।[155] वृहस्पति ने मूलबांध,

---

[152] वि.चि.पृ.९५, कृ.क.त.पृ.४४९, स्मृ.च.पृ.५४४, वी.मि.पृ.३६१

[153] वि.चि.पृ.९६, कृ.क.त.पृ.४५१, स्मृ.च.पृ.५४९, व्य.प्र.पृ.३२४

[154] वि.चि.पृ.९७, कृ.क.त.पृ.४५२, वि.रत्ना.पृ.२१८

[155] निवेशकालादारभ्य गृहवार्यापणादिकम्।

जलनिर्गम तथा बाहर निकलने के मार्गों का अवरोध करने वाले के लिए दण्ड की व्यवस्था की है तथा यह भी कहा है कि निवेशकाल के बाद इनका जिस कार्य के लिए उपयोग हो रहा था उससे भिन्न कार्यों में उपयोग नहीं करना चाहिए।[156]

याज्ञवल्क्य का मत है कि ग्राम-सीमा आदि के समान ही अन्य स्थानों की सीमा का विवाद होने पर भी यही विधि अपनानी चाहिए। उनके अनुसार पुष्पवाटिका, पलालादिस्थान, गाँव, क्रीडाभूमि, घर तथा वर्षा जलप्रवाह के सम्बन्ध में भी ग्रामादि के समान विधि का पालन करना चाहिए –

आरामायतनग्रामनिपानोद्यानवेश्मसु।

एष एव विधिर्ज्ञेयो वर्षाम्बुप्रवहादिषु॥[157]

वृहस्पति का कथन है कि मलमूत्र त्याग का स्थान, उच्छिष्ट फेंकने का गड्ढा आदि गृह के अत्यन्त समीप नहीं बनाना चाहिए।[158] कात्यायन ने भी यही कहा है –

येन यावद्यथा भुक्तं तस्य तन्न विचालयेत्॥

वातायन: प्रणाल्यश्च तथा निर्यूहवेदिका:।

चतु:शालस्यन्दिका: प्राङ्गनिर्दिष्टा न चालयेत्॥ - वि. चि. पृ.९७, कृ.क.त.पृ.४५२-५३, स्मृ.च.पृ.५५०, वि.रत्ना.पृ.२१९, व्य.प्र.पृ.३२५, वी.मि.पृ.३६३, व्य.म.पृ.१३७, व्य.नि.पृ.३७१

[156] मेखलाभ्रम्निष्कासगवाक्षान्नोपरोधयेत्।

प्रणालीं गृहवास्तुं च पीडयन्दण्डभाग्भवेत्॥

निवेशसमयादूर्ध्वं नैते योज्या: कथंचन।

दृष्टिपातं प्रणालीं च न कुर्यात्परवेश्मनि॥ -वि.चि.पृ.९७, कृ.क.त.पृ.४४३, वि.रत्ना.पृ.२१९, व्य.प्र.पृ.३२५, वी.मि.पृ.३६३-६४, व्य.म.पृ.१३७

[157] कृ.क.त.पृ.४५२, वि.रत्ना.पृ.२१८

[158] वर्च: स्थानं वह्निचर्यं गर्त्तोच्छिष्टानुसेचनम्।

विण्मूत्रोदकचक्रं च वह्निश्वभ्रनिवेशनम्।

अरत्निद्वयमुत्सृज्य परकुडयान्निवेशयेत॥[159]

कात्यायन के अनुसार जिस रास्ते या सड़क से होकर मनुष्य या पशु बिना किसी अवरोध के आते-जाते हों उसे संसरण कहते हैं और उन्हें किसी के द्वारा रुद्ध नहीं किया जाना चाहिए -

यान्त्यायान्ति जना येन पशवश्चानिवारिता:।

तदुच्यते संसरणं न रोद्धव्यं तु केन च॥[160]

दो क्षेत्रों के मध्य उत्पन्न होने वाले वृक्षों के सम्बन्ध में कात्यायन का मत है कि उनके फल और पुष्प का उपयोग दोनों क्षेत्रों के स्वामियों को करना चाहिए। लेकिन यदि किसी क्षेत्र में उत्पन्न वृक्ष की शाखा दूसरे के क्षेत्र में पहुंच रही हो तो जिसके खेत में वृक्ष है वही उसका भोग करेगा।[161] स्मृतिकारों ने मार्गों, तडागों, उद्यानों, तीर्थस्थानों को अपवित्र करने वालों के लिए अलग-अलग परिस्थितियों में प्रथम, मध्यम एवं उत्तम साहस के दण्ड का विधान किया है। कात्यायन का मत है कि तडागों, उद्यानों तथा तीर्थ स्थानों को

अत्यारात्परकुडयस्य कर्त्तव्यं न कदाचन॥ -वि. चि. पृ.९८, कृ.क.त.पृ.४५३, वि.रत्ना.पृ.२१९, व्य.प्र.पृ. ३२५, वी.मि.पृ.३६४, व्य.म.पृ.१३७

[159] वि.चि.पृ.९८, कृ.क.त.पृ.४५४, स्मृ.च.पृ.५५१, वि.रत्ना.पृ.२२०, व्य.प्र.पृ.३२५, वी.मि.पृ.३६४, व्य.म.पृ. १३७, व्य.नि.पृ.३७०

[160] वि.चि.पृ.९८, कृ.क.त.पृ.४५४, स्मृ.च.पृ.५५१, वि.रत्ना.पृ.२२०, व्य.प्र.पृ.३२६, वी.मि.पृ.३६४, व्य.म.पृ. १३८

[161] सीमामध्ये तु जातानां वृक्षानां क्षेत्रयोर्द्वया:।

फलं पुष्पं च संजातं क्षेत्रस्वामिषु निर्दिशेत्॥

अन्यक्षेत्रेषु जातानां शाखाश्चान्यत्र संस्थिता:॥

स्वामिनं तं विजानीयाद्यस्य क्षेत्रेषु संस्थिता:। वि.चि.पृ.९८, कृ.क.त.पृ.४५६-५७, वि.रत्ना.पृ.२२३, व्य.प्र.पृ.३२६, वी.मि.पृ.३६६, व्य.म.पृ.१३८-३९

अपवित्र करता है उससे ही शोधित करवाना चाहिए तथा प्रथम साहस अर्थात् २५० पण का दण्ड भी देना चाहिए-

तडागोद्यानतीर्थानि योऽमेध्येन विनाशयेत्।

अमेध्यं शोधयित्वा तु दण्डयेत्पूर्वसाहसम्॥[162]

विष्णु ने भी इस सम्बन्ध में व्यवस्थायें की हैं - **पथ्युद्यानोदकसमीपेष्वस्थिव्युत्करादित्यागे पणशतं तच्च प्रास्येत्।** गृह क्षेत्र आदि का बलपूर्वक हरण करने वाले के लिए मनु ने पांच सौ पण दण्ड का विधान किया है –

गृहे तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।

शतानि पञ्च दण्डय: स्यादज्ञानाद्द्विशतो दम:॥ [163]

वृद्धमनु ने दो ग्रामों की सीमा पर स्थापित का अतिक्रमण करने वालों के लिए दो सौ पण दण्ड का विधान किया है - **स्थापितां चैव मर्यादामुभयोर्ग्रामयोस्तथा।**

अतिक्रामन्ति ये पापास्ते दण्डया द्विशतं दमम्॥

मर्यादाया: प्रभेदे तु सीमाया: क्रामणे तथा।

क्षेत्रस्य हरणे दण्डया मध्यमोत्तमसाहसम्॥[164]

शंख ने भी क्षेत्रादि की मर्यादा को भंग करने वाले के लिए निम्न दण्ड का विधान किया है -**क्षेत्रमर्यादाभेदे अष्टषतम्। सीमाव्यतक्रमेऽष्टसहस्त्रम्। क्षेत्रोदकहरणेऽष्टशतम्।** लेकिन नारद का कथन है कि दूसरे की सीमा में सेतु आदि का निर्माण करने से यदि क्षेत्र के स्वामी को लाभ अधिक और हानि कम होती है तो क्षेत्रस्वामी को सेतु निर्माण करने को नहीं रोकना चाहिए लेकिन सेतु निर्माण से पूर्व क्षेत्रस्वामी की अनुमति आवश्यक है -

---

[162] वि.चि.पृ.९९, कृ.क.त.पृ.४५५, वि.रत्ना.पृ.२२२, व्य.प्र.पृ.३३१, वी.मि.पृ.३६५, व्य.म.पृ.१३८

[163] वि.चि.पृ.९९, कृ.क.त.पृ.४५६, वि.रत्ना.पृ.२२२, व्य.प्र.पृ.३३०, वी.मि.पृ.३६६, व्य.म.पृ.१३८

[164]वि.चि.पृ.१००, कृ.क.त.पृ.४५६, वि.रत्ना.पृ.२२३, व्य.प्र.पृ.३२९, वी.मि.पृ.३६५-६६

परक्षेत्रस्य मध्ये तु सेतुर्न प्रतिषिद्धयते।

महागुणोल्पबाधश्चेद्बुद्धिरिष्टा क्षये सति।।[165]

क्षेत्रस्वामी की अनुमति के बिना सेतु का निर्माण करने वाले के विषय में याज्ञवल्क्य ने निम्न उपदेश दिया है। उनके अनुसार जो व्यक्ति क्षेत्रस्वामी की अनुमति के बिना दूसरे के क्षेत्र में सेतु का निर्माण करता है, सेतु निर्माण से उत्पन्न होने वाले फल पर क्षेत्रस्वामी अथवा उसके अभाव में राजा उस फल के भोग का अधिकारी होता है –

स्वामिनो ह्यनिवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रवर्त्तयेत्।

उत्पन्ने स्वामिनो भोगस्तदभावे महीपते:॥[166]

३.५.२. कृष्टाऽकृष्ट से सम्बन्धित विवाद

कृष्टाऽकृष्ट से सम्बन्धित विवाद के विषय में नारद का मत है कि क्षेत्रस्वामी के अशक्त होने अथवा मृत्यु हो जाने, नष्ट हो जाने अथवा न रोकने से जो क्षेत्र में कृषिकार्य करता है, वही कृषिफल को भी प्राप्त करता है -

अशक्तप्रेतनष्टेषु क्षेत्रिकेष्वनिवारित:।

क्षेत्रं चेद्विकृषेत्कश्चिदश्नुवीत स तत्फलम्॥[167]

लेकिन यदि कृषक द्वारा कृषि करते समय क्षेत्रस्वामी वापस आ जाता है तो वह कृषक को उसका व्यय किया हुआ द्रव्य तथा श्रममूल्य देकर अपना क्षेत्र वापस ले सकता है -

विकृष्यमाणक्षेत्रेषु क्षेत्रिक: पुनराव्रजेत्।

खिलोपचारं तत्सर्वं दत्वा क्षेत्रमवाप्नुयात्॥[168]

---

[165]वि.चि.पृ.१००, कृ.क.त.पृ.४५७, स्मृ.च.पृ.५५६, वि.रत्ना.पृ.२२४, वी.मि.पृ.३६७, व्य.म.पृ.१३९, व्य.नि. पृ.३७१

[166]वि.चि.पृ.१००, कृ.क.त.पृ.४५७, वि.रत्ना.पृ.२२४, व्य.प्र.पृ.३२६, वी.मि.पृ.३६७, व्य.म.पृ.१३९, व्य.नि. पृ.३७१

[167] कृ.क.त.पृ.४५९, स्मृ.च.पृ.५६०, वि.रत्ना.पृ.२२६, व्य.प्र.पृ.३२८, वी.मि.पृ.३६८, व्य.नि.पृ.३७२

यदि क्षेत्रस्वामी कृषक को व्यय किया हुआ द्रव्य नहीं दे पाता है तो उस सम्बन्ध में कात्यायन का मत है कि ऐसी स्थिति में कर्षक क्षेत्रस्वामी को आठ भाग देकर शेष भाग स्वयं ग्रहण कर ले।[169] विवादचिन्तामणिकार का मत है कि इस प्रकार आठ वर्षों तक भोग करने के बाद कर्षक को व्यय न देने पर भी क्षेत्र क्षेत्रस्वामी का हो जाता है। यह अत्यन्त कृच्छकर्षणीय खिल के विषय में है। नारद ने खिल के विषय में बताते हुए कहा है एक साल तक पतित रहने वाला क्षेत्र अर्द्धखिल कहलाता है तथा तीन साल तक पतित रहने पर खिल और पांच साल तक पतित रहने पर वह क्षेत्र अरण्य की तरह होता है–

संवत्सरेणार्द्धखिलं खिलं स्याद्वत्सरैस्त्रिभि:।

पञ्चवर्षावसन्नं च क्षेत्रं स्यादटवीसमम्॥ [170]

यदि कोई व्यक्ति किसी का क्षेत्र कृषि कार्य के लिए लेकर उस पर कृषि कार्य नहीं करता अथवा किसी अन्य से नहीं करवाता उसके सम्बन्ध में व्यास ने कहा है कि ऐसे व्यक्ति द्वारा क्षेत्र के स्वामी को सस्य देना चाहिए तथा राजा को सस्य के मूल्य के बराबर दण्ड देना चाहिए –

क्षेत्रं गृहीत्वा य: कश्चिन्न कुर्य्यान्न च कारयेत्।

स्वामिने स शदं दाप्यो राज्ञे दण्डं च तत्सममम्॥[171]

३.५.३. सस्य रक्षा

याज्ञवल्क्य ने सस्य रक्षा का विधान स्वामिपाल विवाद प्रकरण के अन्तर्गत किया है तथा नारदस्मृति में यह सीमाविवाद पद के अन्तर्गत कथित है। सस्य रक्षा के सम्बन्ध में याज्ञव्ल्क्य का मत है कि ग्रामीणों की

---

[168] कृ.क.त.पृ.४५९, स्मृ.च.पृ.५६०, वि.रत्ना.पृ.२२७, व्य.प्र.पृ.३२८, वी.मि.पृ.३६९, व्य.नि.पृ.३७२

[169] अशक्तितो न दद्याच्चेत्खिलार्थे य: कृतो व्यय:।

तदष्टभागहीनं तु कर्षक: फलमाप्नुयात्॥

[170] कृ.क.त.पृ.४५९, स्मृ.च.पृ.५६०, वि.रत्ना.पृ.२२८, व्य.प्र.पृ.३२८, वी.मि.पृ.३६९, व्य.नि.पृ.३७३

[171] कृ.क.त.पृ.४५९, स्मृ.च.पृ.५५९, वि.रत्ना.पृ.२२९, व्य.प्र.पृ.३२७, वी.मि.पृ.३६८, व्य.म.पृ.१३९, व्य.नि. पृ. ३७३

इच्छा से अथवा राजा की आज्ञा से गो आदि पशुओं के चरने तथा बैठने के लिए जिस भूमि पर कृषिकार्य न हो रहा हो ऐसी भूमि रखनी चाहिए। यह भूमि ग्राम तथा क्षेत्र से सौ धनु परिमित दूर होनी चाहिए तथा खर्वट (ग्राम से उत्कृष्ट तथा नगर से निम्न) से दो सौ और नगर से चार सौ धनु अन्तर पर होनी चाहिए -

ग्रामेच्छया गोप्रचारो भूमी राजवशेन वा।

धनु: शतं परीणाहो ग्रामक्षेत्रान्तरं भवेत्॥

द्वे शते खर्वटस्य स्यान्नगरस्य चतु:शतम्।[172]

मनु ने कहा है कि गाँव के चारों ओर सौ धनुष अथवा तीन बार फेंकी गई छड़ी जितनी दूर जाये उतनी परिमाण वाली भूमि और नगर के चारों ओर गाँव से तीनगुना अर्थात् तीन सौ धनुष भूमि पशुओं को चराने के लिए छोड़ देनी चाहिए। यदि पशु उस परिरक्षित स्थान के भीतर स्थित धान्य को नष्ट कर दे तो राजा उस गोपालक को दण्ड न दे।[173] विष्णु ने कहा है कि ग्रामादि के निकट जो क्षेत्र अनावृत हों ऐसे क्षेत्रों का गाय आदि द्वारा अल्पकाल के लिए भक्षण कर लिए जाने पर गोपालक दोषी नहीं होता परंतु बहुतकाल तक भक्षण करने पर पालक दोषी होता है - **पथिग्रामविवीतान्ते न दोषो नावृते चाल्पकालम्।**[174] याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि ग्राम के समीप वाले मार्ग और पशु चारण के लिए सुरक्षित क्षेत्र में गोपालक की इच्छा के विरुद्ध पशु भक्षण कर ले तो गोपालक को दोष नहीं लगता। लेकिन यदि गोपालक पशु को अवरुद्ध नहीं करता और उसकी इच्छा से पशु भक्षण करता है तो वह गोपालक चोर के समान दण्ड का पात्र होता है–

पथि ग्रामविवीतान्ते क्षेत्रे दोषो न विद्यते।

अकामत: कामचारे चौरवद्दण्डमर्हति॥[175]

---

[172] कृ.क.त.पृ.४६१, वि.रत्ना.पृ.२३०

[173] म. स्मृ.८/२३७-२३८

[174] वि. चि. पृ.१०३

[175] कृ.क.त.पृ.४६२, वि.रत्ना.पृ.२३२

मनु का मत है कि पशु के द्वारा दूसरे के खेत को नुकसान पहुंचाने पर गोस्वामी सवा पण दण्ड के योग्य है तथा सम्पूर्ण खेत को क्षति पहुंचाने पर खेत के स्वामी को पूरी क्षति दी जानी चाहिए। शंखलिखित के अनुसार - **रात्रौ चरन्ती गौ: पञ्च माषान् । दिवा त्रीन्। मुहूर्त्ते माषम् ग्रामे त्वदण्डया:।** कात्यायन ने भिन्न – भिन्न पशुओं द्वारा क्षति पहुंचाने पर भिन्न-भिन्न दण्ड की व्यवस्था की है। उनके अनुसार पण का दो पाद अर्थात् आधा गाय, इसका दोगुना महिषी को तथा बकरी, भेड़ तथा बछड़ों के लिए चौथा भाग दण्ड देना चाहिए। नारद ने भी इस सम्बन्ध में व्यवस्था की है –

सन्नानां द्विगुणो दण्डो वसतां तु चतुर्गुण:।

प्रत्यक्षचारकाणां तु चौरदण्ड: स्मृतो बुधै:॥

समूलसस्यनाशे तु तत्स्वामी शदमाप्नुयात्।

वधेन गोपो मुच्येत दण्डं स्वामिनि पातयेत्॥[176]

नारद ने कैसी परिस्थिति में गोपालकों अथवा गोस्वामियों को दोष नहीं लगता उस सम्बन्ध में कहा है कि राजपुरुष द्वारा ग्रहीत, वज्रपात से नष्ट, सर्प के दंशन से मृत, वृक्ष की शाखा के पातन से मृत, व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं द्वारा हत तथा विभिन्न प्रकार के रोगों से ग्रस्त गायों के मरने पर गोपालक अथवा गोस्वामी दोष का भागी नहीं होता। याज्ञवल्क्य ने कुछ पशुओं द्वारा सस्य के नष्ट होने पर दण्ड से छूट का विधान किया है। उनके अनुसार साँड, श्राद्ध में छोड़े गये, नवप्रसूता, दूसरे ग्राम से आगत अथवा अपने झुंड से परिभ्रष्ट, रक्षक से रहित पशु तथा देव अथवा राजा के द्वारा दण्डित पशु दण्ड के योग्य नहीं होते हैं –

महोक्षोत्सृष्टपशव: सूतिकागन्तुकादय:।

पालो येषां न ते मोच्या दैवराजपरिप्लुता:॥[177]

मनु ने भी दस दिन पूर्व बछड़े को जन्म देने वाली गाय, बैल और देव पशुओं को जो पालक युक्त हों अथवा पालक रहित हों दण्ड देने के अयोग्य कहा है।[178] उशना के अनुसार हाथी तथा अश्व प्रजापालक कहलाते

---

[176] वि.चि.पृ.१०५, कृ.क.त.पृ.४६५, वि.रत्ना.पृ.२३७

[177] वि.चि.पृ.१०७, कृ.क.त.पृ.४६८, वि.रत्ना.पृ.२३९

हैं इसलिए वे दण्ड के अयोग्य हैं। एक आँख से रहित, कूबड़ युक्त, पहले ही अपराध करने के कारण दण्ड के चिह्न से युक्त, झुंड से परिभ्रष्ट होकर देशांतर में आई हुई, नवप्रसूता, उत्सव के अवसर पर तथा श्राद्धकाल में उपयोग किये गये पशु सस्य को यदि नष्ट भी करें तो दण्ड के योग्य नहीं होते हैं -

अदण्डया हस्तिनोऽश्वाश्च प्रजापाला हिते स्मृता:।

अदण्डया: काणकुण्ठाश्च वृषश्च कृतलक्षण:॥

अदण्डयाऽऽगन्तुका या गौ: सूतिका: व्यभिचारिणी।

अदण्डयाश्चोत्सवे गाव: श्राद्धकाले तथैव च॥[179]

शंख का भी यही अभिमत है - **क्षुद्रपशवोऽवश्याश्चतरगजवाजिनश्च।**[180]

इस प्रकार भृतकविधि, स्वामिपालविवाद, संविद्व्यतिक्रम, विक्रीयासंप्रदान तथा सीमाविवाद पदों की समीक्षा इस अध्याय के अन्तर्गत प्रस्तुत की गई। भृतकविधि का नारदादि ने अभ्युपेत्याशुश्रूषा नामकरण किया है। निबन्धकारों में विवादार्णवसेतुकार तथा विवादचिन्तामणिकार ने इसे भृतकविधि कहा है तथा अन्य निबन्धकारों ने अभ्युपेत्याशुश्रूषा कहा है। नारद ने पांच प्रकार के शुश्रूषक बताये हैं तथा प्रत्येक शुश्रूषक के कर्तव्य का भी वर्णन धर्मशास्त्रकारों ने किया है। कर्म भी शुभ तथा अशुभ के भेद से दो प्रकार के होते हैं। शुभकर्म कर्मकरों के लिए होते हैं तथा अशुभकर्म दासों आदि के लिए विहित हैं। दासों का वर्णन भी भृतकविधि के अन्तर्गत ही किया जाता है। ब्राह्मणों के लिए दासत्व का निषेध धर्मशास्त्रकारों ने किया है, इसका पालन न करने पर दण्ड का भी विधान है। विवादचिन्तामणि में वेतनादान अथवा वेतनानपाकर्म का भी वर्णन इसी शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। वेतनादान में भृत्यों को वेतन देने अथवा न देने से सम्बन्धित विवादों का वर्णन किया जाता है।

---

[178] म. स्मृ. ८/१४२

[179] वि.चि.पृ.१०७-१०८

[180] वि.चि.पृ.१०७-१०८

स्वामिपालविवाद में पशुओं के स्वामी तथा उनके पालकों से सम्बन्धित विवादों का वर्णन होता है। गोपालक अपनी वृत्ति के बदले में स्वामी से पशु अथवा पण प्राप्त कर सकता है। गोपालक का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक सुबह गोचारण के लिए गोस्वामी से गायों को ले जाये तथा संध्या के समय आहार तथा जल पिलाकर वापस लाये। पशुओं की रक्षा का दायित्व पालक पर ही होता है। पालक की जानकारी में यदि पशुओं का मरण आदि नाश होता है, तो पालक को दण्ड का भागी बनना पड़ता है लेकिन यदि दैवराजकृत विपत्ति अथवा उसके सामर्थ्य से रहित हो जाने की स्थिति में पशुओं का नाश होने पर पालक दोषी नहीं माना जाता।

संघ अथवा गण के नियमों का उल्लंघन करना संविद्यतिक्रम कहलाता है। ऐसा करने पर विविध प्रकार के दण्ड का विधान धर्मशास्त्रकारों ने किया है। सामूहिक धनादि के विनाशक का सम्पूर्ण धन लेकर उसे देश से निकाल देना चाहिए।

विक्रेता यदि वस्तु बेचकर भी क्रेता को न दे अथवा क्रेता वस्तु का क्रय करके भी ग्रहण न करे, तो इससे सम्बन्धित विवाद विक्रीयासम्प्रदान के अंतर्गत आते हैं। नारदस्मृति में यह क्रीत्वानुशय तथा विक्रीयासम्प्रदान दो शीर्षकों में विभक्त है। नारद ने दो प्रकार के द्रव्य का कथन किया है। स्थावर द्रव्य के सम्बन्ध में यदि विक्रेता मूल्य लेकर भी विक्रीत पण्य क्रेता को नहीं देता है तो उसे पण्य की वृद्धि देनी पड़ती है तथा जंगम द्रव्य के सम्बन्ध में वस्तु का क्रियाफल विक्रेता द्वारा देय है। क्रीत तथा विक्रीत वस्तु की हानि के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों ने विविध विधान किये हैं। क्रीत वस्तु के परीक्षण के लिए अलग-अलग समय विहित है। उस परीक्षण अवधि के भीतर क्रेता वस्तु का परीक्षण कर दोष होने की स्थिति में वस्तु वापस कर सकता है इससे क्रेता को वस्तु की हानि नहीं होती।

सीमाविवाद को क्षेत्रज विवाद भी कहा जाता है। इसमें सेतु, बांध, खेत आदि की सीमाओं से सम्बन्धित विवादों का कथन किया जाता है। सीमासम्बन्धी विवाद के निर्णय के लिए इसके साक्षियों का कथन प्रामाणिक मानना चाहिए तथा उनके कथनानुसार ही राजा द्वारा सीमाओं का निर्धारण करना चाहिए। सीमानिर्धारण के लिए चिह्नों का प्रयोग भी किया जा सकता है, ये प्रकाश तथा गुप्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। तडाग, बावड़ी, कूप आदि से बनी सीमा प्रकाश कहलाती है तथा पत्थत, अस्थि, राख आदि जिसे

चिह्न के रूप में भूमि में गाड़ दिया जाता है वह गुप्त सीमा कहलाती है। कृष्ट तथा अकृष्ट और महिषी आदि पशुओं तथा जंगली जानवरों से फसलों की सुरक्षा से सम्बन्धित विवाद भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित किये जाते हैं।

चतुर्थ अध्याय

वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेय तथा साहस विवादपदों का विश्लेषण

चतुर्थ अध्याय

वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेय तथा साहस विवादपदों का विश्लेषण

४.१.वाक्पारुष्य-

नारद ने वाक्पारुष्य का लक्षण करते हुए कहा है कि दूसरे व्यक्ति के उद्वेग के जनक देश, जाति और कुलादि से सम्बन्धित अवद्य एवं उच्च घोष युक्त वचन का प्रयोग करना वाक्पारुष्य कहलाता है-

देशजातिकुलादीनामाक्रोशन्यङ्ग्संयुतम्।

यद्वच: प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते॥[1]

कौटिल्य के अनुसार गाली देना, निन्दा करना अथवा धमकी देना वाक्पारुष्य कहालाता है।[2] कात्यायन ने वाक्पारुष्य का लक्षण इस प्रकार किया है किसी के सामने हुंकारना, खांसना अथवा ऐसे अन्य कौतुक करना तथा लोक द्वारा निन्दित उच्चारण करना वाक्पारुष्य कहलाता है –

हुंकार: कासनं चैव लोके यच्च विगर्हितम्।

अनुकुर्यादनुब्रूयाद् वाक्पारुष्यं तदुच्यते॥[3]

मिताक्षराकार के अनुसार उच्चस्वर से बोलना और अश्लील शब्द का प्रयोग जो श्रोता के लिए प्रतिकूल अर्थात् उद्वेगजनक हो। इस प्रकार के उद्वेगजनक वाक्य को वाक्यपारुष्य कहते हैं।[4] नारद ने निष्ठुरादि के भेद से वाक्पारुष्य के तीन भेद बताये हैं –

i. निष्ठुर

---

[1]वि.चि. पृ.१०८, कृ.क.पृ.४७१, वि.रत्ना.पृ.२४२, वी.मि.पृ.३७९, व्य.नि.पृ.४८३

[2] वाक्पारुष्यमुपवाद: कुत्सनमभिभर्त्सनामिति। अ. शा.३/१८

[3] का .स्मृ.७६८, कृ.क.त. पृ.४७१, वि.रत्ना. पृ.२४२, व्य.नि. पृ.४८३

[4]आक्रोश उच्चैर्भाषणं न्यङ्ग अवद्यं ताभ्यां संयुतं यत्प्रतिकूलार्थकं वच: तद्वाक्पारुष्यमिति सामान्यलक्षणम्। -या. स्मृ.२/२०४ पर मिताक्षरा व्याख्या।

ii. अश्लील

iii. तीव्र

निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वात्तदपि त्रिविधं स्मृतम्।

गौरवानुक्रमात्तेषां दण्डोप्युक्तक्रमाद्गुरु:॥[5]

इनमें से जात्यादि के प्रति आक्षेप को निष्ठुर कहते हैं। न्यड्ग अर्थात् अवद्य शब्द से युक्त वाक्य अश्लील कहलाता है। पतित्व के बोधक वाक्य का उच्चस्वर से उच्चारण करना तीव्र कहलाता है।[6]

वृहस्पति ने कहा है कि अप्रियोक्ति तथा ताडन के भेद से पारुष्य दो प्रकार का होता है। ये प्रत्येक पुन: तीन- तीन प्रकार के होते हैं और इनके लिए दण्ड भी तीन प्रकार के होते हैं।

अप्रियोक्तिस्ताडनं च पारुष्यं द्विविधं स्मृतम्।

एकैकं तु त्रिधा भिन्नं दण्डश्चोक्तस्त्रिलक्षण:॥[7]

देश, जाति अथवा कुल पर आक्षेप करना अथवा किसी कार्य की ओर चिह्नित न करते हुए पापकार्य का दोषी बताना प्रथम वाक्पारुष्य कहलाता है। बहन तथा माता के संभोग की अथवा उपपातकों की गाली देना मध्यम वाक्पारुष्य कहा जाता है।निषिद्ध भोजन तथा पेय ग्रहण करने का कथन करना अथवा महानपातक का अपराध लगाना उत्तमपारुष्य कहलाता है।[8] वृहस्पति ने समान वर्णों के लिए समान दण्ड

---

[5] वि.चि.पृ. १०९, कृ.क.त. पृ.४७१, वि.रत्ना.पृ.२४२-४३, वी.मि.पृ.३७९, व्य.नि.पृ.४८४

[6] साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलं न्यड्कुसंज्ञितम्।

तपनीयैरुपक्रोशैस्तीव्रमाहुर्मनीषिण:॥ -वि.चि.पृ. १०९, कृ.क.त.पृ.४७२, वि.रत्ना.पृ.२४३, वी.मि.पृ.३७९, व्य.नि.पृ.४८४

[7] वि.चि.पृ. १०९, कृ.क.त.पृ.४७२, वि.रत्ना.पृ.२४३

[8] देशकालकुलादीनां क्षेप: पापे नियोजनम्।

द्रव्यं विना तु प्रथमं वाक्पारुष्यं तदुच्यते॥

भगिनीमातृसम्बन्ध उपपातकशंसनम्।

अधम वर्ण के लिए द्विगुण दण्ड तथा उत्तम वर्ण के लिए आधे दण्ड का विधान किया है अर्थात् परस्पर समान वर्ण के वाक्पारुष्य सम्बन्धी विवाद में समान दण्ड देना चाहिए। निम्न वर्ण का व्यक्ति यदि उत्तम वर्ण के लिए वाक्पारुष्य का प्रयोग करे तो द्विगुण दण्ड तथा उत्तम वर्ण के पुरुष द्वारा अधम वर्ण के पुरुष के लिए वाक्पारुष्य का प्रयोग करने पर उसका आधा दण्ड देना चाहिए -

समानयो: समो दण्डो न्यूनस्य द्विगुणश्च स:।

उत्तमस्याऽर्द्धिक: प्रोक्तो वाक्पारुष्ये परस्परम्॥[9]

याज्ञवल्क्य ने विषमगुण युक्त पुरुष के लिए दण्ड विधान करते हुए कहा है कि वाक्पारुष्य का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के अपेक्षा न्यून आचरण तथा गुण वाले व्यक्ति के प्रति आक्षेप करने पर साढ़े बारह पण दण्ड देना चाहिए। आक्षेप करने वाले व्यक्ति के अपेक्षा उत्तम गुणों से युक्त अथवा दूसरे की पत्नी के प्रति आक्षेप करने पर पचास पण का दण्ड देना चाहिए।

अर्द्धोऽधमेषु द्विगुण: परस्त्रीषूत्तमेषु च।[10]

लेकिन कात्यायन के अनुसार यदि कोई व्यक्ति यह स्वीकार लेता है कि मैंने मोह, प्रमाद, हर्ष, प्रेमवश वाक्पारुष्य किया था। पुन: अब मैं ऐसा नहीं करूंगा। उसे आधा दण्ड मिलना चाहिए।

मोहात्प्रमादात्संहर्षात्प्रीत्या चोक्तं मयेति य:।

नाहमेवं पुनर्वक्ष्ये दण्डार्द्धं तस्य कल्पयेत्॥[11]

पारुष्यं मध्यमं प्रोक्तं वाचिकं शास्त्रवेदिभि:॥

अभक्ष्यापेयकथनं महापातकदूषणम्।

पारुष्यमुत्तमं प्रोक्तं तीव्रं मर्माभिघट्टनम्॥ -वि.चि.पृ. १०९, कृ.क.त.पृ.४७२-७३, वि.रत्ना.पृ.२४३-४४, वी. मि.पृ.३८०, व्य.म.पृ.१३९-४०, व्य.नि.पृ.४८५

[9] वि.चि.पृ. ११०, कृ.क.त.पृ.४७४, स्मृ.च.पृ.७५९, वि.रत्ना.पृ.२४५, वी.मि.पृ.३८१, व्य.नि.पृ.४८६

[10] या. स्मृ. २/२०६

[11] वि.चि. पृ११०

वृहस्पति ने समान जाति तथा वर्ण वाले पुरुषों में परस्पर वाक्पारुष्य की स्थिति में साढ़े तेरह पण दण्ड का विधान किया है[12] तथा अपने से हीन वर्ण वाले पुरुष के प्रति वाक्पारुष्य का प्रयोग करने पर निर्धारित दण्ड का आधा देना चाहिए और यदि निम्न वर्ण का व्यक्ति उत्तम वर्ण के लिए वाक्पारुष्य का प्रयोग करे तो दोगुणा दण्ड देना चाहिए -**सवर्णाऽऽक्रोशने सार्द्धद्वाशपणो दण्डः। हीनवर्णे काकिण्यधिकषद्गणो दण्डः । काणखञ्जादीनां तथा।**

याज्ञवल्क्य का मत है कि 'तुम्हारी माँ अथवा बहन के साथ अभिगमन करने वाला हूं' इस प्रकार की भर्त्सना करने वाले व्यक्ति राजा द्वारा पच्चीस पण का दण्ड दिया जाना चाहिए –

अभिगन्ताऽसि भगिनीं मातरं यभयेरिह।

पणं तु दापयेद्राजा पञ्चविंशतिकं दमम्॥

गौतम ने वाक्पारुष्य के लिए निम्न दण्डविधान किया है - **शूद्रो द्विजातीनभिसन्धाय निहत्य च वा दण्डपारुष्याभ्यामऽङ्गमोच्यो येनोपहन्यात्।तेनाऽऽक्रोशेजिह्वाच्छेदः।अऽङ्गताडने सत्यऽङ्गमोच्यः।येनाऽङ्गेन ताडयेत्तस्यच्छेदः। अथाऽस्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुना श्रोत्रपूरणम्। उदाहरणे जिह्वाछेदः। धारणे शरीरभेदः॥** वृहस्पति ने धर्म का उपदेश करने वाले तथा वेदों के ज्ञाता विप्रों पर आक्रोशवश आक्षेप करने वाले शूद्र आदि की जिह्वा काट लेने का विधान किया है।[13] नारद ने स्वधर्म में रत राजा के प्रति कटु भाषा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के जिह्वाच्छेदन और सर्वस्वहरण दण्ड देने को कहा है।

आक्रुश्य चैव राजानं धर्मे स्वे हि व्यवस्थितम्।

---

[12] समजातिगुणानां तु वाक्पारुष्ये परस्परम्।

विनयोऽभिहितः शास्त्रे पणास्त्वर्द्धत्रयोदश॥ वि.चि.पृ. ११०, कृ.क.त.पृ.४७५, स्मृ.च.पृ.७५८, वि. रत्ना. पृ. २४७, वी.मि.पृ.३८०

[13] धर्म्मोपदेशकर्त्ता च वेदोदाहरणाऽन्वितः।

आक्रोशकस्तु विप्राणां जिह्वाछेदात्स दण्ड्यते॥ वि.चि.पृ. १११, वी.मि.पृ.३८२

जिह्वाच्छेदाद्भवेच्छुद्धिः सर्वस्वहरणेन च॥[14]

याज्ञवल्क्य का कथन है कि राजा के लिए अनिष्टकारी स्त्रोतादि का पुनः-पुनः उच्चारण करने वाले तथा राजा की निन्दा करने वाले और राजा की गुप्त मन्त्रणा को प्रकाशित करने वाले व्यक्ति की जिह्वाच्छेदन कर देश से निकाल देना चाहिए।[15] उशना का भी यही मत है -

यत्र नोक्तो दमः सर्वै राजन्याच्च महात्मभिः।

तत्र कार्य्यं परिज्ञाय सर्वस्वं दण्डधारणम्॥

प्रपञ्चितमिदं मेया नीतिचिन्तामणौ॥[16]

४.२. दण्डपारुष्य

दण्डपारुष्य का लक्षण करते हुए नारदस्मृति में कहा गया है कि हाथ, पैर अथवा आयुधों से किसी अन्य व्यक्ति के शरीर पर प्रहार करना, भस्मादि द्रव्य को फेंकना दण्डपारुष्य कहलाता है-

परगात्रेस्वभिद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः।

भस्मादीनामुपक्षेपैर्दण्डपारुष्यमुच्यते॥[17]

वृहस्पति ने भी नारद के मत का मान्यता प्रदान करते हुए दण्डपारुश्य का लक्षण इस प्रकार किया है कि हाथ, पाषाण, लाठी, भस्म (राख), कीचड़, धूलि अथवा हथियार से मारना या प्रहार करना दण्डपारुष्य कहलाता है।[18] व्यास के अनुसार भस्म आदि को फेंकना, हाथ आदि से मारने अथवा वस्त्र आदि से

---

[14] वि.चि.पृ. १११, कृ.क.त.पृ.४८३, वि.रत्ना.पृ.२५७, वी.मि.पृ.३८४, व्य.नि.पृ.४८८

[15] राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाऽऽकोशकं तथा।

तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्त्वा जिह्वां प्रवासयेत्॥ वि.चि.पृ. १११, कृ.क.त.पृ.४८३, वि.रत्ना.पृ.२५७, वी.मि.पृ.३८४, व्य.नि.पृ.४८९

[16] वि.चि.पृ. ११२, कृ.क.त.पृ.४८४, वि.रत्ना.पृ.२५९

[17] ना. स्मृ.४/१५/१

[18] हस्तपाषाणलगुडैर्भस्मकर्दमपांशुभिः।

आच्छादित करना दण्डपारुष्य कहलाता है।[19] स्मृतिचन्द्रिकाकार ने दण्डपारुष्य को परिभाषित करने के लिए निम्न परिशिष्ट श्लोक उद्धरित किया है –

दु:खं रक्तं व्रणं भङ्गं छेदनं भेदनं तथा।

कुर्याद्य: प्राणिनां तद्धि दण्डपारुष्यमुच्यते॥

अर्थात् जो व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को दु:ख पहुंचाता है, रक्त निकाल देता है, क्षत कर देता है, छेदन करता है, भेदन करता है, वह दण्डपारुष्य का अपराधी कहलाता है। स्मृचन्द्रिकाकार ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है- **स्थावरजङ्गमप्राणिनां प्राण्यन्तरकृतं नखादिना त्वग्भेदादिभवं दु:खं रक्तव्रणादिकं च दण्डपारुष्यमुच्यत इत्यर्थ:।**[20] इस प्रकार किसी प्राणी को ताडनादि के द्वारा दु:ख पहुंचाना दण्डपारुष्य कहलाता है। धर्मशास्त्रकारों ने दण्डपारुष्य के सन्दर्भ में निम्न व्यवस्थायें की हैं-

वृहस्पति के अनुसार यदि कोई पुरुष किसी पर भस्म आदि फेंके और हस्तादि से मारे तो उसे एक माष का दण्ड देना चाहिए परंतु यह दण्डविधान समान वर्ण वालों के लिए है। यदि कोई पुरुष दूसरे की स्त्री को अथवा अपने से उच्च वर्ण वाले पुरुष के लिए दण्डपारुष्य का प्रयोग करे तो उसकी प्रधानता को देखते हुए दोगुना अथवा तीनगुना दण्ड देना चाहिए

भस्मादीनां प्रक्षेपणं ताडनं च करादिना।

प्रथमं दण्डपारुष्यं दम: कार्योऽत्र माषिक:॥

एष दण्ड: समेषूक्त: परस्त्रीष्वधिकेषु च।

द्विगुविणस्त्रिगुणो ज्ञेय: प्रधानापेक्षया बुधै:॥[21]

आयुधैश्च प्रहरणं दण्डपारुष्यमुच्यते॥ कृ.क.त.पृ.४८५, वि.रत्ना.पृ.२५९, व्य.नि.पृ.४८९

[19] भस्मादिना प्रक्षिपणं ताडनं च करादिना।

आवेष्टनं चाशुकैर्यैर्दण्डपारुष्यमुच्यते॥ स्मृ.च.पृ.७६१

[20] स्मृ. च. पृ.७६१

[21] वि.चि.पृ. ११२, कृ.क.त.पृ.४८५, स्मृ.च.पृ.७६२, वि.रत्ना.पृ.२६१

किसी को भस्म आदि से स्पर्श करने पर याज्ञवल्क्य ने दण्ड की व्यवस्था इस प्रकार की है भस्म, कीचड़, अथवा धूल का स्पर्श किसी व्यक्ति को करा देने पर दश पण दण्ड देना चाहिए। अपवित्र अश्रु, थूक आदि से चरण के पश्चभाग में स्पर्श कराने पर अथवा मुख से जलादि निकालने पर उसका दोगुना अर्थात् बीस पण दण्ड देना चाहिए। यह व्यवस्था समवर्ण के लिए है। दूसरे की पत्नी तथा स्वापेक्षया उच्च वर्ण व्यक्ति के प्रति ऐसा आचरण करने पर चालीस पण दण्ड देना चाहिए। अपने से श्रुत वृत्ति से हीन व्यक्ति के प्रति ऐसा आचरण करने पर पूर्वोक्त दण्ड का आधा दण्ड देना चाहिए। परंतु कोई व्यक्ति यदि मोह अर्थात् ज्ञानाभाव अथवा मद्य-पान तथा उन्माद के कारण उपरोक्त आचरण करता है तो उस व्यक्ति को दण्ड नहीं देना चाहिए -

भस्मपङ्करजः स्पर्शे दण्डो दशपणः स्मृतः।

अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठ्यूतस्पर्शने द्विगुणः स्मृतः॥

समेष्वेव परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च।

ह्रीनेष्वर्द्धदमो मोहमदादिभिरदण्डनम्॥[22]

कात्यायन ने पुरीष आदि के स्पर्श करा देने पर विशेष व्यवस्था करते हुए कहा है –यदि कोई व्यक्ति छर्दि अर्थात् वमन किए हुए, मूत्र, पुरीष आदि से पांव में स्पर्श कराता है, तो सामान्य दण्ड का चार गुणा अधिक दण्ड देना चाहिए। शरीर के मध्य में स्पर्श कराने पर छः गुणा तथा सिर में स्पर्श कराने पर अष्टगुण दण्ड देना चाहिए-

छर्द्दिमूत्रपुरीषाद्यैरघः सु च चतुर्गुणः।

षड्गुणः कायमध्ये तु मूर्ध्नि त्वष्टगुणः स्मृतः॥[23]

---

[22] वि.चि.पृ. ११२, कृ.क.त.पृ.४८६, वि.रत्ना.पृ.२६१, वी.मि.पृ.३७१, व्य.म.पृ.१४२, व्य.नि.पृ.४९०

[23] वि.चि.पृ. ११२, कृ.क.त.पृ.४८६, वि.रत्ना.पृ.२६२, वी.मि.पृ.३७१,व्य.म.पृ.१४२, व्य.नि.पृ.४९०

याज्ञवल्क्य ने दण्डपारुष्य के लिए अन्य दण्ड विधान को बताते हुए कहा है- यदि कोई व्यक्ति पैर, बाल, उत्तरीय और हाथ से पकड़कर वेगपूर्वक खींचता है तो दश पण दण्ड देना चाहिए। पीड़ाकारक खींचने के साथ –साथ उत्तरीय से बांधकर पैर से आकर्षित करने वाले व्यक्ति को सौ पण दण्ड देना चाहिए।

पादकेशांशुककराऽऽकर्षणेषु पणा दश।

पीडाकर्षांशुकावेष्टापादाध्यासे शतं दम:॥[24]

कात्यायन ने भी ऐसा ही दण्ड विधान किया है।[25] वृहस्पति के अनुसार पत्थर, शिला अथवा काष्ठ से मारने के लिए उद्यत होने पर प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिए तथा दोनों व्यक्तियों के परस्पर हाथ, पैर से उद्यत होने पर क्रमश: दश तथा बीस पण का दण्ड देना चाहिए।[26] विष्णु ने भी ऐसा ही कहा है- **हस्तेनोद्गोरयिता दश कार्षापणान् पादेन विंशतिम्। काष्ठेन प्रथमसाहसं शस्त्रेणोत्तमसाहसम्। उत्तमं प्रत्यधमश्चेच्छस्त्रमुद्यमयति तदा सहस्रं पणान्दण्डय:।** याज्ञवल्क्य ने भी समान वर्णों के लिए इसी दण्ड का उल्लेख किया है-

उद्गूर्णे हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ।

परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसम्॥[27]

मनु ने परस्पर प्रतिलोम वर्णों के लिए निम्न दण्ड विधान किया है – हाथ अथवा दण्ड से प्रहार करने वाले व्यक्ति का हाथ काट लेना चाहिए। क्रोधपूर्वक पैर से मारने पर पैर काटने का दण्ड देना चाहिए। उच्चवर्ण के

---

[24] वि.चि.पृ. ११३, कृ.क.त.पृ.४८६, वि.रत्ना.पृ.२६२, वी.मि.पृ.३७३, व्य.म.पृ.१४२

[25] उद्गूरणे च हस्तस्य कार्यो द्वादशको दम:।

स एवम् द्विगुण: प्रोक्त: पातेन च द्विजातिषु॥ वि.चि.पृ. ११३, कृ.क.त.पृ.४८६, वि.रत्ना.पृ.२६२, वी.मि. पृ. ३७२, व्य.नि.पृ.४९०

[26] उद्यतेऽश्मशिलाकाष्ठे कर्त्तव्य: प्रथमो दम:।

परस्परं हस्तपादे दशविंशतिकस्तथा॥ वि.चि.पृ. ११३, कृ.क.त. पृ.४८७, वि.रत्ना.पृ.२६३, व्य.नि.पृ.४९१

[27] वि.चि.पृ. ११४, कृ.क.त.पृ.४८७, वि.रत्ना.पृ.२६३, वी.मि.पृ.३७२, व्य.म.पृ.१४२

साथ आसन पर बैठने वाले निम्न वर्ण के व्यक्ति की कमर पर चिह्न अंकित कराकर निकाल देना चाहिए अथवा उसका नितम्ब काट देना चाहिए। अहंकारवश ब्राह्मण पर थूकने वाले व्यक्ति के दोनों होंठ तथा मूत्र फेंककर अपमान करने वाले के लिंग को और अपशब्द कहते हुए अपमान करने वाले व्यक्ति की गुदा राजा द्वारा कटवा देना चाहिए। साथ ही अहंवश बाह्मण के केशों को पकड़ने वाले निम्न वर्ण के व्यक्ति का राजा द्वारा हाथ कटवा देना चाहिए तथा यही दण्ड पैर, दाढी, गर्दन तथा अण्डकोष के लिए भी है।[28] वृहस्पति के अनुसार शस्त्र प्रयोग के लिए मध्यम साहस दण्ड तथा कुछ स्थितियों में कार्य की क्षति के अनुरूप, ईंट काष्ठ्यादि से मारने पर द्विमाषक दण्ड तथा रक्त निकल आने पर उपरोक्त का द्विगुण दण्ड देना चाहिए-

मध्यम: शस्त्रसन्धाने संयोज्य: क्षुब्धयोर्द्वयो: ।

कार्य: क्षतानुरूपस्तु लग्ने घाते दमो बुधै:॥

इष्टकोपलकाष्ठाद्यैस्ताडने तु द्विमाषक:।

द्विगुण: शोणितोद्भेदे दण्ड: कार्यो मनीषिभि:।[29]

विष्णु ने रक्त के बिना दु:ख पहुंचाने पर तीन सौ पण तथा रक्त के साथ दु:ख देने पर चार सौ साठ पण देने की व्यवस्था की है – **दण्ड्य: शोणितेन विना दु:खमुत्पादयिता त्रिंशतं पणान्सह शोणितेन चतु:षष्टिम्।** मनु के अनुसार त्वचा का भेदन करने वाले को तथा रक्त बहाने वाले को सौ पण दण्ड देना चाहिए। मांसभेदक को छ: निष्क तथा अस्थिभेदक को राज्य निष्कासन का दण्ड देना चाहिए-

त्वग्भेदे प्रथमो दण्डो मांसभेदे तु मध्यम:।

उत्तमश्चास्थिभेदे तु घातके तु प्रमापणम्॥[30]

इस प्रकार स्मृतिकारों ने वर्णानुसार तथा विभिन्न अंगों से क्षति पहुंचाने पर क्षति के अनुरूप दण्ड की विविध व्यवस्थायें की हैं।[31] मनुस्मृति में मनुष्यों तथा पशुओं दोनों को दु:ख पहुंचाने पर दु:ख की गंभीरता

---

[28] म. स्मृ. ८/२८०-२८३

[29] वि.चि.पृ. ११४-१५, कृ.क.त.पृ.४८८, वि.रत्ना.पृ.२६४, वी.मि.पृ.३७२

[30] वि.चि.पृ. ११५, कृ.क.त.पृ.४८८, वि.रत्ना.पृ.२६४, व्य.नि.पृ.४९१

के अनुसार दण्ड देने की बात कही गई है। नारद स्मृति के अनुसार निम्न वर्ण का व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति के जिस अंग को पीड़ित करता है निम्न वर्ण के उस अंग को काट देना चाहिए।[32] मनुस्मृति में भी ऐसा ही कहा गया है।[33] कात्यायन का मत है कि वाक्पारुष्य में जिस प्रकार से प्रतिलोम वर्णों और अनुलोम वर्णों के लिए दण्ड का वर्णन किया गया है दण्डपारुष्य में भी वैसा ही समझना चाहिए-

वाक्पारुष्ये यथैवोक्त: प्रतिलोमाऽनुलोमत:।

तथैव दण्डपारुष्ये पात्या दण्डा यथाक्रमम्॥[34]

---

[31] कर्णनासाकरच्छेदे दन्तभेदेंघ्रिभेदने।

कर्त्तव्यो मध्यमो दण्डो द्विगुण: पतितेषु च॥

कर्णोष्ठघ्राणपादाक्षिजिह्वाशिश्नकरस्य च।

च्छेदने चोत्तमो दण्डो भेदने मध्यमो भृगु:॥ -का. स्मृ. वि.चि.पृ. ११५, कृ.क.त.पृ.४८८, वि.रत्ना.पृ.२६५, वी. मि. पृ.३७३, व्य.म.पृ.१४१, व्य.नि.पृ.४९१

करपाददन्तभङ्गे छेदने कर्णनासयो:।

मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे मृतकल्पे हते तथा॥ या. स्मृ. २/२१९

द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा।

विप्रत्वेन च शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दम:॥ वि.चि.पृ. ११८, कृ.क.त.पृ.४८८, वि.रत्ना.पृ.२६५, वी.मि.पृ.३७३, व्य.म.पृ.१४२

नेत्रस्कन्धबाहुसक्थिभङ्गेषु चोत्तमम्। उभयनेत्रभेदिनं राजा यावज्जीवनं बन्धनान्मोचयेत्। तादृशमेव कुर्य्यात्।पादमूलयो:सन्धि: सक्थि। तादृशं यादृशमन्यं कृतवान्। -वि.चि. पृ११६

[32] ना. स्मृ.४/१५/२५

[33] म. स्मृ.८/ २७९-२८२

[34] वि.चि.पृ. ११८, कृ.क.त.पृ.४९२, स्मृ.च.पृ.७६२, वि.रत्ना.पृ.२६९, वी.मि.पृ.३७४, व्य.म.पृ.१४२, व्य.नि. पृ.४९३

याज्ञवल्क्य ने एक व्यक्ति को बहुत से व्यक्तियों द्वारा पीड़ित करने की स्थिति में इस प्रकार दण्ड की व्यवस्था की है –एक व्यक्ति को यदि अनेक व्यक्ति मिलकर मारें तो जिन अपराधों के लिए जो दण्ड उक्त हैं उससे दो गुणा दण्ड देना चाहिए साथ विवाद में प्रवृत्त हो जाने के बाद जो पुरुष जिस पुरुष की कोई वस्तु ले लेता है, उसे वापस कर देना चाहिए और उस वस्तु के मूल्य से दोगुणा धन दण्डरूप में भी देना चाहिए -

एकं घ्रतां बहूनां च यथोक्ताद्विगुणो दम:।

कलहापहृतं देयं दण्डश्च द्विगुण: स्मृत: ॥[35]

मनु ने कुटुम्ब के सदस्यों के अपराध करने पर दण्ड का वर्णन करते हुए कहा है कि अपराध करने पर भार्या, पुत्र, दास, शिष्य और भाई को रस्सी तथा वेणुदल से मारना चाहिए। मारने के स्थानों का वर्णन करते हुए कहा है कि शरीर के पृष्ठ पर ही मारना चाहिए। उत्तम अंगों पर कभी नहीं मारना चाहिए। इस प्रकार मारने वाला व्यक्ति चोर के समान पाप को प्राप्त करता है -

भार्या पुत्रश्च दासश्च शिष्यो भ्राता च सोदर:।

प्राप्तापराधस्ताडय: स्याद्रज्ज्वा वेणुदलेन वा॥

पृष्ठतश्च शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कदाचन।

अतोऽन्यथा तु प्रहारन्प्राप्त: स्याच्चौरकिल्बिषम्॥[36]

नारद ने पुत्र के अपराध पर पिता को दण्डित करने का निषेध किया है। उनके अनुसार पुत्र के अपराध पर पिता को दण्डित नहीं किया जा सकता तथा यदि स्वामी द्वारा प्रेरित न हो तो अश्व, कुत्ता अथवा बन्दर कृत अपराध से उनके स्वामी को दण्डित नहीं करना चाहिए।

पुत्राऽपराधेन पिता श्ववांश्च शुनि दण्डभाक्।

न मर्कटे तु तत्स्वामी तेनैव प्रहितो न चेत्॥[37]

---

[35] वि.चि.पृ. ११९, कृ.क.त.पृ.४९२, स्मृ.च.पृ.७६४

[36] वि.चि.पृ. ११९, कृ.क.त.पृ.४९४, वि.रत्ना.पृ.२७१, वी.मि.पृ.३७८

[37] वि.चि.पृ. ११९-२०, कृ.क.त.पृ.४९५, स्मृ.च.पृ.७६७, वि.रत्ना.पृ.२७३, व्य.नि.पृ.४९४

याज्ञवल्क्य के अनुसार दांतों से घात करने वाले गजादि और सींगों से घात करने वाले वृषभादि पशुओं के नियंत्रण में समर्थ रहने पर भी यदि उनके उन पशुओं को हिंसा से निवारित नहीं करते तो उनको प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिए तथा यदि भयभीत होकर चिल्लाने पर भी रक्षा नहीं करता तो प्रथम साहस का दोगुणा दण्ड देना चाहिए।[38] नारद, याज्ञवल्क्य, मनु आदि स्मृतिकारों ने पहले पारुष्य प्रारंभ करने वाले व्यक्ति के लिए अधिक दण्ड का विधान किया है। नारद के अनुसार जो व्यक्ति पहले पारुष्य प्रारंभ करता है, वह दोषभाक् कहलाता है तथा जो बाद में प्रारंभ करता है वह असत्कारी है। दोनों में से प्रथम को अधिक दण्ड देना चाहिए -

पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक्।

पश्चाद्य: सोप्यतत्कारी पूर्वे तु विनये गुरु:॥[39]

कात्यायन का भी यही अभिमत है।[40] नारद, कात्यायन[41]आदि ने नीच पुरुषों के लिए अर्थदण्ड का निषेध किया है। नारद के अनुसार श्वपाक, क्लीब, चांडाल, विकलांगों, प्राणिवध द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले मनुष्यों, हस्तिपालक, व्रात्यों, दासों, गुरू और आचार्यों का अपमान करने वालों को मर्यादाभंग करने वाले व्यक्तियों को मानहानि रूप अपराध के कारण वेत्रघातादि दण्ड दिया जाना चाहिए। ये सब नीच व्यक्ति

---

[38] शक्तो ह्यमोक्षयन्स्वामी दंष्ट्रिणां श्रृङ्गिणां तथा।

प्रथमं साहसं दण्डयो विक्रुष्टे द्विगुणं तथा ॥ वि.चि.पृ. १२०, कृ.क.त.पृ.४९५, वि.रत्ना.पृ.२७३, व्य.नि. पृ. ४९४

[39] वि.चि.पृ. १२०, कृ.क.पृ.४९७, वि.रत्ना.पृ.२७५

[40]आभीषणेन दण्डेन प्रहरेद्यस्तु मानव: ।

पूर्वं वा पीडितो वाथ स दण्डय: परिकीर्त्तित:॥ वि.चि.पृ. १२०, कृ.क.त.पृ.४९७, वि.रत्ना.पृ.२७६

[41] अस्पृश्यधूर्त्तदासानां म्लेच्छानां पापकारिणाम्।

प्रातिलोम्यप्रसूतानां ताडनं नार्थतो दम:॥ वि.चि.पृ. १२२, कृ.क.त.पृ.४९९, वि.रत्ना.पृ.२७८

मनुष्यों के मल हैं उनका धन भी मलात्मक है। इसलिए राजा को उन्हें वेत्रघातादि दण्ड देना चाहिए, अर्थदण्ड नहीं देना चाहिए।

श्वपाकपण्डचाण्डालवेश्यावधकवृत्तिषु।

हस्तिपव्रात्यदासेषु गुर्वाचार्यांतगेषु च॥

मर्यादाऽतिक्रमे सद्यो घात एवाऽनुशासनम्।

न च तद्दण्डपारुष्ये दोषमाहुर्मनीषिण:॥

यमेते ह्यतिवर्तेरन्नोत्तमस्तान्नृपं नयेत्॥

स एव विनयं कुर्यान्न तद्विनयभाङ्नृप:।

मला ह्येते मनुष्याणां धनमेषां मलात्मकम्॥

अतस्तान्घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत्॥[42]

विवादरत्नाकरकार ने श्वपाक की व्याख्या इस प्रकार की है-शूद्रा का क्षत्रिय से उत्पन्न पुत्र उग्र कहलाता है। क्षत्रिया का शूद्र से उत्पन्न पुत्र क्षत्ता कहलाता है। इन क्षत्ता और उद्र से उत्पन्न संतान श्वपाक कहलाती है। मनु, याज्ञवल्क्यादि, विष्णु[43] ने वृक्षों आदि को नष्ट करने पर भी दण्ड का विधान किया है। मनु के अनुसार वनस्पतियों को नष्ट करने में जिस प्रकार सबका उपभोग किया जाता है उसी प्रकार दण्ड भी देना चाहिए-

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगो यथा यथा।

तथा तथा दम: कार्यो हिंसायामिति धारणा॥[44]

याज्ञवल्क्य के अनुसार पुन: प्ररोहशक्तिसम्पन्न वृक्षों तथा जीवनयोनि वृक्षों की शाखाओं, स्कन्धों अथवा सम्पूर्ण वृक्ष को नष्ट करने पर क्रमश: बीस पण, चालीस पण तथा अस्सी पण दण्ड देना चाहिए। चैत्य

---

[42] वि.चि.पृ. १२१, कृ.क. त.पृ.४९८, वि.रत्ना.पृ.२७६-७७, वी.मि.पृ.३७०

[43] फलोपगद्रुमच्छेदी तूत्तमसाहसम्। पुष्पोपगद्रुमच्छेदी मध्यमम्। वल्लीगुल्मलताच्छेदी कार्षापणशतम्। तृणच्छेदी एकं कार्षापणम्। सर्वे च तत्स्वामिनां तदुत्पत्तिम्। -वि.चि.पृ. १२६, कृ.क.त.पृ.५०४, वी.मि. पृ. ३७६

[44] वि.चि.पृ. १२२, कृ.क.पृ.५०३, स्मृ.च.पृ.७६७, वि.रत्ना.पृ.२८४, वी.मि.पृ.३७६, व्य.म.पृ.१४३

श्मशान तथा गाँव आदि की सीमा पर उत्पन्न वृक्ष, तीर्थादि, देवालय में उत्पन्न वृक्षों के शाखादि के भंग करने पर सामान्य वृक्ष की अपेक्षा दोगुणा दण्ड देना चाहिए। ऐसा ही दण्ड अन्य प्रसिद्ध वृक्षों के छेदन पर भी देना चाहिए। गुल्म, गुच्छ, क्षुप, लता, प्रतान, औषधि तथा वीरुत वृक्षों को काटने पर पूर्वोक्त दण्ड का आधा देना चाहिए -

प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे।
उपजीव्यद्रुमाणां तु विंशतेर्द्विगुणो दमः॥
चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये।
जातद्रुमाणां द्विगुणा दमा वृक्षेऽथ विश्रुते॥
गुल्मगुच्छक्षुपलताप्रतानौषधिवीरुधाम्।
पूर्वस्मृतादर्द्धदण्डः स्थानेषूक्तेषु कृन्तने॥[45]

४.३. स्तेय

स्वामी की अनुमति के बिना परद्रव्य का अपहरण स्तेय कहलाता है। धर्मसूत्रों में स्तेय के लिए स्तेन, तस्कर तथा चोर आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। मनुस्मृति में स्तेय का लक्षण करते हुए कहा गया है कि द्रव्य स्वामी के विद्यमान नहीं रहते हुए वञ्चना करके जो परद्रव्य का हरण किया जाता है, वह स्तेय कहलाता है –

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृतापव्ययते च यत्॥[46]

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में साहस का स्तेय से भेद करते हुए कहा गया है कि स्वामी के विद्यमान रहने पर भी बलपूर्वक द्रव्य का अपहरण करना साहस कहलाता है तथा स्वामी के अनुपस्थिति में द्रव्य का अपहरण करना स्तेय है। यही स्तेय और साहस का मुख्य भेद है।मिताक्षराकार ने धन स्वामी के समक्ष ही द्रव्य का

---

[45] वि.चि.पृ. १२२, कृ.क.त.पृ.५०३, वि.रत्ना.पृ.२८४

[46] कृ.क.त.पृ.५०५, वि.रत्ना.पृ.२८६, वि.से.पृ.२२७, वी.मि,पृ.३८५, व्य.नि.पृ.५००

अपहरण करके जो भय के 'न ममेदं कृतम्' (मैंने ऐसा नहीं किया है) इस प्रकार अपलाप करता है, वह भी स्तेय कहलाता है।[47] कात्यायन ने भी स्तेय का यही लक्षण किया है।[48]

नारद ने स्तेय को साहस का एक भेद बताया है –

तस्यैव भेद: स्तेयं स्याविशेषस्तत्र दृश्यते।

आधि: साहसमाक्रम्य स्तेयमाधिश्छलेन॥[49]

स्तेय का लक्षण नारद स्मृति में इस प्रकार किया है- अनेक प्रकार वञ्चना करते हुए सोये हुए प्रमाद की अवस्था प्राप्त स्वामी के द्रव्य का अपहरण करने को विद्वानों ने स्तेय कहा है –

उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वाऽपकर्षणम्।

सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्य: स्तेयमाहुर्मनीषिण:॥[50]

नारद ने चोरी किये गये द्रव्य के आधार पर स्तेय के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है-

i. क्षुद्र
ii. मध्यम
iii. उत्तम

धर्मशास्त्रकारों ने स्तेय अपराध की गंभीरता के आधार प विभिन्न प्रकार के दण्ड का विधान किया है। मनु के अनुसार राजा को स्तेय करने वालों के द्वारा किये गये कर्मकृत दोषों को तत्वपूर्वक सबके समक्ष कहकर अपराध की गंभीरता के अनुसार दण्ड देना चाहिए -

---

[47] यच्च सान्वयमपि कृत्वा न मयेदं कृतमिति भयान्निह्नुते तदपि स्तेयम्। - या. स्मृ.२/२६६ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[48] सान्वयस्त्वपहारो य: प्रसह्यं करणं च यत्।

साहसं च भवेदेवं स्तेयमुक्तं विनिह्नव:॥ - कृ.क.त.पृ.५०५, वि.रत्ना.पृ.२८७

[49] कृ.क.त.पृ.५०५, वि.रत्ना.पृ.२८६, वि.से.पृ.२२७, वी.मि.पृ.३८५, व्य.नि.पृ.५००

[50] कृ.क.त.पृ.५०६, वि.रत्ना.पृ.२८८, वी.मि.पृ.३८५, व्य.नि.पृ.५०२

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्तत:।

कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधत:॥[51]

विवादचिन्तामणिकार ने तेषां का अभिप्राय चोर किया है। मनु ने तस्करों का पता लगाकर उनको दण्डित करने वाले राजा को पुण्य का भागी माना है।[52] मनु[53], वृहस्पति[54], व्यासादि[55] ने चोरों के दो प्रकारों का वर्णन किया है –

i. प्रकाश

ii. अप्रकाश

वणिकादि प्रकाश चोर होते हैं तथा सेंधमारी करने वाले अप्रकाश चोर कहलाते हैं। व्यास ने प्रकाश चोर का उदाहरण तथा उनके दण्ड का विधान इस प्रकार किया है -

तुलामानविशेषेण लेख्येन गणनेन च।

अर्धस्य वृद्धिह्रासेन मुष्णन्ति वणिजो जनान्॥

तद्द्रव्यं सदृशैर्द्रव्यैर्हीनमूल्यैर्विमिश्रणम्।

कुर्वन्त्यौपयिकाश्चान्ये पण्यानां परिवर्त्तनम्॥[56]

याज्ञवल्क्य ने जो वणिक् तुला को सम्यक् न रखते हुए क्रेय वस्तु का हरण करने वाले को दण्ड का उल्लेख करते हुए कहा है कि जो वणिक् कूटमान तथा कूटतुला के द्वारा क्रीत वस्तु का अष्टम भाग अपहरित करता

---

[51] वि.चि.पृ.१२३, वि.रत्ना.पृ.२९३, कृ.क.त.पृ.५१०, वि.से.पृ.२२९, व्य.नि.पृ.५०४

[52] म. स्मृ.८/३०२-३०३

[53] म. स्मृ.९/२५६

[54] कृ.क.त. पृ.५७७

[55] कृ.क.त. पृ.५७७

[56] वि.चि.पृ.१२४, कृ.क.त.पृ.५१२, वि.रत्ना.पृ.२९५, वि.से.पृ.२२९-३०

है, वह दो सौ पण दण्डित करने योग्य है। इसी प्रकार अपहरित वस्तु की वृद्धि तथा हानि के अनुसार दण्ड की न्यून तथा अधिक कल्पना करनी चाहिए –

मानेन तुलया वापि योंऽशमष्टममाहरेत्।

दण्डं स दाप्यो द्विशतं वृद्धौ हानौ च कल्पितम्॥[57]

विवादचिन्तामणिकार ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति नवम अंश का हरण करता है उसे अष्टमभाग न्यून दो सौ पण दण्ड तथा जो सप्तम अंश का अपहरण करता है, उसे अष्टमभाग सहित दो सौ पण देना चाहिए। कात्यायन[58] और मनु[59] ने तुलामान आदि के लिए प्रथम साहस दण्ड देने को कहा है। मनु ने उगने के अयोग्य बीजादि को बेचने वाले व्यक्ति के लिए दण्ड की व्यवस्था करते हुए कहा है-उगने के अयोग्य बीज बेचने वाले, खराब बीज मिलाकर बेचने वाले तथा सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले को विकृत वध दण्ड देना चाहिए -

अबीजविक्रयी यस्तु बीजोत्कृष्टा तथैव च।

मर्यादाभेदकश्चैव प्राप्नुयाद्विकृतं वधम्॥[60]

याज्ञवल्क्य के अनुसार औषधि, सुगन्धित द्रव्य, सैन्धव, घृतादि, धान्य, तथा गुडादि बेचने योग्य सारवान् वस्तु में असार-वस्तु का मिश्रण कर बेचने वाले को सोलह पण दण्ड देना चाहिए।[61] इसी प्रकार विष्णु[62],

---

[57] वि.चि.पृ.१२४, कृ.क.त.पृ.५१२, वि.रत्ना.पृ.२९५, वि.से.पृ.२३०

[58]तुलामानप्रतीमानप्रतिरूपकलक्षितैः।

चरन्नलक्षितैर्वापि प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥ -वि.चि.पृ.१२५ कृ.क.त.पृ.५१३, वि.रत्ना.पृ.२९५

[59] म. स्मृ.९/२८७

[60]वि.चि.पृ.१२५, कृ.क.त.पृ.५१३, वि.रत्ना.पृ.२९६, वि.से.पृ.२३१,

[61] भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु।

पण्येषु हीनं क्षिपतः पणा दण्डस्तु षोडश॥ वि.चि.पृ.१२६, कृ.क.त.पृ.५१४, वि.रत्ना.पृ.२९७, व्य.नि.पृ.५११

[62] शुल्कस्थानमपाक्रामन्सर्वापहारमाप्नुयात्। -वि. चि. पृ.१२७

शंख[63] आदि ने भी दण्ड का वर्णन किया है। याज्ञवल्क्य ने तोलने के साधन, शासनादेश, प्रस्थादि तथा नाणक(द्रम्म, निष्क) में न्यूनत्व अथवा आधिक्य का समावेश करने वाले को उत्तम साहस अर्थात् एक हजार पण दण्ड देने को कहा है साथ ही जो नाणक परीक्षक (मुद्रा परीक्षक) असम्यक् को सम्यक् तथा सम्यक् को असम्यक् बताता है वह भी एक हजार पण दण्ड के योग्य है -

तुलाशासनमानानां कूटकृत्कानकस्य च।

एभिश्च व्यवहर्ता य: स दाप्यो दममुत्तमम्॥

अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम्।

स कानकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम्॥[64]

याज्ञवल्क्य ने राजा के द्वारा निर्धारित वस्तु के कम अथवा अधिक मूल्य को जानकर भी आपस में मिलकर रजक तथा चित्रकारादि के पीड़ादायक मूल्य का निर्धारण करने वाले वणिकों को भी उत्तम साहस का दण्ड देने को कहा है साथ ही यदि वणिक् आपस में मिलकर अन्य देश से आगत वस्तु को न्यून मूल्य में बेचने को बाध्य करते हैं अथवा न्यून मूल्य में खरीदकर अधिक मूल्य में बेचते हैं, तो ये दोनों भी उत्तमसाहस दण्ड के योग्य हैं।

सम्भूय कुर्वतामर्धं साबाधं कारुशिल्पिनाम्।

अर्धस्य हानिं वृद्धिं च साहस्रो दण्ड उच्यते॥

सम्भूय वणिजां पण्यमनर्घेणावरुन्धताम्।

विक्रीणतां वा विहितो दण्ड उत्तमसाहस:॥[65]

---

[63] कूटतुलामानप्रतिमानव्यहारे शारीरोड्गच्छेदो वा कूटतुलामानेन कूटप्रतिमानेन वा यो व्यवहरति तस्य मुण्डनं यस्तु तच्छीलस्तस्य कर्णाद्यन्यतमच्छेद: कार्य इत्यर्थ:। - वि. चि. पृ.१२७

[64] वि.चि.पृ.१२७, कृ.क.त.पृ.५१५, वि.रत्ना.पृ.२९९, वि.से.पृ.२३१-३२

[65] या. स्मृ. २/२४९-२५० वि.चि.पृ.१२८, कृ.क.त.पृ.५१६, वि.रत्ना.पृ.२३००

इसी प्रकार मनु,[66] विष्णु,[67] गौतम,[68] वसिष्ठ,[69] व्यास,[70] वृहस्पति[71] आदि ने विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में मिलावट, कम माप, अधिक या न्यून मूल्य में विक्रय अथवा क्रय करने, राजा द्वारा निषिद्ध वस्तु को बेचने तथा निर्धारित शुल्क अदा न करने वाले वणिकों के लिए विविध प्रकार के दण्ड का विधान किया है। वृहस्पति ने अन्याय वादियों, उत्कोच जीवियों तथा वञ्चकों निर्वासन का दण्ड देने कहा है।[72] मनु ने सभी पापियों में सबसे अधिक पापी सुनार को माना है तथा ऐसे पापी सुनार को राजा क्षुरों से टुकड़े-टुकड़े कर छेद डाले।[73]

४.३.१. अप्रकाश तस्कर के लिए दण्ड विधान

---

[66] म. स्मृ.८/३९८-३९९

[67]स्वदेशपण्याच्छुल्कांशं दशममादद्यात्। परदेशपण्याच्च विंशतितमम्॥ - वि. चि. पृ१२९, कृ.क.त. पृ. ५१७, वि.रत्ना.पृ.३०४

[68] विंशतिभाग: शुल्क: पण्ये मूलपुष्पौषधिमांसमधुतृंणेन्धनानां तु षष्ठ:। - वि. चि. पृ.१२९, कृ.क.त. पृ. ५१८, वि.रत्ना.पृ.३०४

[69] वि. चि. पृ१३०

[70]अनिच्छन्तमभूमिज्ञं संयोज्य व्यसने नरम्।
अपकर्षन्ति तद्द्रव्यं वेश्याकितवशिल्पिन:॥ -वि.चि.पृ.१३०, कृ.क.त.पृ.५२०, वि.रत्ना.पृ.३०७, वि.से.पृ. २३२

[71] वि. चि. पृ१३०

[72] अन्यायवादिन: सभ्यास्तथैवोत्कोचजीविन:।
विश्रब्धवञ्चकाश्चैव निर्वास्या: सर्व एव ते॥ -वि.चि.पृ१३०, कृ.क.त.पृ.५२१, वि.रत्ना.पृ.३०७

[73] सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिव:।
प्रवर्त्तमानमन्यायेच्छेदयेल्लवश: क्षुरै:॥ वि.रत्ना.पृ.१३१, कृ.क.त.पृ.५२२, वि.रत्ना.पृ.३०९, वि.से.पृ.२३३, वी. मि. पृ. ३८८

मनु ने अप्रकाश तस्कर के लिए दण्ड का वर्णन करते हुए कहा है कि जो तस्कर सेंध भेदकर रात में चोरी करता है, उसके दोनों हाथ काटकर राजा द्वारा उन्हें तेज शूली पर चढा देना चाहिए -

सन्धिं कृत्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्करा:।

तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णशूले निवेशयेत्॥[74]

व्यास ने भी यही कहा है।[75] मनु के अनुसार कुलीन पुरुष तथा विशेषत: स्त्रियों और प्रमुख रत्नों का हरण करने पर अपहरण करने वाला व्यक्ति वध करने योग्य है तथा ब्राह्मण की गाय का अपहरण करने वाले को, अंकुश से भेदने वाले और पशुओं का अपहरण करने वाले को आधे पैरों वाला कर देना चाहिए अर्थात् उसके पैर काट देना चाहिए और बड़े पशुओं, शस्त्रों तथा औषधियों का अपहरण करने पर राजा को काल तथा कार्य को देखते हुए दण्ड देना चाहिए।[76] पशुओं का हरण करने वाले के लिए नारद,[77] विष्णु,[78] याज्ञवल्क्य,[79] व्यास[80] आदि ने भी उत्तम साहस, हाथ-पैर काटने, शूली पर चढ़ाने आदि का दण्ड देने को कहा है। वस्त्रों आदि का अपहरण करने वाले चोर के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि वस्त्रों का

---

[74] वि.चि.पृ.१३३-१३४, कृ.क.त.पृ.५२७, स्मृ.च.पृ.७३८, वि.रत्ना.पृ.३१६, वि.से.पृ.२३५, वी.मि,पृ.३८८, व्य.म. पृ.१४५

[75] सन्धिच्छेत्ताऽनेकविधं धनं प्राप्नोति वै गृहात्।
प्रदाप्य स्वामिनो सर्वं हृतं शूले निवेशयेत्॥ वि.चि.पृ.१३४, कृ.क.त.पृ.५२७, स्मृ.च.पृ.७३८, वि.रत्ना.पृ.३१६

[76] म. स्मृ.८/३२३-३२५

[77] ना. स्मृ.४/१८/२९

[78] गोऽश्वोष्ट्रगजापहारक: एककरपादिक: कार्य:। अजाद्यपहार्येककरश्च करितुरगावत्यन्ताऽपकृष्टावुक्तौ। शास्यो वा गुणवान्। -वि.चि.पृ१३६, कृ.क.त.पृ.५३१, वि.रत्ना.पृ.३२०

[79] या. स्मृ. २/२७३

[80] नरहर्त्ता हस्तपादौच्छित्त्वा स्थाप्यश्चतुष्पथे। इदं तु मध्यविधिपुरुषापहरणे। पुरुषं हरत: प्रोक्तो दण्ड उत्तमसाहस:। -वि.चि.पृ.१३४

अपहरण करने वाले तथा ग्रंथिभेदक चोर के प्रथम बार अपराध करने की स्थिति में क्रमश: एक हाथ तथा तर्जनी और अंगूठा काट लेना चाहिए। दूसरी बार अपराध करने पर एक हाथ और एक पैर से रहित अर्थात् एक हाथ और एक पैर काट लेना चाहिए -

उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसन्दंशभेदकौ॥[81]

नारद ने तुलाधरिम अर्थात् कर्पूर आदि, मेय (ब्रीह्यादि) सभी गणिम (गणना योग्य) पदार्थों के हरण पर उनमें से उत्कृष्ट पदार्थ के मूल्य का आठ गुणा देने को कहा है।[82] मनु के अनुसार तुला से तोलने योग्य सुवर्ण, रजत और उत्तम वस्त्रों को संख्या में सौ से अधिक चुराने पर वध दण्ड देना चाहिए।पचास से द्रव्य का हरण करने पर हाथ काट लेना चाहिए तथा इसके अतिरिक्त विषयों में मूल्य का ग्यारह गुणा दण्ड देना चाहिए -

तुलाधरिममेयानां शतादप्यधिके वध: ।

सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम्॥

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते।

शेषेऽप्येकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत्॥[83]

सुवर्ण आदि के हरण में शंख,[84] विष्णु[85] आदि ने ऐसा ही कहा है। मनु ने सूत, कपास आदि वस्तुओं को चुराने पर चोरी की वस्तु का दोगुणा दण्ड देने का विधान किया है। उनके अनुसार सूत, कपास, सुरा-बीज,

---

[81] वि.चि.पृ.१३७, वि.रत्ना.पृ.३२१, व्य.म.पृ.१४५

[82] तुलाधरिममेयानां गणिमानां च सर्वश:।

एभिस्तूत्कृष्टमूल्यानां मूल्याद्दशगुणो दम:॥ -वि.चि.पृ.१३८, कृ.क.त.पृ.५१५, वि.रत्ना.पृ.२९९, वि.से.पृ. २३१-३२

[83] वि.चि.पृ.१३८, कृ.क.त.पृ.५३३, स्मृ.च.पृ.७३९, वि.रत्ना.पृ.३२३, वी.मि,पृ.३९०, व्य.नि.पृ.१४६

[84] सुवर्णरजतापहारे शारीरोऽङ्गच्छेदो वा यत्किञ्चित्स्वल्पं सुवर्णं रजतं वाऽपहरन्नभ्यर्हितस्ताडनीयस्तदू-न श्छिन्नकर्ण: कार्य:। -वि.चि.पृ.१३९

गोमय (गोबर), गुड, दधि, दूध, छाछ, पेय द्रव्य, घास, बांस-खण्ड से निर्मित बर्तन, नमक, मिट्टी के खिलौने तथा बर्तन, मिट्टी, भस्म, मत्स्य, पक्षी, तेल, घृत, मांस, शहद, पशुओं से उत्पन्न अन्य द्रव्य, पके अन्न, आदि को चुराने पर चोरी की गई वस्तु का दोगुणा दण्ड देना चाहिए।[86] कात्यायन का मत है कि चोर जिस जिस अंग से परद्रोह करता है उसके वे-वे अंग काट लेने चाहिए –

येन येन परद्रोहं करोत्यङ्गेन तस्करः।

छिन्द्यात्तत्तन्नृपस्तस्य न करोति यथा पुनः।।[87]

वृहस्पति के अनुसार तृण अथवा काष्ठ या पुष्प, फल, बिना पूछे ग्रहण कर लेने पर हाथ काट लेना चाहिए-

तृणं वा यदि वा काष्ठ पुष्पं वा यदि वा फ़लम्।

अनापृच्छ्य तु गृह्णनो हस्तच्छेदनमर्हति॥[88]

गौतम ने ब्राह्मण चोर को शारीरिक दण्ड देने का निषेध किया है - **ब्राह्मणस्य न शारीरो दण्डः। कर्मवियोग विख्यापनविवासनाङ्ककरणानि स्ववृत्तौ प्रायश्चित्ती तु सः॥ आपस्तम्ब ने ऐसा ही कहा है- पुरुषवधस्तेयभूम्यादानेषु। स्तेयं सुवर्ण्हरणम्।एतेषु त्रिषु ब्राह्मणेतरस्य वधः।** याज्ञवल्क्य ने भी चोर ब्राह्मण को अंकिय करके देश से निकालने का आदेश दिया है।[89]

---

[85] रत्नापहार्युत्तमसाहसम्। अपकृष्टरत्नापहारी सहस्रं पणान् दण्डयः। -वि.चि.पृ.१३९

[86] म. स्मृ. ८/३३६-३२९

[87] वि.चि.पृ.१४१, कृ.क.त.पृ.५३७, वि.रत्ना.पृ.३२९

[88] वि.चि.पृ.१४२, कृ.क.त.पृ.५३८, वि.रत्ना.पृ.३२९

[89]चौरं प्रदाप्याऽपहृतं घातयेद्विविधैर्वधैः।

सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥ वि.चि.पृ.१४३, कृ.क.त.पृ.५४०, वि.रत्ना.पृ.३३१, वि.से.पृ.२४४, वी.मि.पृ.३९०, व्य.म.पृ.१४७, व्य.नि.पृ.५०७

कात्यायन ने ब्राह्मणों के लिए विशेष विधान करते हुए कहा है कि यदि ब्राह्मण विद्वान् न हो और वह चोरी की गई वस्तु के साथ पकड़ा जाय अथवा बिना वस्तु के पकड़ा जाय तो उसे उपयुक्त लक्षणों से चिह्नित कर करके उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए परन्तु ऐसा उसी अवस्था में करना चाहिए जबकि अपराध निश्चित रूप से सिद्ध हो जाय। लेकिन यदि चोर ब्राह्मण विद्वान् न हो और न ही धनी तो उसके पैरों में डाल देना चाहिए, उसे भोजन कम देना चाहिए तथा उससे मृत्यु-पर्यन्त राजा के द्वारा कार्य कराया जाना चाहिए-

सहोढमसहोढं वा मत्वा गमितसाहसम्।

प्रगृह्याच्चिह्नमावेद्य सर्वस्वेन वियोजयेत्॥

अय:सन्दानगुप्ताश्च मन्दभक्ता गुणान्विता:।

कुर्यु: कर्मणि नृपतरो मृत्योरितिं कौशिक:॥[90]

४.३.२. स्तेनातिदेश

स्तेनादिदेश के सम्बन्ध में मनु का मत है जो ब्राह्मण बिना अनुमति कोई वस्तु ग्रहण करने वाले चोर के हाथ से यज्ञ कराने और अध्यापन के लिए द्रव्य लेने की इच्छा रखता है तो वह ब्राह्मण भी चोर के समान ही होता है। साथ ही चोरों को अग्नि देने वाले (सर्दी से बचने के लिए) भोजन देने वाले, शस्त्र देने वाले, आश्रय देने वाले तथा चोरी की गई वस्तु अपने पास रखने वाले लोगों को भी राजा द्वारा चोर के समान दण्डित किया जाना चाहिए –

योदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम्।

याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव स:॥

अग्निदान्भक्तदांश्चै तथा शस्त्रावकाशदान्।

सन्निधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरानिवेश्वर:॥[91]

---

[90] वि.चि.पृ.१४३, कृ.क.त.पृ.५४१-४२, वि.रत्ना.पृ.३३२, वि.से.पृ.२४४, वी.मि.पृ.३९०, व्य.म.पृ.१४७

[91] वि.चि.पृ.१४४, कृ.क.त.पृ.५४८, वि.रत्ना.पृ.३३९

याज्ञवल्क्य ने चोर को भोजनादि देने वाले व्यक्ति के लिए उत्तम साहस दण्ड का विधान किया है उनके अनुसार किसी व्यक्ति को चोर या हत्या करने वाला जानते हुए भी उसे भोजन, आवास, अग्नि, जल, चोरी करने के लिए विचार, चोरी के लिए साधन तथा मार्गव्यय देने वाला उत्तमसाहस दण्ड का भागी है –

भक्ताऽवकाशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान्।

कृत्वा चौरस्य हन्तुर्वा जानतो दण्ड उत्तम:।।[92]

नारद ने भी चोर की सहायता करने वाले को चोर के समान मानते हुए दण्ड देने की बात कही है।[93] लेकिन यदि राजा चोरों के निराकरण मे असमर्थ हो, तो ऐसी स्थिति में अपनी रक्षा के लिए चोर को भोजन आदि देने पर भी दोष नहीं होता,ऐसा विष्णु का मत है-**प्रसह्य तस्कराणामवकाशभक्तप्रदांश्चा- ऽन्यत्र राजाऽशक्ते:।** मनु ने चोरों को पकड़वाने में मध्यस्थ रक्षा के लिए नियुक्त अधिकारियों तथा सामन्तों को भी चोर के समान दण्डित करने की बात की है।[94] तथा गाँव के लूट लिये जाने पर, पुल के टूटने, मार्ग में चोर को देखने पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार न भागने वाले व्यक्तियों तथा परिवारों को सभी सामान सहित गाँव से बाहर कर देना चाहिए-

ग्रामघातेहिताभङ्गे पथि मोषाऽभिदर्शने।

शाक्तितोऽनभिधावन्तो निर्वास्या: सपरिच्छदा:॥[95]

---

[92] वि.चि.पृ.१४५, कृ.क.त.पृ.५४८, वि.रत्ना.पृ.३३९

[93] भक्तावकाशदातार: स्तेनानां च प्रसर्पताम्।

शक्ताश्च य उपेक्षन्ते तेऽपि तद्दोषभागिन:॥ -ना स्मृ.४/१४/१९, वि.चि.पृ.१४५, कृ.क.त.पृ.४४८, वि.रत्ना.पृ.३३९, वि.से.पृ.२४८, व्य.म.पृ.१४७

[94] म. स्मृ.९/२७२

[95] वि.चि.पृ.१४६, कृ.क.त.पृ.५५०, वि.रत्ना.पृ.३४१, वि.से. पृ.२४९

४.४.३. चोरी के विषय में अपवाद –

चोरी से सम्बन्धित अपवाद अर्थात् चोरी करते हुए किन परिस्थितियों में किसी कर्म को चौर्यकर्म नहीं समझा जाना चाहिए ऐसे विषय का वर्णन इस शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। इस सन्दर्भ में मनु का मत है कि क्षीण जीविका वाला अर्थात् यात्रा के समय कुछ भी भोजन न होने की स्थिति में द्विज यात्री किसी अन्य के खेत से यदि दो मूली अथवा दो गन्ने ले लेता है तो उसे दण्डनीय नहीं माना जाना चाहिए साथ ही वनस्पतियों के फल और मूल, अग्निहोत्र के लिए ग्रहण की जाने वाली समिधा, गायोंके चारे के लिए तृण को भी अस्तेय कहा जाता है -

द्विजोऽध्वग: क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके।

आददान: परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति॥

वानस्पत्यं मूलफ़लं दार्वग्न्यर्थं तथैव च॥

तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थम्स्तेयं मनुरब्रवीत्।[96]

[96] म. स्मृ.८/३४१, ३३९

४.४. साहस -

साहस नामक विवादपद का लक्षण करते हुए नारद स्मृति में कहा गया है कि बलपूर्वक तथा अहंकारपूर्वक जो कर्म सहसा किया जाता है, वह साहस कहलाता है क्योंकि 'सह' का अर्थ बल होता है –

सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्बलदर्पितैः।

तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते॥[1]

इस प्रकार बलपूर्वक जो कर्म किया जाता है जिससे अन्य व्यक्ति को दु:ख पहुंचता है वह साहस कहलाता है। नारद और वृहस्पति ने चार प्रकार के साहस बताये हैं –

मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्शनम्।

पारुष्यं द्विविधं ज्ञेयं साहसं च चतुर्विधम्॥[2]

i. मनुष्य का वध
ii. स्तेय
iii. परस्त्रीगमन
iv. पारुष्य (वाक्पारुष्य एवं दण्डपारुष्य दोनों)

नारद स्मृति में स्तेय को साहस का एक प्रकार बताते हुए कहा गया है कि स्तेय, साहस का भेद। परंतु उसमें कुछ विशेष होता है। बलपूर्वक किसी का द्रव्य ग्रहण करना आधि है और छलपूर्वक ग्रहण करना स्तेय है-

तस्यैव भेदः स्तेयं स्याद्विशेषस्तत्र कीर्त्यते।

आधिः साहसमाक्रम्य स्तेयमाधिश्छलेन तु॥[3]

---

[1] वि.चि. पृ १४९, कृ.क.त. पृ.५५६, वि. रत्ना. पृ. ३४८-४९, वि. से. पृ. २५३-५४, वी. मि. पृ. ३९२, व्य. म. पृ. १४७, व्य. नि. पृ. ५१७.

[2] ना. स्मृ. ४/१४/२, वृहस्पति ने स्तेयं के स्थान पर चौर्यं लिखा है। वृहस्पति का श्लोक स्मृ. च. (७२२ पृ.) तथा वी. मि.(३९२ पृ.) में उद्धरित है।

वृहस्पति और नारद ने साहस की तीन श्रेणियां बताई हैं –

i. प्रथम साहस

ii. द्वितीय साहस

iii. तृतीय साहस

प्रथम, मध्यम तथा उत्तम साहस के विभाजन का आधार साहस की गंभीरता है। नारद ने इन तीनों का कथन करते हुए कहा है कि फल, मूल, उदक के क्षेत्र और उपकरण का भंग, बलपूर्वक हरण और भय उत्पन्न करना प्रथम साहस है। वस्त्र, पशु, अन्न, पान, गृह तथा उपकरणों को विनष्ट करना मध्यम साहस है तथा विष और शस्त्रों के द्वारा वध, दूसरे की स्त्री का बलपूर्वक गमन तथा प्राणहानिकर कर्म उत्तम साहस है-

फलमूलोदकादीनां क्षेत्रोपकरणस्य च।

भङ्गाक्षेपापमर्द्दाद्यै: परदारप्रधर्षणम्॥

बास:पश्वन्नपानानां गृहोपकरणस्य च।

एतेनैव प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम्॥

व्यापादो विषशस्त्राद्यै: परदाराभिमर्शनम्।

प्राणोपरोधि यच्चाद्यमध्यमोत्तमसाहसम्।[4]

---

[3] [3] वि.चि. पृ. १४९, कृ.क.त. पृ.५५६, वि. रत्ना. पृ. ३४८-४९, वि. से. पृ. २५३-५४, वी.मि. पृ. ३९२, व्य. म. पृ. १४७, व्य. नि. पृ. ५१७.

[4] वि. चि. पृ. १४९-५०, कृ. क.त.पृ, ५५६, वि. रत्ना. पृ. ३४९, वि. से. पृ. २५३, वी. मि. पृ. ३९२, व्य. म. पृ. १४७, व्य. नि. पृ. ५१७.

नारद ने प्रथम साहस के लिए कार्य के परिमाण के आधार पर न्यूनतम सौ पण दण्ड देने को कहा है। मध्यम साहस का कम से कम पांच सौ पण, तथा उत्तम साहस में एक हजार पण दण्ड देना चाहिए। वध, सर्वस्वहरण, नगर से निर्वासन, शरीर में चित्र का अंकन तथा अंगच्छेद उत्तम साहस के दण्ड हैं-

तस्य दण्ड: क्रियापेक्ष: प्रथमस्य शतावर:।

मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैर्दृष्ट: पञ्चशताऽवर:॥

वध: सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने।

तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे॥[5]

प्रथम और मध्यम साहस में प्रायश्चित करने तथा दण्डभोग से पुरुष लोक व्यवहार योग्य होता है परंतु उत्तम साहस में व्यक्ति दण्डभोग करने के बाद भी संभाषण के योग्य नहीं होता –

स्यातां संव्यवहार्यौ द्वौ धृतदण्डौ तु पूर्वयो:।

धृतदण्डोप्यसंभाष्यो ज्ञेय उत्तमसाहसे॥[6]

मनु ने उपरिलिखित वस्तुओं के विनाश तथा हरण के लिए नारद से भिन्न दण्ड का विधान किया है। उनके अनुसार क्षेत्र, उपकरण, सेतु, फूल, मूल और फल के विनाश अथवा हरण पर सौ पण का दण्ड देना चाहिए। पशु, वस्त्र, अन्न, पान, गृह, उपकरण की हिंसा अथवा चुराने पर दो सौ पण तथा स्त्री, गो, स्वर्ण, रत्न, देव तथा ब्राह्मण का धन, उत्तम वस्त्र के नष्ट अथवा चौर्य पर इन वस्तुओं के मूल्यानुसर दण्ड देना चाहिए अथवा राजा पुरुषों के अनुसार मूल्य का दोगुणा भी दण्ड दे सकता है।[7]

---

[5]ना. स्मृ.४/१४/७-८, वि. चि. पृ. १५०, कृ. क.त.पृ, ५५८, वि, रत्ना. पृ. ३५१, वि. से. पृ. २५९,वी. मि. पृ. ३९३, व्य. म. पृ. १५१, व्य. नि. पृ. ५१८

[6]ना. स्मृ.४/१४/११, वि. चि. पृ. १५०, वि, रत्ना. पृ. ३५१, व्य. नि. पृ.५१८

[7] क्षेत्रोपकरणं सेतुं पुष्पमूलफ़लानि च।

विनाशयन्हरन्दण्ड्य: शताद्यमनुरूपत:॥

पशुवस्त्रान्नपानानि गृहोपकरणं तथा।

याज्ञवल्क्य के अनुसार किसी व्यक्ति के द्रव्य का अपहरण करने पर उस द्रव्य के मूल्य का दोगुणा दण्ड देना चाहिए परंतु हरण करने के बाद अपलाप भी करने पर चार गुणा दण्ड देना चाहिए-

सामान्यप्राभवद्रव्यहरणात्साहसं स्मृतम्।

तन्मूल्याद्विगुणो दण्डो निह्नवे च चतुर्गुण:॥[8]

चर्म, बर्तन, काष्ठ आदि वस्तुओं पर वस्तु के मूल्य से पांच गुणा देना चाहिए -

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेऽपि च ।

मूल्यात्पञ्चगुणो दण्ड: पुष्पमूलफलेपि च॥[9]

कात्यायन ने निम्न प्रकार से दण्ड का विधान किया है –

क्षतं भङ्गोऽवमर्दो वा कुर्याद्द्रव्येषु यो नर:।

प्राप्नुयात्साहसं पूर्वं द्रव्यभाक्स्वाम्युदाहृत:॥[10]

हिंसयंश्चोरयन्दाप्यो द्विशताद्यदमं तथा॥

स्त्रीपुंगोहेमरत्नानि देवविप्रधनं तथा।

कौशेयं चोत्तमं द्रव्यमेषां मूल्यसमो दम:॥

द्विगुणो वा कल्पनीय: पुरुषाऽपेक्षया नृपै:।

हर्त्तारो घातनीया: स्यु: प्रसङ्गविनिवृत्तये॥ वि. चि. पृ. १५०, कृ. क.त.पृ, ५५७, स्मृ. च. पृ. ७३४, वि, रत्ना. पृ. ३५०, वि. से. पृ. २५४, व्य. म. पृ. १५०

[8] या. स्मृ.२/२३०, वि. चि. पृ. १५१, कृ. क.त.पृ, ५५८, वि, रत्ना. पृ. ३५१, वि. से. पृ. २५५,वी. मि. पृ. ३९३

[9] वि. चि. पृ. १५२, कृ. क.त.पृ, ५५९, वि, रत्ना. पृ. ३५२, वि. से. पृ. २५४, व्य. नि. पृ. ५१८

[10] वि. चि. पृ. १५२, कृ. क.त.पृ, ५५९, वि. रत्ना. पृ. ३५३, वि. से. पृ. २५५

याज्ञवल्क्य ने साहसिक-व्यक्ति विशेष के प्रति दण्ड-विशेष का विधान करते हुए कहा है कि पूजनीय आचार्यादि की आज्ञा को मानने वाले, अपने भाई की पत्नी का वध करने वाले, संकल्प करके द्रव्य न देने वाले, बन्द घर को खोलने वाले, अपने गाँव के समीप के गाँव में रहने वाले तथा स्वकुलोत्पन्न का अहित करने वाले व्यक्तियों को पचास पण दण्ड देना चाहिए -

अर्ध्याक्रोशाऽतिक्रमकृद्भ्रातृभार्याप्रहारकः।

सन्दिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकः ॥

सामन्तकुलिकादीनामाकारस्याप्रकारकः।

पञ्चशत्पणिको दण्ड एषामिति विनिर्णयः॥[11]

नियोग विधि के बिना विधवा से गमन करने वाले, चोर आदि के भय से बुलाने पर भी नहीं आने वाले, भय का कारण उपस्थित न रहने पर भी भयभीत की तरह बुलाने वाले, चाण्डाल व्यक्ति द्वारा उत्तम वर्ण के व्यक्ति का स्पर्श करने पर, दैव और पितृ कार्य में शूद्र एवं सन्यासी को भोजन कराने वाले, अश्लील प्रतिज्ञा करने वाले, अयोग्य व्यक्ति के उपयुक्त कार्य करने वाले, बैल तथा अन्य निकृष्ट पशुओं की प्रजनन शक्ति को क्षीण करने वाले, सार्वजनिक द्रव्य की वञ्चना करने वाले, दासी का गर्भपात कराने वाले और पिता, पुत्र, बहन, भाई, पति, पत्नी, आचार्य और शिष्य आदि के पातित्यादिदोष से मुक्त होने पर भी एक दूसरे का परित्याग करने वाले सभी व्यक्ति सौ पण दण्ड के योग्य होते हैं -

स्वच्छन्दविधवागामी विक्रुष्टेऽनभिधायकः।

अकारणे च विक्रोष्टा चण्डालश्चोत्तमान्स्पृशन्॥

शूद्रप्रव्रजितानां च दैवे पैत्र्ये च भोजकः ।

अयुक्तशपथं कुर्वन्नयोग्यो योग्यकर्म्मकृत्॥

वृक्षक्षुद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत्।

साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकः॥

---

[11] या. स्मृ. २/२३२-२३३, वि. चि. पृ. १५३, कृ. क.त.पृ, ५६०, वि, रत्ना. पृ. ३५५, वी. मि. पृ. ३९३-९४

पितापुत्रसुहृद्भ्रातृदम्पत्याचार्यशिष्यका:।

एषामपतितानां च त्यागी च शतदण्डभाक्॥[12]

शङ्ख के अनुसार माता-पिता-गुरू का अंगच्छेद करने पर जिस अंग से प्रहार किया गया हो उसको काट देना चाहिए - **मातापित्रोर्गुरोश्चातिक्रमेऽङ्गच्छेद:। येनाङ्गेन ताडयेत्तच्छेद इत्यर्थ:।**[13]

याज्ञवल्क्य के अनुसार उपपति को चोर कहने वाले पुरुष या स्त्री को पांच सौ पण दण्ड देना चाहिए। जार के हाथ से उत्कोच लेकर त्याग देने वाले को गृहीत धन का आठ गुणा दण्ड देना चाहिए। मरे हुए व्यक्ति के शरीर से वस्त्रादि उतारकर बेचने वाले, अपने पूजनीय पिता एवं आचार्य आदि को मारने वाले तथा राजा के शकट तथा आसनादि पर बैठने वाले व्यक्तियों को उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए

जारं चौरेत्यभिवदन्दाप्य: पञ्चशतं दमम्।

उपजीव्य धनं मुञ्चंस्तदेवाष्टागुणीकृतम्॥

मृताङ्गलग्रविक्रेतुर्गुरोस्ताडयितुस्तथा।

राजायानाऽऽसनारोढुर्दण्डो मध्यमसाहस:॥[14]

मनु के अनुसार नहर, नाले आदि पार करने के माध्यमों, ध्वजों, यष्टि, मूर्तियों को तोड़ने वाले व्यक्तियों द्वारा इनकी मरम्मत कराना चाहिए तथा साथ पांच सौ पण का दण्ड भी देना चाहिए-

सङ्क्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदक:।

प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं दद्यात्पञ्चशतानि च॥[15]

कात्यायन ने इसके लिए प्रथम साहस दण्ड का विधान किया है।[16] इसी प्रकार विष्णु[17], शंख[18] आदि ने दण्ड विधान किया है।

---

[12] या. स्मृ.२/२३४-२३७, वि. चि. पृ. १५३, कृ. क.त.पृ, ५६१, वि, रत्ना. पृ. ३५६

[13] वि. चि. पृ. १५५

[14] या. स्मृ.२/३०१, ३०३, वि. चि. पृ. १५६, कृ. क.त.पृ, ५६४, वि, रत्ना. पृ. ३६२

[15] म. स्मृ.९/२८५, वि. चि. पृ. १५७, कृ. क.त.पृ, ५६५, वि, रत्ना. पृ. ३६३, वि. से. पृ. २५६

४.४.१. अपराध करने वाली स्त्रियों के लिए दण्ड विधान-

याज्ञवल्क्य ने अपराध करने वाली स्त्रियों के लिए दण्ड विधान का कथन करते हुए कहा है – दूसरे का वध करने के लिए विष तथा किसी के घर को जलाने के लिए अग्नि देने वाली एवं अपने पति, पूजनीय व्यक्तियों, अपनी संतान को मारने वाली स्त्री के कान, हाथ, नाक तथा ओंष्ठ काटकर बैलों के द्वारा घसीट करके मार देना चाहिए तथा दूसरे या स्वयं के गर्भ को नष्ट करने वाली, पति को मारने वाली तथा मर्यादा को भंग करने वाली गर्भरहिता स्त्री को गले में पत्थर बांधकर जल में प्रवाहित कर देना चाहिए -

विषाग्निदां स्त्रियं चैव पुरुषघ्नीमगर्भिणीम्।

सेतुभेदकरीं चाप्सु शिलां बद्ध्वा प्रवेशयेत्॥

विप्रदुष्टां पतिगुरुनिजाऽपत्यप्रमापणीम्।

विकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा गोभिः प्रमापयेत्।[19]

४.४.२. अन्य व्यक्तियों के लिए दण्ड विधान-

याज्ञवल्क्य के अनुसार क्षेत्र, घर, जंगल, गाँव, रक्षित खलिहान को जलाने वाले तथा राजपत्नी के साथ सहवास करने वाले व्यक्तियों को कटाग्नि से जला देना चाहिए –

क्षेत्रवेश्मवनग्रामविवीतखलदाहकाः।

राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाऽग्निना॥[20]

---

[16] हरेद्भिन्द्याद्हेद्वापि देवानां प्रतिमां यदि।

तद्गृहं चैव यो भिन्द्यात्प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्॥ वि. चि. पृ. १५७-५८, कृ. क.त.पृ, ५६६, वि, रत्ना. पृ. ३६४

[17] अभक्ष्यस्याऽविक्रय्यस्य च विक्रयी देवप्रतिमाभेदकश्चोत्तमसाहसं दण्ड्यः। वि. चि. पृ. १५८, कृ. क.त.पृ, ५६६, वि, रत्ना. पृ. ३६४

[18]आरामप्रतिमाकूपसंक्रमध्वजसेतुनिपानभङ्गेषु तत्समुत्थानप्रतिसंस्कारोऽष्टशतं च। वि. चि. पृ. १५८, कृ. क.त.पृ, ५६६, वि, रत्ना. पृ. ३६४

[19] या. स्मृ. २/२७८ -२७९, वि. चि. पृ. १५९, कृ. क.त.पृ, ५६७, वि, रत्ना. पृ. ३६६

मनु के अनुसार चहारदीवारी को तोड़ने वाले, खाइयों को पाटने वाले तथा राजद्वार को तोड़ने वाले व्यक्तियों को राजा द्वारा शीघ्र ही देश से निकाल दिया जाना चाहिए

प्राकारस्य च च्छेत्तारं परिखानां च पूरकम्।

द्वाराणां चैव भेत्तारं क्षिप्रमेव प्रमापयेत्॥

इसी प्रकार कात्यायन,[21] विष्णु,[22] शंख[23] आदि ने भी दण्ड का विधान किया है। मनु का मत है कि कपटपूर्ण शासनादेश लिखने वाले, अमात्य आधि को दूषित करने वाले, स्त्री, बालक, तथा ब्राह्मण का वध करने वाले तथा शत्रु की सेवा करने वाले व्यक्तियों को राजा द्वारा मरवा देना चाहिए -

कूटशासनकर्तृश्च प्रकृतीनां च दूषकान्।

बालस्त्रीब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्विटसेविनस्तथा॥[24]

विष्णु ने स्वामी, अमात्य, मित्र, कोश, दण्ड, राष्ट्र, और दुर्ग को प्रकृति कहा है तथा उनको दूषित करने वाले वध के पात्र होते हैं - **स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशदण्डराष्ट्रदुर्गाणि प्रकृतयः। तद्दूकान् हन्यात्।**[25]

---

[20] या. स्मृ.२/२८२, वि. चि. पृ. १५९, कृ. क.त.पृ, ५६७, वि, रत्ना. पृ. ३६६, वि. से. पृ. २५७

[21] राजक्रीडासु ये शक्ता राजवृत्त्युपजीविनः।

अप्रियस्य च वक्तारोवधं तेषां प्रकल्पयेत्॥

प्रतिरूपस्य कर्त्तारः प्रेक्षकाः प्रकराश्च ये।

राजार्थमोषकाश्चैव प्राप्नुयुर्विविधं वधम्॥ वि. चि. पृ. १६१, कृ. क.त.पृ, ५६९, वि, रत्ना. पृ. ३६८-६९

[22] दण्ड्यानुन्मोचयन्दण्डाद्विगुणं दण्डमावहेत्।

नियुक्तश्चाप्यदण्ड्यानां दण्डकारी नराधमः॥ वि. चि. पृ. १६१, कृ. क.त.पृ, ५६९, वि, रत्ना. पृ. ३६८

[23] कूटशासनप्रयोगे राजशासनप्रतिषेधे कूटतुलामानव्यवहारे च शारीरोङ्गच्छेदो वा। वि. चि. पृ. १६२, कृ. क.त.पृ, ५७०, वि, रत्ना. पृ. ३६९

[24]म. स्मृ. ९/२३२, वि. चि. पृ. १६२, कृ. क.त.पृ, ५७०, वि, रत्ना. पृ. ३७०

[25] वि. चि. पृ. १६३, कृ. क.त.पृ, ५७०, वि, रत्ना. पृ. ३७०

नारद के अनुसार यह दण्ड सभी के लिए निर्विशेष रूप में हैं। वध के बिना अन्य दण्ड ब्राह्मण के लिए कहे हैं क्योंकि ब्राह्मण वधयोग्य नहीं है। नारद ने ब्राह्मण के लिए दण्ड का कथन करते हुए कहा है कि ब्राह्मण का सिर मुंडवाना, नगर से निर्वासन, ललाट में अभिशाप का चित्रांकन और गधे के ऊपर बैठाकर घुमाना ये ब्राह्मण के लिए दण्ड हैं -

अविशेषेण सर्वेषामेष दण्डविधि: स्मृत:।

वधादृते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽर्हति॥

शिरसो मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात्।

ललाटे चाऽभिशस्ताङ्क: प्रयाणं गर्दभेन तु॥[26]

यम ने भी ब्राह्मण के लिए शरीर दण्ड का निषेध किया है –

न शरीरो ब्राह्मणे वै दण्डो भवति कर्हिचित्।

गुप्ते तु बन्धने बद्धा राजा भक्तं प्रदापयेत्॥

अथवा बन्धनं रज्ज्वा कर्म वा कारयेन्नृप:।

मासार्द्धमासं कुर्वीत कार्यं विज्ञाय तत्वत:॥

यथाऽपराधं विप्रं तु विकर्माण्यपि कारयेत्।[27]

कात्यायन ने साहस करने वालों की सहायता करने वाले, उसके मार्ग का अनुदेश करने वाले, आश्रय देने वाले, शस्त्र प्रदान करने वाले, भोजन देने वाले, युद्ध का उपदेश करने वाले आदि के लिए उनके कार्य के अनुरूप दण्ड देने का विधान किया है -

आरम्भकृत्सहायाश्च तथा मार्गानुदेशक:।

आश्रय: शस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम्॥

---

[26] ना. स्मृ. ४/१४/९-१०, वि. चि. पृ. १६६, कृ. क.त.पृ, ५७३, वि, रत्ना. पृ. ३७४

[27] वि. चि. पृ. १६६, कृ. क.त.पृ, ५७३, वि, रत्ना. पृ. ३७४

युद्धोपदेशकश्चैव तथा नाशप्रवर्त्तक:।

उपेक्षाकार्ययुक्तश्च दोषवक्तानुमोदक:॥

अनिषेद्धा क्षमो य: स्यात्सर्वे ते कार्यकारिण:।

यथाशक्त्यनुरूपं तु दण्डमेषां प्रकल्पयेत्॥[28]

नारद का कहना है कि जो अकरणीय साहस करके स्वयं आत्मसमर्पण कर देता है और स्वयं अपने किये हुए कार्य को मान लेता है उसको आधा दण्ड देना चाहिए-

अयुक्तं साहसं कृत्वा प्रत्यासत्तिं करोति य:।

ब्रूयात्स्वयं वा सदसि तस्यार्द्धविनय: स्मृत:॥[29]

४.४.३.घातक के अन्वेषण की विधि –

याज्ञवल्क्य ने जिस हत्या के सम्बन्ध में कोई ज्ञान न हो, उसके विषय में हन्ता के अन्वेषण की विधि बताते हुए कहा है कि अज्ञात पुरुष द्वारा मारे गये व्यक्ति के पुत्र, बन्धु तथा जिससे उस व्यक्ति का किसी प्रकार का विवाद रहा हो, उससे पूछना चाहिए। मृत व्यक्ति की व्यभिचारिणी पत्नी से भी पृथक् रूप से पूछना चाहिए। व्यभिचारिणी स्त्री से किस प्रकार पूछना चाहिए उस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का मत है 'क्या वह स्त्री, धन अथवा जीविका की इच्छा वाला था अथवा वह व्यक्ति घर से किस व्यक्ति के साथ अन्यत्र गया था ?' मृत्यु स्थान के निकट रहने वाले व्यक्तियों से भी इस विषय में पूछना चाहिए -

अविज्ञातहतस्याऽशु कलहं सुतबान्धवा: ।

प्रष्टव्या योषितश्चास्य परपुंसि रता: पृथक्॥

स्त्रीद्रव्यवृतिकामो वा केन वायं गत: सह।

तत्प्रदेशसमासन्नं पृच्छेद्वापि जनं शनै:॥

---

[28] वि. चि. पृ. १६७, कृ. क.त.पृ, ५७४, वि, रत्ना. पृ. ३७५, वी. मि. पृ.३९५

[29] ना. स्मृ.४/१/२४५, वि. चि. पृ. १६८, कृ. क.त.पृ, ५७४, वि, रत्ना. पृ. ३७६

वृहस्पति ने भी कहा है कि जहां मृत व्यक्ति ही दिखाई दे लेकिन उसको मारने वाला न दिखाई दे तो पूर्वशत्रुता का अनुमान करके राजा को इसका अन्वेषण करना चाहिए। उसके मित्रों अथवा बन्धुओं से पूछना चाहिए साथ ही राजपुरुषों से भी सामादि उपायों द्वारा पूछना चाहिए। लेकिन यदि इन सबसे पता न चल सके तो दिव्य विधि का प्रयोग करना चाहिए।

हत: सन्दृश्यते यत्र घातकश्च न दृश्यते॥

पूर्ववैरानुमानेन ज्ञातव्य: स महीभुजा।

प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च तस्य मित्राणि बान्धवा:॥

प्रष्टव्या राजपुरुषै: सामादिभिरुपक्रमै:।

विज्ञेयोऽसाधुसंसर्गचिह्नहोढेन वा नर:॥

ऐषादिता घातकानां तस्कराणां च भावना।

गृहीत: शङ्कया यस्तु न तत्कार्यं प्रपद्यते॥

शपथेन विशोद्धव्य: सर्ववादेष्वयं विधि:।[30]

व्यास का मत है कि घातक और उसके सहायक का बन्धुओं सहित सम्यक् ज्ञान हो जाने पर राजा ऐसे व्यक्ति हत्या के चित्र आदि उद्वेगजनक चिह्नों का अंकन कराना चाहिए -

ज्ञात्वा तु घातकं सम्यक्ससहायं सबान्धवम्।

हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेगजनकैर्नृप:॥[31]

इस अध्याय के अन्तर्गत वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेय तथा साहस विवादपदों की समीक्षा प्रस्तुत की गई। किसी व्यक्ति को उद्वेगजनक देश जाति अथवा कुलादि से सम्बन्धी अवद्य वचन कहना वाक्पारुष्य कहलाता है। वाक्पारुष्य निष्ठुर, अश्लील और तीव्र के भेद तीन प्रकार का बताया गया है। इन तीन प्रकार के वाक्पारुष्यों के लिए भिन्न-भिन्न दण्डविधान भी धर्मशास्त्रकारों द्वारा विहित हैं।

---

[30] वि.चि. पृ.१६८-१६९

[31] वि.चि. पृ.१६९

हाथ, पैर अथवा शस्त्रादि से किसी व्यक्ति को मारना दण्डपारुष्य कहलाता है। विविध प्रकार के दण्डपारुष्य के लिए धर्मशास्त्रकारों ने दण्ड का विधान किया है। दण्डविधान अन्य विवादपदों के समान उत्तम वर्ण के लिए न्यून तथा निम्न वर्ण के लिए अधिक बताया गया है। कात्यायनादि ने दण्डपारुष्य में नीचपुरुषों से अर्थदण्ड लेने का निषेध किया है।

स्वामी की अनुमति के बिना उसके द्रव्यादि का हरण करना स्तेय कहलाता है। नारद ने चोरी किये गये द्रव्य के आधार स्तेय के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है- क्षुद्र, मध्यम तथा उत्तम। इनके लिए दण्डव्यवस्था भी पृथक्-पृथक् है। चोर भी दो प्रकार के होते हैं –प्रकाश तथा अप्रकाश। वणिकादि प्रकाश चोर की श्रेणी में आते हैं तथा जो रात्रि आदि में छिपकर सेंधमारी आदि करते हैं अप्रकाश चोर कहलाते हैं। सभी विवादपदों में स्तेय ही ऐसा विवादपद है जिसमें ब्राह्मण वर्ण के लिए निम्न वर्ण से अधिक दण्ड का कथन किया गया है। चोरों को चौरकर्म में सहयोग देने वाले भी चोर के समान दण्डनीय माने जाते हैं।

बलपूर्वक तथा अहंकारवश किसी को पीड़ित करना साहस कहलाता है। वध, स्तेय, परस्त्रीगमन आदि साहस के भेद हैं। मनु, नारद आदि ने साहस की गंभीरता के आधार पर प्रथम, मध्यम तथा उत्तमसाहस की तीन श्रेणियां बताई हैं और इनके लिए दण्ड का विधान भी किया है। यह दण्ड शरीर के किसी अंग को काटने से लेकर वधदण्ड तक हो सकता है। सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुंचाना भी साहस के अन्तर्गत आता है। धर्मशास्त्रों में अपराध करने वाली स्त्रियों के लिए पृथक् दण्ड का विधान किया गया है।

पंचम अध्याय

स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुरुषधर्म, दायविभाग तथा द्यूतसमाह्वय विवादपदों का विमर्श

पंचम अध्याय

स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुरुषधर्म, दायविभाग तथा द्यूतसमाह्वय विवादपदों का विमर्श

५.१. स्त्रीसंग्रहण

मिताक्षराकार ने स्त्रीसंग्रहण का लक्षण करते हुए कहा है – स्त्री और पुरुष का परस्पर संपृक्त होना अर्थात् मिथुनीभाव को प्राप्त करना स्त्रीसंग्रहण कहलाता है – **स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभाव: संग्रहणम्'।**[1] **विवादचिन्तामणि** में संग्रहण की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है - **संग्रहणमिति सम्यग्गृह्यते तदनुरक्तया पमीयते आशयो येन तत्संग्रहणम्।**

वृहस्पति ने तीन प्रकार के स्त्रीसंग्रहण का उल्लेख किया है। उनके अनुसार पापमूलक संग्रहण तीन प्रकार का होता है – बलकृत, उपधिकृत (धोखे से) तथा अनुरागज (कामपिपासा से) -

पापमूल संग्रहण त्रिप्रकार निबोधत।

बलोपधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम्॥[2]

इनमें से बलकृत संग्रहण वह है जिसमें स्त्री की इच्छा के विरुद्ध एकान्त में बलात्कार से संभोग किया जाय अथवा मत्त, प्रमत्त या उन्मत्त स्त्री से अथवा जो स्त्री चिल्ला रही हो ऐसी स्त्री से संभोग किया जाय वह बलकृत संग्रहण है। उपधिकृत संग्रहण में वह है जिसमें कोई स्त्री धोखे से घर बुला ली गई हो अथवा उसे मद्य पिला दिया गया हो अथवा किसी तरीके (वशीकरणमंत्र) से वश में कर ली गई हो ऐसी स्त्री से संभोग किया जाय तथा जिसमें किसी स्त्री को आंख मारकर या दूती भेजकर बुला लिया गया हो अथवा जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे के रूप अथवा धन से आकृष्ट हुए हों तथा संभोग में लिप्त हो गये हों वह अनुरागज संग्रहण कहलाता है –

अनिच्छन्त्या यत् क्रियते मत्तोन्मत्तप्रमत्तया।

---

[1] या. स्मृ.२/२८३ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[2] वी. मि. पृ.३९७

प्रलपन्त्या वा रहसि बलात्कार तु तत्॥

छद्मना गृहमानीय दत्त्वास्या मदकारणम्।

संयोग क्रियते यत्र तत्तूपधिकृत विदु॥

अन्योन्यचक्षुरागेण दूतीसम्प्रेषणेन वा।

कृत रूपार्थलोभेन ज्ञेय तदनुरागजम्॥[3]

इनमें से अनुरागज संग्रहण पुन: तीन प्रकार का होता है –प्रथम मध्यम और उत्तम।[4] व्यास ने भी प्रथम साहस आदि दण्ड की प्राप्ति के लिए तीन प्रकार के संग्रहण का कथन किया है। दूसरे की पत्नी के साथ अनुचित देश अथवा काल, भाषा एवं निर्जन स्थान में रहना, कटाक्ष से देखना तथा हंसना-इनको प्रथमसाहस संग्रहण कहते हैं। सुगन्धित द्रव्य, माला, धूप, आभूषण तथा वस्त्र आदि को स्त्री के पास भेजना मध्यमसाहस कहलाता है। एकान्त स्थान में एक दूसरे का आश्रय लेकर बैठना एवं केशाकेशिग्रहण करना अर्थात् परस्पर एक दूसरे के केशों का ग्रहण करना उत्तम साहस कहलाता है-

संग्रहस्त्रिविध: प्रोक्त: प्रथमो मध्य उत्तम:।

उक्तश्चेति स्वशास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक्॥

अदेशकाले संभाषा अरण्ये च परस्त्रिया:।

अपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं पूर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥

प्रेषणं गन्धमाल्यानां धूपभूषण वाससाम्।

प्रलोभनं चान्नपानैर्मध्यमं साहसं स्मृतम्॥

सहासनं विविक्ते तु परस्परमुपाश्रय:।

केशाकेशिग्रहश्चैव सम्यक् संग्रहणं स्मृतम्॥

वृहस्पति ने प्रथम संग्रह का लक्षण इस प्रकार किया है-

---

[3] वी. मि. पृ.३९७, व्य. नि. पृ. ३९८, कृ.क.त. पृ५७८, वि. रत्ना. पृ.३७८-३७९

[4] तत्पुनस्त्रिविध प्रोक्त प्रथम मध्यमोत्तम्। वी. मि. पृ.३९७

अपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं दूतीसंप्रेषणं तथा।

स्पर्शो भूषणवस्त्राणां प्रथमः सङ्ग्रहः स्मृतः॥[5]

नारद ने भी स्त्रीसंग्रहण का लक्षण विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है।[6] आगे भी नारद का मत है हास-परिहास पूर्वक अंगवस्त्रों का दान और आदान, केलि आभूषणों और वस्त्रों का स्पर्श, एक आसन पर बैठना आदि सब संग्रहण कहलाता है। पुरुष यदि स्त्री को अदेश में स्पर्श करे अथवा स्त्री द्वारा अदेश में किये गये स्पर्श को पुरुष सहता है तो परस्पर अनुमति से किया गया ये व्यवहार भी संग्रहण कहलाता है-

उपकारक्रियाकेलिः स्पर्शो भूषणवाससाम्।

सहशय्यासनञ्चै सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥

स्त्रियं स्पृशत्यदेशे यः स्पृष्टा चामर्षयेत या।

परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥[7]

तथा दर्प, मोह अथवा गर्व से यदि कोई स्वयं कहे कि 'मैंने पूर्व में इसका भोग किया है' तो वह भी संग्रहण कहलाता है। वेणी और वस्त्र के आंचल को हाथ से खींचना 'ठहरो' 'ठहरो' इस प्रकार बोलना भी संग्रहण कहलाता है -

दर्पाद्वा यदि वा मोहाल्ललाघया वा स्वयं वदेत्।

---

[5] वि.चि. पृ. १५०

[6] परस्त्रिया सहाऽकाले अदेशे पुरुषस्य तु।

स्थानसंभाषाऽऽमोदास्त्रयः सङ्ग्रहणक्रमाः॥

नदीनां सङ्गमे तीर्थे आरामेषु वनेषु च।

स्त्रीपुंसौ यत्समीयातां तच्च संग्रहणं स्मृतम्॥

दूतीसम्प्रेषणैर्वापि लेखसम्प्रेषणैरपि।

अन्यैर्वापि व्यभीचारैराद्यं संङ्ग्रहणं स्मृतम्॥ ना. स्मृ. ४/१२/६२-६५

[7] ना. स्मृ.४/१२/६६, ६५

पूर्वं मयेयं भुक्तेति तच्च संग्रहणं स्मृतम्॥

पाणौ यश्चापि गृह्णीयाद्वेश्यां वस्त्रांचलेपि वा।

तिष्ठतिष्ठेति वा ब्रूयात्सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥[8]

मनु ने परस्त्री से संभाषण करने के लिए निवारित किये जाने पर नहीं मानने वालों के लिए दण्ड का विधान किया है। उनके अनुसार प्रतिषेध किए जाने पर दूसरे की स्त्रियों से संभाषण नहीं करना चाहिए। संभाषण करने पर ऐसे व्यक्तियों को सुवर्ण दण्ड से दण्डित करना चाहिए -

न संभाषां परस्त्रीभि: प्रतिषिद्ध: समाचरेत्।

निषिद्धो भापमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति॥[9]

याज्ञवल्क्य के अनुसार पति तथा पिता के द्वारा निषिद्ध पुरुष के साथ वार्तालाप में प्रवृत्त स्त्री को सौ पण तथा पुरुष को दो सौ पण दण्ड देना चाहिए। दोनों के प्रतिषिद्ध व्यक्ति के साथ संभाषण करने पर संग्रहण के लिए जो दण्ड विधान किया गया है वह, देना चाहिए -

स्त्रीनिषेधे शतं दण्ड्यो द्विशतं तु दमं पुमान्।

प्रतिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा ॥[10]

इसी प्रकार विष्णु[11] आदि ने भी स्त्रीसंग्रहण के लिए विविध प्रकार के दण्ड का विधान किया है।

---

[8] ना. स्मृ. ४/१२/६९, ६७

[9] म. स्मृ. ८/३६१

[10] या. स्मृ.२/२८५

[11]येन येनाङ्गेनापराधं कुर्यात्तत्तस्य च्छेत्तव्यमष्टसहस्रं वा दण्डोऽन्यत्र ब्राह्मणाद्दण्ड्यो हि ब्राह्मण:। -वि. चि. पृ. १७८

५.१.१. अभिगमदण्ड –

अभिगम दण्ड के सम्बन्ध में मनु का मत है- इच्छारहित कन्या को यदि तुल्य वर्ण का पुरुष दूषित करता है, तो वह शीघ्र ही वध योग्य है। लेकिन इच्छायुक्त कन्या के साथ गमन करने वाला पुरुष वध के योग्य नहीं है। उच्चवर्ण की कन्या से संभोग करने वाला निम्नवर्ण का पुरुष दण्ड के योग्य होता है। पिता की इच्छानुसार समान वर्ण की कन्या से साथ संभोग करने वाला पुरुष उसके पिता को शुल्क दे सकता है -

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति।

सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः॥

उत्तमां भजमानस्तु जघन्यो वधमर्हति।

शुल्कं दद्यात्सेवमानः सम इच्छेत्पिता यदि॥[12]

नारद के अनुसार कामनायुक्त कन्या के साथ भोग करने वाला पुरुष दोषी नहीं होता परंतु उस पुरुष को कन्या को अलंकृत करके विवाह करना चाहिए-

सकामायां तु कन्यायां सवर्णे नास्त्यतिक्रमः।

किन्त्वलङ्कृत्य सत्कृत्य स एवैनां समुद्वहेत्॥[13]

कन्या का अपहरण करने पर दण्ड –व्यवस्था को बताते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा है – विवाह के लिए प्रस्तुत भूषणालंकृत समान वर्ण की कन्या को अपहृत करने पर उत्तमसाहस का दण्ड देना चाहिए तथा भूषणालंकृत न होने अर्थात् सामान्य कन्या का अपहरण करने पर प्रथम साहस दण्ड देना चाहिए तथा विपरीतवर्ण-क्रम की कन्या का अपहरण करने पर वध दण्ड देना चाहिए। अपहरण करने वाले व्यक्ति के प्रति अभिलाषायुक्त तथा अनुलोम वर्ण की कन्या का अपहरण करने वाला व्यक्ति अपराधी नहीं होता है। लेकिन हरण करने वाले व्यक्ति के प्रति अभिलाषा से रहित होने पर उस व्यक्ति के लिए दण्ड का विधान होना चाहिए। कैसा दण्ड देना चाहिए इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का मत है कि कामनारहित सवर्णा कन्या

---

[12] म. स्मृ.८/३६४-३६६

[13] ना. स्मृ. ४/१२/७२

का बलपूर्वक नख से क्षत करने पर हरण करने वाले व्यक्ति के हाथों का छेदन करना चाहिए तथा उत्तमवर्ण की कन्या का हीनवर्ण के व्यक्ति द्वारा दूषित किया जाने पर उसे वध दण्ड देना चाहिए -

अलङ्कृतां हरन्कन्यामुत्तमं ह्यन्यथाधमम्।

दण्डं दद्यात्सवर्णासु प्रातिलोम्ये वध: स्मृत:॥

सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दम:।

दूषणे तु करच्छेदस्तूत्तमायां वधस्तथा॥[14]

जाति और गुण के अहंकार के कारण पति को तिरस्कृत करने वाले के प्रति मनु का कथन है कि जो स्त्री जाति तथा गुण के दर्प के कारण अपने पति को तिरस्कृत करती है, राजा ऐसी स्त्री को बहुत व्यक्तियों से युक्त स्थान पर कुत्तों से कटवाये-

भर्त्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिबलदर्पिता।

तां श्वभि: खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥[15]

मनु ने ब्राह्मण व्यक्ति के अन्य वर्ण की स्त्री से गमन करने पर दण्ड का विधान करते हुए कहा है कि जो ब्राह्मण असुरक्षित क्षत्रिया अथवा वैश्या या शूद्रा स्त्री से गमन करता है तो उसे पांच सौ पण दण्ड देना चाहिए तथा अन्त्यज स्त्री के समान गमन करने वाला ब्राह्मण एक हजार पण दण्ड के योग्य है -

अगुप्तां क्षत्रियां वैश्यां शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन्।

शतानि पञ्च दण्ड्य:स्यात्सहस्त्रमन्त्यजस्त्रियम्॥[16]

यदि शुद्र वर्ण का व्यक्ति असुरक्षित द्विजाति की स्त्री से गमन करता है तो उसके अंग का छेदन कर उसका सर्वस्व हरण कर लेना चहिए तथा सुरक्षित से गमन करने पर केवल सर्वस्व से हीन करना चाहिए। यदि वैश्य वर्ण का व्यक्ति एक वर्ष तक बन्धन में रखा जाय तो उसका सर्वस्व हरण कर लेना चाहिए। क्षत्रिय के

---

[14] या. स्मृ.२/२८७-२८८

[15] म. स्मृ.८/३७१

[16] म .स्मृ.८/३८५

ऐसा करने पर हजार पण का दण्ड देना चाहिए साथ उसे मूत्र से मुंडवा देना चाहिए। असुरक्षित ब्राह्मणी से गमन करने पर वैश्य को पांच सौ पण तथा क्षत्रिय के गमन करने पर एक हजार पण का दण्ड देना चाहिए। इसी प्रकार का अन्य विधान भी मनुस्मृति में किया गया है-

शूद्रो गुप्तगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमाविशन्।

अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते॥

वैश्य: सहस्रं दण्ड्य:स्यात्संवत्सरनिरोधत:।

सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति॥

ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ।

वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्त्रिणम्॥[17]

वृहस्पति ने स्त्री संग्रहण के संदर्भ में इस प्रकार दण्ड का विधान किया है -

सहसा कामयेद्यस्तु तस्य सर्वहरो दम:।

अङ्कयित्वा भगाङ्केन पुरान्निर्वासयेत्तत:॥

दमोन्तिम: समायां तु हीनायामर्द्धिक: स्मृत:।

पुंस: कार्योधिकायां तु गमनं संप्रमापणम्॥[18]

मनु ने गुरु पत्नी के साथ संभोग करने पर भी दण्ड का विधान करते हुए कहा है कि गुरुपत्नी के साथ संभोग करने पर भोग करने वाले व्यक्ति के मस्तक पर स्त्री –योनि का चित्र अंकित कर देना चाहिए साथ ही सुरापान करने पर सुरापात्र का चिह्न, चोरी करने वाले व्यक्ति पर कुत्ते के पैर का चिह्न, ब्राह्मण की हत्या करने वाले व्यक्ति के मस्तक पर बिना सिर वाले पुरुष का चिह्न अंकित करना चाहिए -

गुरुतल्पे भग: कार्य: सुरापाने सुराध्वज:।

स्तेये च श्वापदं कार्यं ब्रह्महण्यशिरा:पुमान्॥[19]

---

[17] म. स्मृ ८/३७४-३८९

[18] वि.चि. पृ १८२-१८३

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य,[20] नारद,[21] विष्णु,[22] आपस्तम्ब,[23] हारीत,[24] यम,[25] वृहस्पति,[26] कात्यायन,[27] गौतम[28] आदि ने विविध प्रकार के दण्ड का विधान किया है।

---

[19] म .स्मृ. ९/२३७

[20] या. स्मृ.२/२८३-२९४

[21] ना. स्मृ. ४/१२/७३-७६

[22]गोगमने वान्त्यागमने वा वध उत्तमागमने च। -वि.चि. पृ.१८३

[23] नाश्य आर्यस्तु शूद्रायाम्। वध्य: शूद्र आर्यायां दारांश्चास्यापकर्षयेत्। वि.चि. पृ.१८४-१८५

[24]श्रेयस:शयनशायिनं राजा बद्धा श्वभि:खादयेत्।

श्रेयस उत्कृष्टवर्णस्य शयनशायिनं स्त्रीगामिनम्॥ वि.चि. पृ.१८५

[25] शूद्रं तु घातयेद्राजा शयने तप्त आयसे ।

दहेत्पापकृतं तत्र काष्ठै: पर्णैस्तृणैस्तथा॥

वृषलं सेवते या तु ब्राह्मणी मदमोहिता।

तां श्वभि खादयेद्राजा संस्थाने वध्यघातिनाम्॥

वैश्यं वा क्षत्रियं वापि ब्राह्मणी सेवते तु या ।

शिरसो मुण्डनं तस्या प्रयाणं गर्दभेन तु॥

वध्यघातिनां सूनानियुक्तचाण्डालानाम्। वि. चि. पृ.१८५-१८६

[26] वि. चि. पृ.१८६

[27] वि. चि. पृ.१८७

[28]श्वभिस्तु खादयेद्राजा हीनवर्णगमे स्त्रियम्। वि.चि. पृ.१८५

५.१.२. वेश्या से अभिगम का दण्ड-

वेश्या गमन पर याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार दण्ड का विधान करते हुए कहा है कि दासी के साथ बलपूर्वक संभोग करने पर पुरुष को दश पण दण्ड देना चाहिए। कामनारहित दासी से यदि अनेक पुरुष गमन करते हैं तो सभी को प्रत्येकश: चौबीस –चौबीस पण दण्ड देना चाहिए। जो पुरुष अपनी पत्नी के योनि से भिन्न मुखादि में अथवा पुरुष के साथ या सन्यासिनी स्त्री के साथ संभोग करता है उसे चौबीस पण दण्ड देना चाहिए –

प्रसह्य दास्या गमने दण्डो दशपण: स्मृत:।

बहुना यद्यकामाऽसौ चतुर्विंशतिक: पृथक्॥

अयोनौ गच्छतस्तेषां पुरुषं वापि मेहत:।

चत्वारिंशत्पणो दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे॥[29]

नारद ने पशुओं से गमन करने पर सौ पण दण्ड का विधान किया है। गाय से गमन करने पर और चाण्डाली आदि से गमन करने पर मध्यमसाहस का दण्ड देना चाहिए।

पशुयोनावतिक्रामन्विनेय: स दमं शतम्।

मध्यमं साहसं गोषु तदेवान्त्यावसायिषु॥

अतिक्रामन्मैथुनं कुर्वन्पणशतं दण्ड्य:।

सुवर्णं तु भवेद्दण्डयो गां व्रजन्मनुजोत्तम:।

वेश्यागामी द्विजो दण्ड्यो वेश्याशुल्कपणं स्मृतम्।[30]

---

[29] या. स्मृ.२/२९१-२९३

[30] ना. स्मृ.४/१२/७६-७७

५.२. स्त्रीपुरुषधर्म-

जहां स्त्री और पुरुष के परस्पर विवाहादि विधि का प्रतिपादन होता है वह स्त्रीपुरुषधर्म कहलाता है। इस शीर्षक का एक अन्य नाम स्त्रीपुंसयोग भी है। नारदस्मृति में स्त्रीपुरुष धर्म का वर्णन स्त्रीपुंसयोग शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है, जहां इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है –

विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्त्यते।

स्त्रीपुंसयोगनामैतद्विवादपदमुच्यते॥[1]

वीरमित्रोदयकार के अनुसार यहां विवाहादिविधि से स्त्रीपुरुषधर्म का ग्रहण करना चाहिए- **विवाहादिशब्देन स्त्रीपुंधर्मा गृह्यन्ते।**[2] मनुस्मृति[3] में यह प्रकरण 'स्त्रीपुरुषधर्म विभाग' नाम से ही कहा गया है।व्यवहारमयूख,[4] विवादरत्नाकर[5] तथा विवादचिन्तामणि[6] आदि निबन्ध ग्रंथों में भी यह स्त्रीपुरुषधर्म शीर्षक से कथित है। वीरमित्रोदय[7], व्यवहारनिर्णय[8], कृत्यकल्पतरु[9] में इसे स्त्रीपुंसयोग नाम से कहा गया है।

मिताक्षराकार का मत है कि यद्यपि स्त्री और पुरुष अर्थात् पति-पत्नी का परस्पर अर्थी और प्रत्यर्थी के रूप में अर्थात् विवाद को लेकर राजा के समक्ष उपस्थित होना शास्त्रविरुद्ध है, परन्तु प्रत्यक्ष अथवा कर्णपरम्परा

---

[1] ना. स्मृ ४/१२/१

[2] वी. मि. पृ.४०४

[3] म. स्मृ.८/७

[4] व्य. म. पृ.१५५

[5] वि. रत्ना. ४०९

[6] वि. चि. पृ.१८९

[7] वी. मि. पृ.४०४

[8] व्य. नि. पृ.३७५

[9] कृ.क.त. पृ.६०१

के आधार पर उन दोनों के अतिचार का ज्ञान होने पर राजा को दण्डविधान के द्वारा उन दोनों को अपने-अपने धर्म में संबद्ध करना चाहिए - **यद्यपि स्त्रीपुंसयो: परस्परमर्थिप्रत्यर्थितया नृपसमक्षं व्यवहारो निषिद्ध:, तथापि प्रत्यक्षेण कर्णपरम्परया वा विदिते तयो: परस्परातिचारे दण्डादिना दम्पती निजधर्ममार्गे राज्ञा स्थापनीयौ।**[10] स्मृतिकारों ने स्त्रीपुरुष धर्म के सम्बन्ध में अनेक व्यवस्थायें की हैं, जो इस प्रकार हैं –

याज्ञवल्क्य ने स्त्री अस्वतन्त्रता का वर्णन करते हुए कहा है कि- कन्या की रक्षा पिता करे उसके न रहने पर पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र स्त्री की रक्षा करे तथा इन सब के अभाव में सम्बन्धियों द्वारा स्त्री की रक्षा की जानी चाहिए। अत: स्त्रियों के लिए स्वातन्त्र्य का विधान नहीं है –

रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पति: पुत्राश्च वार्द्धके।

अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रिया:॥[11]

वृहस्पति ने भी कहा है - **अप्रयच्छन्पिता काले पतिश्चाऽनुपयन्नृतौ।**

पुत्रश्चाऽभक्तदो मातुर्ह्यो दण्ड्यश्च धर्मत:॥[12]

इसका कारण मनु ने बताते हुए कहा है कि व्यभिचारिणी स्त्रियां न तो सौन्दर्य का परीक्षण करती हैं और न ही आयु की। यह तो रूपवान् हो अथवा कुरूप केवल भोग करती हैं -

नैता रूपं प्रतीक्षन्ते नासां वयसि संस्थिति:।

अरूपं रूपवन्तं वा पुमानित्येव भुञ्जते॥

साशङ्का बालभावे तु यौवनेऽभिमुखी भवेत्।

तृणवन्मन्यते नारी वृद्धभावे स्वकं पतिम्॥

स्वकाम्ये वर्त्तमाना सा स्नेहेन न निवारिता।

अपथ्या तु भवेत्पश्चाद्यथा व्याधिरुपेक्षित:[13]**॥**

---

[10] या. स्मृ. २/२९५ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[11] वि.चि. पृ.१८९

[12] वि.चि. पृ.१८९

मनु ने और भी कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में शय्या, आसन, अलंकार, काम, क्रोध, टेढ़ापन, द्रोहभाव, तथा नीच पुरुष के साथ चर्या को स्त्रियों के लिए बनाये गये हैं

शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम्।

द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत्॥[14]

इस प्रकार पुरुष इनके स्वभाव को जानकर इनकी रक्षा के लिए अत्यधिक प्रयत्न करे –

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम्।

परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति॥[15]

मनु ने इनके लिए दण्ड का भी विधान किया है। उनका मत है कि पिता, आचार्य, मित्र, माता, पत्नी, पुत्र, और पुरोहित यदि अपने धर्म में स्थित न हों तो वे राजा के द्वारा अदण्ड्य नहीं होते अर्थात् इनको भी दण्ड दिया जा सकता है। जहां अन्य सामान्य व्यक्तियों के लिए एक कार्षापण दण्ड हो, वहां राजा तथा ऐसे व्यक्तियों के लिए एक हजार कार्षापण दण्ड देना चाहिए –

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।

नादण्ड्यो नाम राज्ञोस्ति यस्तु धर्मे न तिष्ठति॥[16]

अन्य निबन्ध संग्रहों में इसके बाद स्त्रियों की विवाहयोग्य आयु, वर का चयन, विवाह के प्रकार तथा गुणी स्त्रियों को छोड़ देने पर पति के दण्ड का विधान किया गया है परंतु विवादचिन्तामणि में राजा के दण्ड का विधान कूटसाक्षी के लिए दण्ड आदि का वर्णन किया गया है। यथा – विवादचिन्तामणि में राजा के लिए दण्ड योग्य राशि का विधान करते हुए मनु का मत उद्धृत किया गया है –

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।

---

[13] म. स्मृ.९/१४, वि.चि. पृ.१९०.

[14] म. स्मृ.९/१७

[15] म. स्मृ.९/१६

[16] वि.चि. पृ.१९०

तत्र राजा भवेद्दण्ड्य: सहस्त्रमिति धारणा॥[17]

तत्पश्चात् कूटसाक्षी के लिए दण्ड का विधान करते हुए मनु का मत उद्धृत है -

लोभात्सहस्त्रं दण्डस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।

भयाद्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम्॥

कामाद्दशगुणं प्रोक्तं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।

अज्ञानाद्वे शते पूर्वे बालिश्याच्छतमेव तु॥

एतानाहु: कौटसाक्ष्ये प्रोक्तदण्डान्मनीषिभि:।

धर्मस्याव्यभिचारार्थं स्वधर्मनियमाय च॥

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृप:।

प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत्॥[18]

५.३.दायविभाग

दाय वह धन है जो किसी पुरुष को अपने माता या पिता से प्राप्त होता है। निघण्टु में दाय शब्द का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि मनीषियों ने विभाजन के योग्य पैतृक धन को दाय कहा है –

विभक्तव्यं पितुर्द्रव्यं दायमाहुर्मनीषिण:।[19]

स्मृतिसंग्रह में भी दाय का यही अर्थ किया गया है -

पितृद्वाराऽऽगतं द्रव्यं मातृद्वाराऽऽगतंच यत्।

कथितं दायशब्देन तद्विभागोधुनोच्यते॥[20]

---

[17] वि. चि. पृ.१९०

[18] म. स्मृ.८/१२०-१२३

[19] व्य. म. पृ.५९, स्मृ. च. पृ.५९७, वी. मि. पृ.४११

[20] स्मृ.च. पृ.५९८, व्य. म. पृ.५९

मिताक्षराकार ने दाय का अर्थ करते हुए कहा है कि जो धन स्वामी के साथ सम्बन्ध रूप निमित्त से ही दूसरे का हो जाता है, उसे दाय कहते हैं- **दाय शब्देन यद्धनं स्वामिसंबन्धादेव निमित्तान्यस्य स्वं भवति, तदुच्यते।**[21] व्यवहारमयूखकार ने कहा है –**असंसृष्ट: विभजनीयं धनं दाय:।**[22] स्मृतिचन्द्रिकाकार ने दाय का अर्थ स्पष्ट करने के लिए धारेश्वर का मत भी उद्धृत किया है- **दायशब्देन पितृद्वारा मातृद्वाराऽऽगतं च द्रव्यमेवोच्यते'** और 'च' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह सम्बन्ध्यन्तर द्वारा आगत द्रव्य का भी सूचक है।

विभाग का अर्थ करते हुए मिताक्षराकार ने कहा है कि द्रव्यसमुदायविषयक अनेक व्यक्तियों के स्वत्व को द्रव्यसमुदाय के एकदेश में व्यस्थित कर देने को विभाग कहते हैं अर्थात् जहां द्रव्य भी संख्या में अनेक हों तथा द्रव्य के स्वत्वाधिकारी भी अनेक हों। ऐसी अव्यस्थित स्थिति में स्वत्व को एक धनविशेष में व्यवस्थित कर देना ही विभाग है-**विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्।**[23] इस प्रकार दायभाग अथवा दायविभाग का अर्थ है माता- पिता के धन का पुत्रों द्वारा विभाजन। नारदस्मृति तथा अग्निपुराण में दायभाग का लक्षण करते हुए कहा है – जब पुत्रों के द्वारा पितृसम्बन्धी धन का विभाग किया जाता है, उसको दायभाग कहते हैं –

विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्प्यते।

दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधै:॥[24]

व्यवहारमयूखकार का मत है नारद द्वारा उक्त श्लोक में कथित पुत्र शब्द पौत्र आदि का भी उपलक्षण है इसी प्रकार पित्र्य शब्द पितामहादि का भी उपलक्षक है।

---

[21] या. स्मृ. २/११४ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[22] व्य. म. पृ.५८

[23] या. स्मृ. २/११४ पर मिताक्षरा व्याख्या।

[24] ना.स्मृ. ४/१३/१, कृ.क.त. पृ.६४८, वि.रत्ना. पृ.४५४, वि.से. पृ.४०, वी.मि. पृ.४११, व्य.म. पृ.५९, व्य. नि. पृ.४०६

मिताक्षराकार ने दाय के दो भेद बताये हैं –

i. अप्रतिबन्ध और

ii. सप्रतिबन्ध

इनमें अप्रतिबन्ध दाय वह है जहां पिता तथा पितामह का धन पुत्र अथवा पौत्र को तन्निरूपित सम्बन्धमात्र से ही प्राप्त हो जाता है। सप्रतिबन्ध दाय वह है जहां पुत्र अथवा पौत्र के अभाव में पितृव्य (चाचा) तथा भाई आदि का भी धन भ्रातृपुत्र आदि को प्राप्त हो जाता है। ऐसा तभी हो सकता है जब उस चाचा या भाई का कोई पुत्र न हो। इस प्रकार अप्रतिबन्ध और सप्रतिबन्ध दाय का मुख्य हेतु पुत्राभाव है।

धर्मशास्त्रकारों ने दायभाग के विभागकाल, स्त्रीधन के विभाग, विभाज्यधन तथा अविभाज्यधन, संसृष्ट-विभाग आदि के सम्बन्ध में व्यवस्थायें की हैं जो इस प्रकार है –

५.३.१ पितृधन विभागकाल-

पितृधन विभाग काल का अभिप्राय यह है कि पितृधन के विभाग का उचित समय क्या है? इस सम्बन्ध में मनु ने कहा है – पिता तथा माता की मृत्यु के बाद सभी भाई मिलकर पैतृक सम्पत्ति को बांट सकते हैं क्योंकि पिता की जीवितावस्था में वे इसके स्वामी नहीं थे -

उर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातर: समम्।

भजेरन्पैतृकं ऋक्थमनीशास्ते हि जीवतो:॥[25]

विवादरत्नाकरकार ने इस श्लोक के सम्बन्ध में निम्न टिप्पणी की है – 'समम्' का अर्थ बराबर है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यहां ज्येष्ठ भ्राता के लिए बीसवें भाग को अलग करने की बात नहीं की गई है क्योंकि मनु ने स्वयं यह कहा है कि पिता की मृत्यु के बाद यदि भाईयों में सम्पत्ति का विभाजन किया जाय तो ज्येष्ठ भ्राता के लिए सम्पत्ति का बीसवां अंश अलग रख लिया जाय। तो फिर यहां मनु ने कैसे बराबर बांटने की बात की है। तो इसका उत्तर है कि यह विधान ऐसे ज्येष्ठ भ्राता के लिए जो अधिक गुणवान् हो। उदयकार

---

[25]म.स्मृ.९/१०४, वि. चि. पृ१९३, कृ.क. त. पृ.६४८, स्मृ.च. पृ.५९८, वि.रत्ना.पृ.४५५, वी.मि.पृ.४१४, व्य.म. पृ.५९

ने इसकी व्याख्या बीसवां अंश निकालने के बाद बची सम्पत्ति के बराबर विभाजन के रूप में की है। 'पैतृकम्' शब्द का अर्थ यह लेना चाहिए 'माता च पिता च पितरौ तयो: इदम् पैतृकम्' जिससे माता की सम्पत्ति भी इसमें परिगणित की जा सके। ऐसा हलायुध का मत है। यद्यपि यह सत्य कहा जा सकता है परन्तु माता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार तभी हो सकता है जब कोई पुत्री अथवा पुत्री की सन्तान न हो।[26] व्यवहारमयूखकार ने कहा है कि यहां 'च' की पुनरावृत्ति का यह अर्थ नहीं है कि सम्पत्ति विभाजन से पूर्व दोनों पितरों की मृत्यु होना आवश्यक है।[27] इस श्लोक के सम्बन्ध में विवादचिन्तामणिकार ने निम्न व्याख्या की है –यहां समं का अर्थ तुल्य है। न कि ज्येष्ठ भ्राता के लिए २० प्रतिशत अधिक। जैसा कि मनु ने ज्येष्ठ भ्राता के लिए पिता की मृत्यु के बाद २० प्रतिशत विशेष भाग का अनुमोदन किया है। परंतु यह विधान उस समय के लिए है, जहां ज्येष्ठ भ्राता गुणवान् है तथा उसे २० प्रतिशत उद्धार पाने की विशेष इच्छा है। जिस धन में पिता को स्वातन्त्र्य प्राप्त है उसकी इच्छा से यह विभाग किया जा सकता है। यहां पर पैतृक का अर्थ माता-पिता है। इसलिए माता की सम्पत्ति का विभाजन माता की मृत्यु के बाद ही किया जा सकता है।[28]

नारद ने मातृधन में पुत्री तथा उसकी सन्तान का भाग माना है उनके अनुसार पिता के दिवंगत होने के बाद पुत्र पितृधन को क्रमानुसार लेते हैं तथा माता की मृत्यु के बाद पुत्रियां और पुत्रियों के अभाव में उनकी संतान भाग ग्रहण करते हैं –

पितर्युर्ध्वंगते पुत्रा विभजेयुर्द्धनं पितुः।
मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितृणां तदन्वयः॥[29]

---

[26] वि. रत्ना. पृ.४५५

[27] व्य. म. पृ.५९

[28] वि.चि. पृ.१९३-१९४

[29] ना.स्मृ.४/१३/२, वि.चि. पृ.१९४, कृ.क.त. पृ.६४९, वि.रत्ना. पृ.४५६, वी.मि. पृ.४१४

मनु ने माता के धन में भाई तथा बहनों का समान अधिकार माना है उनके अनुसार माता की मृत्यु के बाद सभी औरस भाई तथा बहनें उसकी सम्पत्ति को बांट लें –

जनन्यां संस्थितयां तु समं सर्वे सहोदरा:।

भजेरन्मातृकं ऋक्थं भगिन्यश्च सनाभय:॥

इस प्रकार पिता की स्वतन्त्र सम्पत्ति का विभाजन उसकी मृत्यु के बाद की जा सकती है परंतु पिता के अक्षम हो जाने पर उसकी जीवितावस्था में भी सम्पत्ति का विभाजन किया जा सकता है इस सम्बन्ध में शंख का मत है – पिता के अत्यन्त वृद्ध हो जाने, चित्तविकृत हो जाने अथवा दीर्घरोगग्रस्त हो जाने की स्थिति में उनकी इच्छा के बिना भी पितृधन का विभाजन किया जा सकता है-

अकामे पितरि ऋक्थविभागो वृद्धे विपरीतचेतसि रोगिणि वा।

पिता के सक्षम होने पर जीवितावस्था में उसकी इच्छा से ही विभाजन किया जा सकता है। अथवा मर जाने के बाद ज्येष्ठ भ्राता के साथ मिलकर अन्य भ्राता निवास करें। इस सम्बन्ध में मनु का मत है ज्येष्ठ पुत्र ही पूर्णतया पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करे। जिस प्रकार पिता के जीवित रहने पर अन्य भाई पिता के साथ जीविकोपार्जन करते थे उसी प्रकार सभी भाई ज्येष्ठ भाई के साथ मिलकर जीविका चलायें -

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषत:।

शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥[30]

नारद का मत है कि ज्येष्ठ भ्राता के अतिरिक्त अन्य भी जो समर्थ है उसके साथ मिलकर रह सकते हैं। उनके अनुसार ज्येष्ठ भ्राता पिता की मृत्यु के बाद पिता की तरह ही सबके भरण-पोषण का दायित्व ले सकता है अथवा भरण-पोषण में समर्थ अन्य कोई कनिष्ठ भ्राता भी ऐसा कर सकता है क्योंकि कुल में शक्त्यानुसार श्रीवृद्धि साधित होती है। अथवा मनु का कथन है कि यदि सभी भाई साथ नहीं रह सकते तो अलग रह सकते हैं। मनु के अनुसार इस प्रकार सभी साथ रहें अथवा धर्म की इच्छा से अलग-अलग रहें। क्योंकि अलग रहने से धर्म बढता है, इसलिए धर्म सम्बन्धी क्रियायें पृथक् ही हों -

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया।

---

[30] म. स्मृ, ९/१०५, कृ.क.त. पृ.६४९, वि.रत्ना. पृ.४५०

पृथग्विवर्द्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया॥[31]

वृहस्पति का भी यही मत है-

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्।

एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद्गृहे गृहे॥[32]

५.३.२. पिता की जीवितावस्था में विभाग-

पिता की जीवितावस्था में दायभाग के सम्बन्ध में नारद का कथन है – माता की रजोधर्मनिवृत्ति के अनन्तर, बहनों के विवाह तथा पिता की रमणनिवृत्ति के पश्चात् और निस्पृहता के कारण धनविभाग किया जा सकता है -

मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च।

निवृत्ते रमणे वापि पितर्युपरतस्पृहे॥[33]

विभाग के प्रकार का निरूपण करते हुए याज्ञवल्क्य का मत है कि पिता स्वेच्छा से यदि विभाजन करे तो अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपनी श्रेष्ठ सम्पत्ति का बीसवां अंश देकर पृथक् करे अथवा सभी पुत्रों को समान अंश देकर विभाजित करना चाहिए -

विभागं चेत्पिता कुर्यात्स्वेच्छया विभजेत्सुतान्।

ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः॥[34]

---

[31] म. स्मृ.९/१११, कृ.क.त. पृ.६५१, वि.रत्ना. पृ.४५९, वी.मि. पृ.४१७, व्य.नि. पृ.४०८

[32] वि.चि. पृ.१९५, कृ.क.त. पृ.६५१, स्मृ.च. पृ.६०७, वि.रत्ना. पृ.४५९, वी.मि. पृ.४११, व्य.नि. पृ.४०८

[33] ना. स्मृ.४/१३/३, वि.चि. पृ.१९५, कृ.क.त. पृ.६५३, स्मृ.च. पृ.६०५, वि.रत्ना. पृ.४६२, व्य.म. पृ.६०, व्य.नि. पृ.४०६

[34] या. स्मृ.२/११४, वि.चि. पृ.१९६, कृ.क.त. पृ.६५४, स्मृ.च. पृ.६०९, वि.रत्ना. पृ.४६४, व्य.म.पृ.६१, व्य.नि.पृ.४०९

विष्णु का मत है कि पिता स्वेच्छा से विभाजन स्वयं द्वारा उपार्जित सम्पत्ति में ही कर सकता है- **पिता चेत्पुत्रान्विभजेत्तस्य स्वयमुपात्तेऽर्थे।'** यहां 'स्वयमुपात्त' का अर्थ स्वयं द्वारा अर्जित सम्पत्ति है अर्थात् जो पैतृक धन का उपयोग किए बिना ही जो धन अर्जित किया जाता है। इस प्रकार पूर्वपुरुष के बिना अर्जित की गई सम्पत्ति में पिता अपनी इच्छा से सम अथवा विषम विभाजन कर सकता है। स्वयं द्वारा अनुपार्जित धन की विभाजन विधि साधारण है। मनु ने भी कहा है – जिस अप्राप्त पैतृक सम्पत्ति को पिता अपने प्रयत्नों से उपार्जित करता है ऐसी सम्पत्ति को न चाहने पर पुत्रों को न बांटे -

पैत्रिकं तु पिता द्रव्यमनवाप्य यदाऽप्नुयात्।

न त्तत्पुत्रैर्भजेत्सार्द्धमकाम: स्वयमर्जितम्॥[35]

यहां पितृसम्पत्ति जो दूसरों द्वारा अपहृत कर ली गई है यदि पिता अपने प्रयत्नों से अर्जित कर लेता है तथा जिसे पिता ने स्वयं अर्जित किया है दोनों में पिता की इच्छा से ही विभाग किया जाना चाहिए ऐसा विवादचिन्तामणिकार का मत है और भी पितामह की अशक्ति के कारण दूसरों के द्वारा अपहृत द्रव्य को यदि पिता अपनी शक्ति से उपार्जित कर लेता है अथवा विद्या तथा शौर्य से धन को प्राप्त करता है तो उसका स्वामी पिता ही होता है ऐसे धन को पिता स्वेच्छा से किसी को प्रदान कर सकता है अथवा उस धन का विभाग कर सकता है उसके अभाव में उसके पुत्र समान अंश ले सकते हैं -

पैतामहं हृतं पित्रा स्वशक्त्या यदुपार्जितम्।

विद्याशौर्यादिना प्राप्तं तत्र स्वाम्यं पितु: स्मृतम्॥

प्रदानं स्वेच्छया कुर्याद्भागं चैव ततो धनात्।

तदभावे तु तनया: समांशा: परिकीत्तिता:॥[36]

---

[35] म. स्मृ.९/२०९, वि.चि.पृ.१९६, कृ.क. त.पृ.६५२, वि.रत्ना.पृ.४६१, व्य.म.पृ.६०

[36] वि.चि.पृ.१९६-९७, कृ.क.त.पृ.६६२-६३, वि.रत्ना.पृ.४६१, व्य.म.पृ.६०, व्य.नि.पृ.४११

इसका अर्थ है कि उपरिवर्णित सम्पत्ति का विभाजन पिता अपनी इच्छा से करने को स्वतन्त्र है वह ज्येष्ठ पुत्र को अधिक भाग दे सकता है अथवा सबको समान अंश दे सकता है। ऐसे ही द्रव्य के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने समान अंश का कथन किया है -

विभागं चेत्पिता कुर्यात्स्वेच्छया विभजेत्सुतान्।

ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्यु: समांशिन:॥[37]

याज्ञवल्क्य ने समविभाग पक्ष में पत्नी के अंश को बताते हुए कहा है- जब पिता अपनी इच्छा से सब पुत्रों को समान अंश देकर विभाग करता है तब उसके जिन पत्नियों को पति अथवा श्वसुर द्वारा स्त्रीधन नहीं प्राप्त हुआ है उनको पुत्रों के समान अर्थात् पुत्रों के बराबर भाग देकर विभाजित करना चहिए –

यदिकुर्यात्समानंशान्पत्न्य: कार्या: समांशिका:।

न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा॥[38]

हारीत ने भी कहा है –**'स्वल्पेन वा विभज्य भूयिष्ठमादाय तिष्ठेत्।यदि उपदश्येत पुनस्तेभ्यो गह्णीयात्॥'** नारद ने भी कहा है कि पिता अपने धन का विभाग करते समय स्वयं के लिए दो भाग ले सकता है तथा पति के मरने के बाद माता पुत्र के समान भाग पा सकती है -

द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभन्नात्मन: पिता।

समांशभागिनी माता पुत्राणां स्यान्मृते पतौ॥[39]

शङ्खलिखित में कहा गया है कि यदि एक ही पुत्र हो तो पिता दो अंश ले सकता है तथा दासों अथवा पशुओं में जो श्रेष्ठ हों उनको ले सकता है- **'स यद्येकपुत्र: स्याद्द्वावंशावात्मन: कुर्याद्विपदचतुष्पदेषुम् रूपमधिकम्। वृषभो ज्येष्ठाय गृहं यवीयसेऽन्यत्र पितुरस्वस्थानात्।'**

---

[37] या.स्मृ. २/११४, वि.चि.पृ.१९६, कृ.क. त.पृ.६५४, स्मृ.च.पृ.६०९, वि.रत्ना.पृ.४६४, व्य.म.पृ.६१, व्य. नि. पृ.४०९

[38] वि.चि.पृ.१९७, कृ.क. त.पृ.६५४, स्मृ.च.पृ.६१३, वि.रत्ना.पृ.४६४-६५, व्य.म.पृ.६२

[39] वि.चि.पृ.१९८, कृ.क. त.पृ.६५४, स्मृ.च.पृ.६११, वि.रत्ना.पृ.४६५, व्य.म.पृ.६१, व्य.नि.पृ.४१४

आपस्तम्ब ने भी कहा है कि ज्येष्ठ पुत्र को संतुष्ट करके शेष को समान भाग प्रदान करे - **एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा जीवत्पुत्रेभ्यो विभजेत्सममम्** क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र ही पिता को प्रतिष्ठित करता है – **सन्तान: पितरश्चैव तस्मिज्ज्येष्ठं प्रतिष्ठितम्।** यहां ज्येष्ठता का अर्थ समान जाति वाली पत्नियों में से जिससे उत्पन्न पुत्र का मुख सबसे पहले देखे वह ज्येष्ठ होता है तथा विभिन्न वर्णों वाली स्त्रियों में श्रेष्ठ वर्ण से बाद में उत्पन्न भी ज्येष्ठ कहलाता है। मनु ने भी कहा है कि समान जाति वाली स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों की ज्येष्ठता जाति की विशेषता होने के कारण जन्म से कही गई है न कि माता के विवाहादि क्रम से -

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषत:।

न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते॥[40]

ज्येष्ठता के सम्बन्ध में मनु का मत है कि जो ज्येष्ठ भ्राता लोभ के कारण अपने कनिष्ठ भ्राताओं को ठगता है वह ज्येष्ठ भ्राता नहीं रह जाता तथा उसे उसका उद्धार (पिता के धन में अधिक भाग) नहीं मिलता तथा वह राजा के द्वारा दण्ड का पात्र होता है –

यो ज्येष्ठा विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातृन्यवीयस:।

सोऽज्येष्ठ: स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभि:।।[41]

मनु ने पुत्रों में विभाजन की विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि पिता की सम्पत्ति में ज्येष्ठ भ्राता का उद्धार (अधिक अंश) बीसवां अंश तथा सभी द्रव्यों में जो श्रेष्ठ हो वह ज्येष्ठ भ्राता का होता है, उस धन का आधा मध्यम भ्राता को तथा उसका भी आधा सबसे कनिष्ठ भाई का होता है -

ज्येष्ठस्य विंश उद्धार: पितृद्रव्याश्च यद्वरम्।

ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयस:॥[42]

---

[40] वि.चि.पृ.१९९-२००, कृ.क. त.पृ.६६०

[41]म.स्मृ.९/२१३, वि.चि.पृ.२००, कृ.क. त.पृ.६६०, वि.रत्ना.पृ.४७८

[42] वि.चि.पृ.२००, कृ.क. त.पृ.६५५, स्मृ.च.पृ.६१९, वि.रत्ना.पृ.४६८, व्य.म.पृ.६१, व्य.नि.पृ.४०९

विवादरत्नाकरकार के अनुसार विशेष भाग ऐसे ज्येष्ठ भाई के लिए है जो गुणों में श्रेष्ठ हों। तथा अन्य सम्पत्तियों में भी जो श्रेष्ठ हो उसे ज्येष्ठ पुत्र ले ले। यदि वस्तु एक है तो उसे तथा जो दश-दश हैं उनमें से श्रेष्ठ को ज्येष्ठ प्राप्त करता है -

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रज:।

यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम्॥[43]

बौधायन ने भी ऐसा ही कहा है -

दशानां चैकमुद्धरेज्ज्येष्ठ: सममितरे विभजेरन्।

पितृरिक्थहरा: पुत्रा: सर्व एव समांशत:॥[44]

देवल का भी यही मत है -

ज्येष्ठस्य दशमं भागं न्यायवृत्तस्य दापयेत्।

वृहस्पति का मत है कि पिता के धन में जो सम, न्यून अथवा अधिक भाग की कल्पना की गई है उसका पालन किया जाना चाहिए अन्यथा दोष लगता है -

समन्यूनाधिका भागा: पित्रा येषां प्रकल्पिता:।

तथैव ते पालनीया: पतितास्ते स्युरन्यथा॥[45]

मनु ने इसका अपवाद भी कहा है उनके अनुसार यदि भाई साथ मिलकर धनोपार्जन करते हों तो पिता किसी भी प्रकार से पुत्रों के बीच अधिक या कम विभाजन न करे -

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह।

न तत्र विपमं भागं पिता कुर्यात्कथञ्चन॥[46]

---

[43] वि.चि.पृ.२००, कृ.क. त.पृ.६५६, वि.रत्ना.पृ.४६९

[44] वि.चि.पृ.२००

[45] वि.चि.पृ.२०१, कृ.क. त.पृ.६५५, स्मृ.च.पृ.६१०, वि.रत्ना.पृ.४६८

[46] वि.चि.पृ.२०१ कृ.क. त.पृ.६५५, वि.रत्ना.पृ.४६८, व्य.नि.पृ.४०८

वृहस्पति का मत है कि जन्म, विद्या तथा गुण में ज्येष्ठ दायाद दो अंश प्राप्त करता है। अन्य समांश के भागी होते हैं - **जन्मविद्यागुणज्येष्ठो द्व्यंशं दायादवाप्नुयात्।**

समांशभागिनस्त्वन्ये तेषां पितृसमस्तु सः॥[47]

और भी कहा गया है – पितृ और रिक्थ में विद्या और कर्मयुक्त को अधिक प्राप्त करने का अधिकार है -

पितृरिक्थहराः पुत्राः सर्व एव यथांशतः।

विद्याकर्मयुतस्तेषाधिकं लब्धुमर्हति॥[48]

व्यास का मत है कि यदि भाईयों में कोई एक धन अथवा शौर्य के बल से वाहन आदि कुछ प्राप्त करता है तो उसे उसका दो अंश देकर शेष भाग को अन्य भाईयों में समान बांटना चाहिए -

साधारणं समाश्रित्य यत्किञ्चिद्वाहनादिकम्।

धनं शौर्यादिनाऽवाप्तं भ्रातरस्तत्र भागिनः॥

तस्य भागद्वयं कार्यं शेषास्तु समभागिनः।[49]

वसिष्ठ ने भी स्वयं उपार्जित करने वाले को दो अंश देने की बात की है -

येन तेषां यत्स्वयमुपार्जितं स तद्वयंशमाहरेत्।

याज्ञवल्क्य ने कुछ स्थानों में समान विभाजन का विधान करते हुए कहा है कि यदि अनेक भाई साथ मिलकर कृषिकार्य अथवा व्यापार के द्वारा सम्पत्ति में वृद्धि करते हैं तो विभाजनकाल में उन भाईयों में समान विभाजन किया जाना चाहिए, अर्जन करने वाले भाई को दो भाग अधिक नहीं मिलना चाहिए। साथ ही पितामह की सम्पत्ति में पौत्रों को पिता के आधार पर अपना भाग प्राप्त होगा ऐसे स्थानों पर पौत्रों की संख्या के आधार पर विभाजन नहीं किया जाना चाहिए-

सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः।

---

[47] वि.चि.पृ.२०१, कृ.क. त.पृ.६६२, स्मृ.च.पृ.६२०, वि.रत्ना.पृ.४८०

[48] वि.चि.पृ.२०१, कृ.क. त.पृ.६६४, स्मृ.च.पृ.६१८, वि.रत्ना.पृ.४८४

[49] वि.चि.पृ.२०१, स्मृ.च.पृ.६४०

अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना॥[50]

नारद का मत है कि कुटुम्ब का हित करने वाले भाई को अन्य भाई भोजन परिधान आदि दें। उनके अनुसार कृषि, वाणिज्यादि के द्वारा कुटुम्ब के लिए हितकारी कार्य करने वाले भाई को अन्य भी मिलकर भोजन, वस्त्र आदि के साथ उस भाई का भार वहन करें -

कुटुम्बार्थेषु यद्युक्तस्तत्कार्यं कुरुते तु यः।

स भ्रातृभिर्बृहणीयो ग्रासाच्छादनवाहनैः॥[51]

जो भाई समर्थ होता हुआ पिता का भाग लेने की इच्छा न करे उसके सम्बन्ध में मनु का कथन है कि भाईयों में अपने कर्मों के द्वारा समर्थ होने वाला भाई यदि पिता के धन में अपना अंश न चाहे तो उसे अन्य भाई अपने-अपने अंश से जीविकोपार्जन के लिए कुछ देकर शेष धन से उसे अलग कर दें -

भातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा।

स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किञ्चिद्दुत्वोपजीवनम्॥[52]

प्रकाशकार ने मनु के इस कथन की व्याख्या इस प्रकार की है- जो पिता के धन में भाग लेने वाला भाई आलस्य आदि के कारण धनोपार्जन नहीं करता तो उसे व्यापार जनित धन से बाहर कर केवल पिता के मूल धन का भाग ही देना चाहिए।

अविभक्त भाई के मृत होने पर उसके पुत्रों में धन विभाग की विधि को बताते हुए कात्यायन ने कहा है कि -

अविभक्ते निजे प्रेते तत्सुतं रिक्थभागिनम्।

कुर्वीत जीवनं येन लब्धं नैव पितामहात्॥

लभेतांशां च पित्र्यं तु पितृव्यात्तस्य वा सुतात्।

स एवांशस्तु सर्वेषां भ्रातृणां न्यायतो भवेत्॥ [53]

---

[50] वि.चि.पृ.२०२, कृ.क. त.पृ.६६२, वि.रत्ना.पृ.४८१

[51] वि.चि.पृ.२०२, कृ.क. त.पृ.६६५, स्मृ.च.पृ.६१८, वी.मि.पृ.४४८, व्य.म.पृ.६१

[52] वि.चि.पृ.२०३, कृ.क. त.पृ.६६५, स्मृ.च.पृ.६१७, वि.रत्ना.पृ.४६५, वी.मि.पृ.४४८, व्य.नि.पृ.४१८

लभेत तत्सुतो वापि निवृति परतो भवेत्।

देवल ने विभाजित होने वाले भाईयों में भाई की विधवा स्त्री जो शंकितपुत्र हो को भी भाग देने को कहा है। उसे पुत्र होने की स्थिति में उस स्त्री का भाग पुत्र को प्राप्त हो जायेगा। पुत्र न होने की स्थिति में वह धन उसके देवरों आदि द्वारा ग्रहण करने योग्य है - **'अथ भ्रातृणां दायभागो याश्चानपत्या: स्त्रियस्तासां चा पुत्रलाभात्।**

वृहस्पति का मत है कि पिता के अभाव में पुत्रवती माता, अपुत्रवती सपत्नी माता इन सबको पुत्र के समान ही भाग प्राप्त होता है। अविवाहित भगिनी विवाह के लिए चौथाई भाग प्राप्त करने की पात्र होती है -

तदभावे तु जननी तनयांशसमांशिनी।

समांशा मातरस्तेषां तुरीयांशा च कन्यका॥[54]

पिता की मृत्यु के पहले जिन भाईयों का संस्कार न हो पाया हो उनके सम्बन्ध में नारद का मत है कि क्रमानुसार पिता के द्वारा जिनका संस्कार न हो पाया हो, पिता की मृत्य के पश्चात् पितृधन से ही असंस्कृत भाईयों का संस्कार करना चाहिए। पितृधन न होने की स्थिति में पूर्वसंस्कृत भाईयों द्वारा अपने-अपने अंश का संग्रह कर असंस्कृत भाईयों का संस्कार अवश्य करना चाहिए -

येषां तु न कृता: पूर्वं सम्स्कारविधय: क्रमात्।

कर्तव्या भ्रातृभि स्तेषां पैतृकादेव तद्धनात्॥

अविद्यमाने पित्रर्थे स्वांशादुद्धृत्य वा पुन:।

अवश्यकार्या: संस्कारा भ्रातृणां पूर्वसस्कृतै:॥[55]

---

[53] वि.चि.पृ.२०३, कृ.क. त.पृ.६६३, स्मृ.च.पृ.६४७, वि.रत्ना.पृ.४८२, वी.मि.पृ.४४९, व्य.म.पृ.६३, व्य.नि. पृ. ४२४

[54] वि.चि.पृ.२०४, कृ.क. त.पृ.६६५, वि.रत्ना.पृ.४८४

[55] वि.चि.पृ.२०५, कृ.क. त.पृ.६७०, स्मृ.च.पृ.६२७,

याज्ञवल्क्य ने पिता की मृत्यु के उपरान्त पुत्रों के विभाजन में माता के लिए पुत्रों के समान भाग ग्रहण करने का विधान किया है - **पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत्।**

कात्यायन ने दायभाग के सम्बन्ध में इस प्रकार की व्यवस्था की है- किसी के द्वारा अवैध रूप से अधिकृत की गई सम्पत्ति पुन: प्राप्त होती है तो उसे सभी भाईयों में समान रूप से बांटना चाहिए। भाई के जीवित न रहने पर उसके पुत्रों में बांटी जाय। अन्य के द्वारा अपहृत द्रव्य अथवा भली प्रकार विभाजित न किये गये द्रव्य को भी पुन: प्राप्तकर समान रूप से विभाजित करना चाहिए।

प्रच्छादितं तु यद्येन पुनरागत्य तत्समम्।

भजेरन्भ्रातृभि: सार्द्धमभावेपि हि तत्सुता:॥

अन्योन्यापहृतं द्रव्यं दुर्विभक्तं च यद्भवेत्।

पश्चात्प्राप्तं विभज्येत समभागेन तद्भृगु:॥[56]

यदि कोई व्यक्ति अविभक्त कुटुम्ब में रहते हुए दूसरे देश चला जाता है उसकी संतानों के लौटने पर उसका तीसरा, पांचवां अथवा सातवां भाग उनके जन्म और नाम के प्रमाणित करने पर अवश्य देना चाहिए-

क्षेत्रं साधारणं कृत्वा योन्यदेशं समाश्रित:।

तद्वंशस्यागतस्यांश: प्रदातव्यो न संशय:॥

तृतीय: पञ्चमो वाऽपि सप्तमो वापि यो भवेत्।

जन्मनामपरिज्ञाने लभेतांशं क्रमागतम्॥[57]

५.३.३. भाग प्राप्त करने के अनधिकारी-

भाग प्राप्त करने के सम्बन्ध में वृहस्पति ने कहा है कि सवर्ण पत्नी से उत्पन्न पुत्र भी यदि गुणवान् न हो तो उसे पैतृक धन में भाग नहीं मिलता। ऐसा धन सम्बन्धियों अथवा श्रोत्रियों को दे देना चाहिए -

सवर्णाजोप्यगुणवान्नार्ह: स्यात्पैतृके धने।

---

[56] वि.चि.पृ.२०५, कृ.क. त.पृ.६९५, वि.से.पृ.८५

[57] वि.चि.पृ.२०५-६

तत्सपिण्डा: श्रोत्रिया ये धनं तेषां विधीयते।[58]

मनु का भी यही मत है - **सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्।**

शंख का मत है कि अत्युत्कट दोष से युक्त सम्बन्धी पितृ,रिक्थ, श्राद्ध और तर्पण के अयोग्य है -

अपपात्रितस्य रिक्थपिण्डोदकानि निवर्त्तन्ते।

मनु ने पैतृक धन पाने के अयोग्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में कहा है जो नपुंसक तथा पतित हों, अथवा जन्म से अन्धे तथा बहरे हों, उन्मत्त, मूर्ख, मूंगे अथवा किसी इन्द्रिय से हीन व्यक्ति भी दायभाग के अयोग्य हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए पिता द्वारा स्वशक्त्यानुसार जीवन –पर्यन्त भोजन तथा वस्त्र आदि देना ही न्यायपूर्ण है। लेकिन यदि ऐसे व्यक्तियों के पुत्र ऐसी हीनताओं से रहित हों तो वे दायभाग के अधिकारी होते हैं -

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा।

उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रिया:॥

सर्वेषामपि तन्न्याय्यं दातुं शक्यं मनीषिणा।

ग्रासाच्छादनमुत्पन्नं पतितो ह्यददद्भवेत्।।

यद्यर्थिता तु दारै: स्यात्क्लेबादीनां कथंचन।

तेषांमुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति॥[59]

याज्ञवल्क्य ने भी यही कहा है कि पतित, पतित से उत्पन्न पुत्र नपुंसक, लंगड़ा, विवेकशून्य, अन्धा, चिकित्सा से ठीक न होने वाले रोगग्रस्त आदि दाय के अधिकारी नहीं होते हैं फिर भी भोजन- वस्त्र आदि के द्वारा भरण-पोषण के योग्य होते हैं -

पतिततस्तत्सुत: क्लीब: पङ्गुरुन्मत्तको जड:।

अन्धोऽचिकित्स्यरोगार्त्तो भर्त्तव्यास्तु निरंशका:॥[60]

---

[58] वि.चि.पृ.२०६, कृ.क.त.पृ.६६६, वि.रत्ना.पृ.४८७, व्य.म.पृ.१०१, व्य.म.पृ.४१९

[59] वि.चि.पृ.२०६-७, कृ.क. त.पृ.६६६, स्मृ.च.पृ.६२९-३१, वि.रत्ना.पृ.४८७, वि.से.पृ.६३, व्य.म.पृ.१०० १०१, व्य.नि.पृ.४१९-२०

लेकिन यदि मूक, बधिरादि का पुत्र इन दोषों से मुक्त है तो दाय का अनधिकारी नहीं है ऐसा याज्ञवल्क्य का मत है। उनके अनुसार क्लीबत्वादि दोष से युक्त व्यक्तियों की संतानें यदि इन दोषों से मुक्त हैं तो वे दाय की अधिकारी होंगी चाहे वे औरस हों अथवा क्षेत्रज। इसके उनकी पुत्रियों का भी विवाहपर्यन्त भरण-पोषण करना चाहिए तथा नपुंसक आदि पुरुषों की पुत्रहीन तथा सदाचारिणी पत्नियों का जीवन-पर्यन्त भरण-पोषण करना चहिए, परंतु व्यभिचार करने वाली अथवा प्रतिकूल आचरण करने वाली स्त्रियों को निर्वासित कर देना चाहिए -

औरसक्षेत्रजास्तेषां निर्दोषा भागहारिण:।

सुतास्त्वेषां प्रभर्त्तव्या यावद्वै भर्तृसात्कृता:॥

सुता: पित्रा प्रभर्त्तव्या निर्दोषा: साधुवृत्तय:।

निर्वास्या व्यभिचारिनण्य: प्रतिकूलास्तथैव च।[61]

नारद ने अन्य व्यक्तियों को भी दाय का अधिकारी नहीं माना है यथा पिता से द्वेष करने वाला, पतित, क्लीब, और उपपातकी औरस पुत्र भी दाय का अधिकारी नहीं है -

पितृद्विट् पतित: पण्दो यश्च स्यादपपात्रित:।

औरसा अपि नैतेंशं लभेरन्क्षेत्रजा:॥ [62]

दीर्घतीव्रामयग्रस्ता जडोन्मत्तान्धपङ्गव:।

भर्त्तव्या: स्यु: कुलस्यैते तत्पुत्रास्त्वंशभागिन:॥[63]

देवल का भी यही मत है - **मृते पितरि न क्लीबकुष्ठ्युन्मत्तजडान्धका:।**

पतित: पतितापत्यं लिङ्गी दायांशभागिन:॥

---

[60] वि.चि.पृ.२०७, कृ.क. त.पृ.६६७, वि.रत्ना.पृ.४८८,

[61] या. स्मृ. २/१४१-१४२, वि.चि.पृ.२०७, कृ.क. त.पृ.६६७-६८, स्मृ.च.पृ.६३४, व्य.म.पृ.१०१

[62] वि.चि.पृ.२०७-२०८, कृ.क. त.पृ.६६८, स्मृ.च.पृ.६२९, वि.से.पृ.६३, व्य.म.पृ.१००

[63] वि.चि.पृ.२०८, व्य.म.पृ.१००,

तेषां पतितवर्जा नां भक्तवस्त्रं प्रदीयते।

तत्पुत्रा: पितृदायांशं लभेरन्दोषवर्जिता:॥[64]

कात्यायन ने भी अनधिकारी के विषय में कहा है -

अक्रमोढासुतश्चै सगोत्रायाश्च जायते।

प्रव्रज्यावसितश्चै न रिक्थ तेषु कर्हिचित्।।[65]

५.३.४. असंस्कृत का संस्कार

पिता की मृत्यु के पहले जिन भाईयों का संस्कार न हो पाया हो उनके सम्बन्ध में नारद का मत है कि क्रमानुसार पिता के द्वारा जिनका संस्कार न हो पाया हो, उसकी मृत्य के पश्चात् पितृधन से ही असंस्कृत भाईयों का संस्कार करना चाहिए। पितृधन न होने की स्थिति में पूर्व संस्कृत भाईयों द्वारा अपने-अपने अंश का संग्रह कर असंस्कृत भाईयों का संस्कार अवश्य करना चाहिए -

येषां तु न कृता:संस्कारविधय: पूर्व क्रमात्।

कर्तव्या भ्रातृभि स्तेषां पैतृकादेव तद्धनात्॥

अविद्यमाने पित्रर्थे स्वांशादुद्धृत्य वा पुन:।

अवश्यकार्या: संस्कारा भ्रातृभि: पूर्वसंस्कृतै:॥[66]

व्यास का भी यही मत है -

असंस्कृतास्तु ये तत्र पैतृकादेव तद्धनात्।

संस्कार्या भ्रातृभिर्ज्येष्ठै: कन्यकाश्च यथाविधि॥[67]

---

[64] वि.चि.पृ.२०८, कृ.क. त.पृ.६६८, स्मृ.च.पृ.६२८, वि.से.पृ.६३, व्य.म.पृ.१०१, व्य.नि.पृ.४२१

[65] वि.चि.पृ.२०८, कृ.क. त.पृ.६६९, स्मृ.च.पृ.६३०, वि.रत्ना.पृ.४९१, वि.से.पृ.६३, व्य.म.पृ.१००

[66] कृ.क. त.पृ.६७०, स्मृ.च.पृ.६२७, वि.से.पृ.७८, वी.मि.पृ.४५७, व्य.नि.पृ.४१७

[67] वि.चि.पृ.२०९, वि.रत्ना.पृ.४९३, व्य.नि.पृ.४१७

याज्ञवल्क्य ने असंस्कृत भगिनी के विषय में विशेष व्यवस्था करते हुए कहा है –पिता की मृत्यु के पूर्व जिन भाईयों का यज्ञोपवीत आदि संस्कार हो न हुआ हो तो पूर्व संस्कृत भाई उनका संस्कार करें तथा जिन बहनों का भी विवाहादि न हुआ हो उनका संस्कार अपने –अपने भाग के चतुर्थांश को देकर करें -

असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभि: पूर्वसंस्कृतै:।

भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम्॥[68]

मनु ने कन्याओं को चतुर्थांश न देने वाले भाईयों के लिए पतित होने की बात कही है –

स्वेभ्य: स्वेभ्यस्तु कन्याभ्य: प्रदद्युर्भ्रातर: पृथक्।

स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिता: स्युरदित्सव:॥[69]

विवादचिन्तामणिकार का यहां मत है कि प्रत्येक पुत्री सवर्ण पुत्र के भाग का चौथा अंश प्राप्त करे। यहां चतुर्थांश देना मुख्य विषय नहीं है बल्कि यह मुख्य विषय है कि उतना भाग बहन के विवाह के लिए पर्याप्त हो। वीरमित्रोदयकार का मत है कि इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक भाई बहन को चतुर्थांश दे क्योंकि ऐसा करने से अनेक भाई होने पर अकेली बहन को बहुत सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी अथवा कई बहनों के एक भाई होने की स्थिति में भाई के पास कुछ बचेगा ही नहीं इसलिए इसका अभिप्राय यह है कि भाई बहन के विवाह के लिए पर्याप्त धन दे।

५.३.५. विभाज्य सपत्ति

पितामह तथा पिता द्वारा जो कुछ स्वयं अर्जित किया जाता है दायादों द्वारा वह सम्पूर्ण विभाजन के योग्य है - **पैतामहं च पित्र्यं च यत्किञ्चित्स्वयमर्जितम्।**

दायादानां विभागे तु सर्वमेतद्विभजते॥[70]

---

[68] वि.चि.पृ.२०९, कृ.क. त.पृ.६७१, वि.रत्ना.पृ.४९३, व्य.म.पृ.६६, व्य.नि.पृ.४१७

[69] वि.चि.पृ.२०९-१०, कृ.क. त.पृ.६७१, स्मृ.च.पृ.६४७, वि.रत्ना.पृ.४८२, वी.मि.पृ.४४९, व्य.म.पृ.६३, व्य. नि. पृ.४२४

[70] वि. चि. पृ.२१०

नारद का मत है कि पिता के दाय से अवशिष्ट तथा पितृऋण के परिशोधन के अनन्तर बचे धन को भाईयों को बांटना चाहिए जिससे पिता ऋणी न रहे -

यच्छिष्टं पितृदायेभ्यो यद्दतं पैतृकं च यत्।

भातृभिस्तद्विभक्तव्यमृणी स्यादन्यथा पिता॥[71]

५.३.६.अविभाज्य सम्पत्ति

अविभाज्य सम्पत्ति वह है जिसका दायादों में विभाजन नहीं किया जा सकता। मनु ने ऐसी सम्पत्ति के विषय में कहा है – विद्या द्वारा अर्जित, मित्र से प्राप्त, विवाह तथा मधुपर्क (जो मधु-मिश्रण की आहुति के समय आदरसूचक रूप में प्राप्त होता है) द्वारा प्राप्त धन का विभाजन नहीं किया जा सकता तथा पिता के धन को क्षीण न करता हुआ, परिश्रम से अर्जित किये गये जिस धन को व्यक्ति स्वेच्छा से प्राप्त करता है, ऐसे धन को बिना इच्छा के विभाजित न करे -

विद्याधनं यु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत्।

मैत्रमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च॥

अनुपघ्नन्पि तृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम्।

स्वयमीहितलब्धं च नाकामो दातुमर्हति॥[72]

व्यास के अनुसार पितामह द्वारा दत्त तथा पिता द्वारा प्रीतिपूर्वक दिया गया तथा माता द्वारा दिया गया धन अपहर्त्तव्य नहीं है तथा पिता के धन का आश्रय लिये बिना जो धन अपनी शक्ति से अर्जित किया गया है तथा विद्या द्वारा प्राप्त धन दायादों को नहीं देना चाहिए अर्थात् इनका विभाजन नहीं करना चाहिए -

पितामहेन यद्दत्तम् पित्रा वा प्रीतिपूर्वकम्।

तस्य तन्नापहर्त्तव्यं मात्रा दत्तं च यद्भवेत्॥

अनाश्रित्य पितृद्रव्यं स्वशक्त्याप्नोति यद्धनम्।

---

[71] ना .स्मृ.४/१३/३२

[72] म. स्मृ.९/२०६-२०८

दायोदेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च।[73]

प्रकाशकार का मत है कि विद्या द्वारा भी अर्जित धन से अभिप्राय यहां ऐसे धन से है जो साधारण धन के उपयोग के बिना अर्जित किया हुआ हो। नारद ने भी कहा है कोई विद्वान् भ्राता अपने अविद्वान् भ्राता को बिना इच्छा के विद्या द्वारा अर्जित धन नहीं देता है यदि वह विद्याधन पितृधन की सहायता के बिना अर्जित किया गया है -

"वैद्योऽविद्याय नाऽकामो दद्यादंशं स्वतो धनात्।

पित्र्यं द्रव्यं समाश्रित्य न चेत्तेन तदा कृतम्॥"[74]

इस प्रकार नारद के कथन का अर्थ है कि जहां पितृधन का उपयोग करके विद्या अर्जित की गई है वहां विद्या द्वारा अर्जित धन का विभाजन किया जाना चाहिए, अन्यथा नहीं।

कात्यायन ने अविभाज्य विद्याधन का स्वरूप इस प्रकार बताया है – पिता आदि कुटुम्ब से भिन्न व्यक्ति के द्वारा दत्त भोजन आदि के द्वारा प्राप्त विद्या अथवा अन्य किसी प्रकार से प्राप्त विद्या जिसमें परिवार के किसी भी सदस्य के धन के उपयोग न हुआ हो। इस प्रकार की विद्या से प्राप्त धन विद्याधन कहलाता है।

परभक्तप्रदानेन प्राप्तविद्यो यदन्यत:।

तया प्राप्तं तु यद्वित्तं विद्याप्राप्तं तदुच्यते॥[75]

५.३.७.स्त्रीधन का विभाग –

मनु के अनुसार माता की मृत्यु के पश्चात् सभी औरस भाई तथा सगी बहनें को माता की सम्पत्ति बांटनी चाहिए। पुत्रियों की पुत्रियों को भी नानी के धन में से यथायोग्य कुछ धन प्रेमपूर्वक देना चाहिए-

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदरा:।

भजेरन्मातृकं ऋक्थं भगिन्यश्च सनाभय:।

---

[73] वि.चि. पृ.२११

[74] वि.चि. पृ.२११

[75] वि.चि. पृ.२१२

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथांशत:।

मातामह्या धनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥[76]

मनु ने अन्य स्थान पर कहा है कि माता के दहेजरूप में प्राप्त धन की अधिकारिणी कुमारी पुत्री होती है और दहेज ऐसा धन होता है जो विवाह के समय पिता द्वारा पुत्री को प्राप्त होता है -

मातुश्च यौतुकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव स:।

यौतुकं विवाहकाले पित्रादितो लब्धम्॥[77]

५.३.८.अपुत्र के धन का अधिकारी-

विष्णु ने पुत्ररहित व्यक्ति के धन के अधिकारियों का क्रम इस प्रकार बताया है –**अनपत्यस्य धनं पत्न्यगामि तदभावे दुहितृगामि तदभावे मातृगामि तदभावे पितृगामि तदभावे भ्रातृगामि तदभावे बन्धुगामि तदभावे सकुल्यगामि तदभावे सहाध्यायगामि तदभावे ब्राह्मणधनवर्जं राजगामि।**

वृहस्पति ने सकुल्य के अविद्यमान रहने पर अपुत्र व्यक्ति के धन का अधिकारी पत्नी को माना है।[78]याज्ञवल्क्य ने विष्णु के समान ही पत्नी, पुत्री, पिता, भ्राता को क्रमश: अपुत्र व्यक्ति के धन का अधिकारी माना है।[79]

नारद के अनुसार पुत्र के अभाव में पुत्री पुत्र के समान होती है क्योंकि पुत्र और कन्या पिता की ही सन्तान हैं।[80] मनु ने भी कहा है नि:संतान पुत्र की सम्पत्ति को माता प्राप्त करती है तथा माता की मृत्यु के पश्चात् पिता की माता उस धन की अधिकारिणी होती है। मनु ने भी पुत्री को पुत्र के समान माना है उनके अनुसार तो अपनी आत्मा के समान है वैसे ही पुत्री भी पुत्र के समान है। उस आत्मपुत्री के होते हुए अन्य कोई

---

[76] म. स्मृ.९/१९२-१९३

[77] म. स्मृ.९/१३१

[78] वि.चि. पृ.२३६

[79]या. स्मृ. २/१३५-१३६

[80] ना. स्मृ.४/१३/५०

पिता का धन नहीं ले सकता। तत्पश्चात् मनु ने आगे कहा है कि नाती को ही पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति लेना चाहिए। वह ही पिता और नाना के लिए दो पिण्ड दे –

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।

मातुर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता धनं हरेत्॥

यथैवात्मा तथा पुत्र: पुत्रेण दुहिता समा।

तस्यामात्मनि जीवन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत्।

स एव दद्याद्वौ पिण्डौ पित्रे मातासहाय च॥[81]

प्राय: सभी स्मृतिकारों ने ब्राह्मण के धन का राजा द्वारा हरण का निषेध किया है। मनु के अनुसार सम्पत्ति के अधिकारियों के अभाव में राजा के द्वारा ब्राह्मण की सम्पत्ति नहीं लेना चाहिए। अन्य वर्णों की सम्पत्ति को राजा अधिकारी के अभाव में ले सकता है

अहार्यं ब्राह्मणंद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थिति:।

इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृप:॥[82]

५.३.९.संसृष्टविभाग-

वृहस्पति के अनुसार विभक्त होने पर भी पुन: पिता और भाई प्रीतिपूर्वक एक साथ रहते हैं, वह संसृष्ट कहलाता है-

विभक्तो य: पुन: पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थित:।

पितृव्येणाऽथ वा प्रीत्या स तु संसृष्ट उच्यते॥[83]

---

[81] म. स्मृ. ९/१३५-१३८

[82] म. स्मृ.९/१८९

[83] वि.चि. पृ.२४४-२४५

याज्ञवल्क्य ने संसृष्ट का लक्षण करते हुए कहा है कि विभक्त हो जाने पश्चात् पुनः प्रीति के कारण जो साथ रहने लगते हैं, वे संसृष्ट शब्द से उक्त होते हैं। पुत्र के अभाव में संसृष्टी का धन संसृष्टी को ही ग्रहण करना चाहिए। जब समानोदर और भिन्नोदर का संसर्ग हुआ हो, तो ऐसी परिस्थिति में संसृष्ट सहोदर का द्रव्य संसृष्ट सहोदर ही ग्रहण करता है। यदि व्यक्ति संसृष्ट होने के पहले पुत्ररहित हो तथा पत्नी के गर्भधारण का ज्ञान न हो तथा उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाये, तो मरने के बाद उत्पन्न होने वाले पुत्र को उसका भाग देना चाहिए। पुत्र न होने की स्थिति में उस मृत व्यक्ति का धन संसृष्टी ही ग्रहण करते हैं-

संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः।

दद्याच्चापहरेदंशं जातस्य च मृतस्य च॥[84]

इसी प्रकार नारद तथा कात्यायन[85] आदि ने भी कहा है-

संसृष्टानां तु यो भागस्तेषामेव स इष्यते।

अतोन्यथांशभाजस्तु निर्बीजेष्वितरानियात्॥[86]

५.३.१०. विभागनिर्णय –

विभाग निर्णय के सम्बन्ध में नारद का मत है कि दाय के विषय में सन्देह की स्थिति में भाग और लिखित प्रमाण के द्वारा ज्ञातियों को बुलाकर पृथक् कार्य करना चाहिए। अविभक्त अवस्था में भाईयों का एक ही धर्म होता है, परंतु विभाग के पश्चात् उनका परिवारधर्म पृथक्-पृथक् हो जाता है। दान, ग्रहण, पशु, अन्न, गृह, क्षेत्र, परिग्रह, पाककर्म, लिखित प्रमाण और व्यय विभक्त भाईयों का पृथक्-पृथक् होता है। विभक्त भ्राता साझेदार, जामिनदार, दाता और प्रतिग्रहीता हो सकते हैं किन्तु अविभक्त अवस्था में नहीं। ये क्रियायें जिन भाईयों के बीच होती हैं उनको निश्चित रूप से विभक्त भाई कहा जाता है।[87]

---

[84] या. स्मृ.१३७

[85] वि.चि. पृ.२५०

[86] ना. स्मृ.४/१३/४४

[87] ना. स्मृ.४/१३/३०-४०

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि विभाजन के पश्चात् किसी प्रकार का सन्देह होने पर सजातीय व्यक्ति, अपने बन्धुओं, पितृबन्धुओं, मातृबन्धुओं, साक्षी तथा विभागपत्र के द्वारा पृथक्-पृथक् पञ्चमहायज्ञ आदि के धर्मानुष्ठान तथा पृथक्-पृथक् कृष्यादि कर्म करने विभाग को जानना चाहिए। इन क्रियाओं का अलग-अलग सम्पादन करने पर विभाग को जाना जा सकता है क्योंकि विभाजन होने पर ही ये क्रियायें पृथक् की जाती हैं-

विभागस्य तु सन्देहे ज्ञातिसाक्ष्यादिलेख्यकैः।

विभागभावना ज्ञेया गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः॥[88]

[88] या. स्मृ.१४९

५.४. द्यूतसमाह्वय -

नारदस्मृति में द्यूतसमाह्वय का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जो अक्ष, चर्म पट्टिका और हस्तिदन्त निर्मित शलाका खण्डों से खेला जाता है और जो पणपूर्वक होता है अर्थात् जिसमें बाजी लगाई जाती है,ऐसे खेल को द्यूत कहते हैं तथा जिस खेल में जीवों यथा - कबूतर, भेड़, मुर्गे आदि की लड़ाई होती है और साथ ही बाजी भी लगाए जाती है ऐसा खेल समाह्वय कहलाता है –

अक्षवध्रशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम्।

पणक्रीड़ा वयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वय॥[1]

मनु के अनुसार जो प्राणयुक्त जीवों से नहीं खेला जाता है वह द्यूत कहलाता है तथा जो प्राणियों के माध्यम से खेला जाता है वह समाह्वय है

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।

प्राणभि: क्रियते यस्तु स विज्ञेय: समाह्वय:॥[2]

इस प्रकार मनु और नारद द्वारा किया गया द्यूत समाह्वय का लक्षण समान ही है जहां मनु ने केवल अप्राणिभि: शब्द का प्रयोग किया है वहां नारद ने अप्राणि के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं को भी बता दिया है। मनुस्मृति के टीकाकारों और अन्य निबन्धकारों ने मनुस्मृति के इस श्लोक की व्याख्या अधोलिखित प्रकार से की है- कुल्लूकभट्ट के अनुसार पांसों, शलाका आदि प्राणरहित वस्तुओं के साथ खेले जाने वाले खेल को द्यूत कहा जाता है। इस प्रकार कुल्लूकभट्ट ने 'अप्राणिभि:' का अर्थ पांसा, शलाका आदि वस्तु बताया है। इसी प्रकार विवादरत्नाकर में अप्राणिभि: का अर्थ अक्ष चमड़े की गोली, लाठी आदि किया है। वीरमित्रोदयकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि द्यूत और समाह्वय ऐसा कर्म है जिसमें शर्त लगी होती है। जहां शर्त नहीं लगी होती है वह समाज में निषिद्ध नहीं है। इस

---

[1] ना. स्मृ.४/१६/१

[2] म.स्मृ. ९/२२३, वि. चि. पृ. २५८, कृ. क. त. पृ. ७६१, स्मृ. च. पृ. ७६८, वि. रत्ना. पृ. ६१०, वि. से. पृ. २८८, वी. मि. पृ. ५६५, व्य. नि. पृ. ४७८

प्रकार कोई खेल द्यूतसमाह्वय तभी कहलायेगा जब वह पणपूर्वक किया गया हो। नारद और मनु के समान ही वृहस्पति ने भी द्यूत समाह्वय का लक्षण किया है –

अन्योन्यं परिगृहीता पक्षिमेषमृगादय:।

प्रहरन्ते कृतपणास्तं वदन्ति समाह्वयम्॥ [3]

धर्मशास्त्रकारों ने द्यूतसमाह्वय को निन्दित कार्य माना है। अत: राजा को इस प्रकार के कार्यों की समाप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। मनु के अनुसार द्यूत और समाह्वय प्रकाशरूप में तस्कर है। अत: इन दोनों की समाप्ति के लिए राजा को प्रयत्नशील रहना चाहिए तथा साथ ही जो जुआ तथा समाह्वय खेलते हैं, राजा द्वारा उन सभी द्विज चिह्नधारी शूद्रों को वध दण्ड देना चाहिए-

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ।

तयोर्नित्यं प्रतिघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत्॥

द्यूतं समाह्वयं चैव य: कुर्याद्यश्च कारयेत्।

तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिन:॥ [4]

कात्यायन ने द्यूत को क्रोध और लोभ को बढ़ाने वाला, असाधुता का जनक, द्रव्य का नाशक आदि माना है इसलिए राजा को इस व्यसन से निवृति का उपाय करना चाहिए।[5] लेकिन वृहस्पति का मत

---

[3] वि. चि. पृ. २५८, कृ. क. त. पृ. ७६१, वि. रत्ना. पृ. ६१०, वि. से. पृ. २८८, व्य. नि. पृ. ४७८

[4] म. स्मृ.९/२२२, २२४, वि.चि. पृ. २५८, कृ.क.त. पृ. ७६२, स्मृ. च. पृ. ७६८. वि. रत्ना. पृ. ६११, वि. से. पृ. २८८-२८९, वी. मि. पृ. ५६८,

[5] द्यूतं नैव तु सेवेत क्रोधलोभविवर्द्धितम्।

असाधुजननं क्रूरं नराणां द्रव्यनाशनम्॥

ध्रुवं द्यूतात्कलिर्यस्माद्विषं सर्पमुखादिव।

तस्माद्राजा निवर्त्तेत विषये व्यसनं हि तत्॥ -वि. चि. पृ. २५९, कृ. क. त. पृ. ७६२-६३, वि. रत्ना. पृ. ६११, व्य. नि. पृ. ४७९

इसके विरुद्ध है उनका मत है कि सत्य, शौच और धन की सुरक्षा के लिए द्यूत मनु द्वारा निषिद्ध किया गया है, किन्तु अन्य लोगों ने द्यूत को निषिद्ध नहीं माना है क्योंकि इससे चोरों का पता चलता है –

द्यूतं निषिद्धं मनुना सत्यशौचधनापहम्।

तत्प्रवर्त्तितमन्यैश्च राजभागसमन्वितम्।

सभिकाधिष्ठितं कार्यं तस्करज्ञापकं हि तत्॥[6]

याज्ञवल्क्य का भी यही मत है कि द्यूतक्रीडा से चोरों का पता चलता है अत: राजा के द्वारा नियुक्त अध्यक्ष की अध्यक्षता में द्यूतक्रीडा अवश्य करना चाहिए -

द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात्।

एष एव विधिर्ज्ञेय: प्राणिद्यूते समाह्वये॥[7]

धर्मशास्त्रकारों ने द्यूतक्रीडा करने वालों के लिए दण्ड का विधान किया है। नारद के अनुसार कपट करने वालों को द्यूतस्थान से निकाल देना चाहिए -

अनिर्दिष्टस्तु यो राज्ञा द्यूतं कुर्वीत मानव:।

न स तं प्राप्नुयात्कामं विनयं चैव सोर्हति॥

विष्णु ने द्यूतसमाह्वय के लिए दण्ड का विधान अधोलिखित प्रकार से किया है - **कूटाक्षदेविनां करच्छेद:। उपधिदेविनां सन्दंशच्छेद:। उपधिश्छद्म। संदंशोऽङ्गुष्ठतर्जन्यौ॥** याज्ञवल्क्य का मत है कि राजा को कपटपूर्वक पाशप्रयोग करने वाले तथा छल, बुद्धि वैपरीत्य सम्पादक मणि आदि के प्रयोग से मति की वञ्चना करके द्यूतक्रीडा करने वाले व्यक्तियों को श्वपदादिचिह्न से अंकित करके अपने राष्ट्र से निकाल देना चाहिए-

राज्ञा सचिह्ना निर्वास्या: कूटाक्षोपधिदेविन:।[8]

---

[6] वि. चि. पृ. २५९, कृ.क. त. पृ. ७६३, स्मृ. च. पृ. ७६९. वि. रत्ना. पृ. ६११-१२, वि. से. पृ. २८९, वी. मि. पृ. ५६८, व्य. नि. पृ. ४८०

[7] वि. चि. पृ. २५९, कृ.क. त. पृ. ७६३, वि. रत्ना. पृ. ६१२, वि. से. पृ. २८९, व्य. नि. पृ. ४८१

[8] या. स्मृ.२/२०२, वि.चि. पृ.२६०, कृ.क. त. पृ. ७६८, वि. रत्ना. पृ. ६१७, व्य. नि. पृ. ४८२

कात्यायन ने कहा है कि राजा द्वारा प्रवर्तित धर्म का पालन न करने वाला व्यक्ति निन्दनीय, पापी और दण्डित करने योग्य है-

राज्ञा प्रवर्त्तितान्धर्मान्यो नरो नानुपालयेत्।

गर्ह्यः स पापो दण्ड्यश्च लोपयन्राजशासनम्॥[9]

स्त्री और पुरुष का परस्पर मिथुनी को प्राप्त होना स्त्रीसंग्रहण है। यह संग्रहण प्रथम, मध्यम तथा उत्तम के भेद से तीन प्रकार का होता है तथा इन तीनों के लिए प्रथम, मध्यम तथा उत्तमसाहस दण्ड का विधान धर्मशास्त्रकारों ने किया है। इच्छारहित कन्या से संग्रहण पर उत्तमसाहस दण्ड विहित है, परंतु कुछ स्थानों पर दण्ड का निषेध भी किया गया है यथा कामनायुक्त कन्या के साथ भोग करने वाले पुरुष को दोषी नहीं माना गया है। नारद, वृहस्पति, कात्यायन आदि ने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

स्त्री पुरुष के परस्पर विवाहादि विधि का वर्णन स्त्रीपुरुष धर्म शीर्षक के अन्तर्गत किया जाता है। सभी धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री की अस्वतंत्रता का प्रतिपादन किया है तथा अस्वातंत्र्य का उल्लंघन करने वाली स्त्रियों के लिए दण्ड का विधान भी किया है।

धर्मशास्त्रीय परंपरा में दायभाग एक प्रमुख विषय माना जाता है। इस विवादपद को विषय बनाकर अनेक स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना निबन्धकारों ने की है यथा दायभागादि। दाय वह धन होता है जो किसी पुरुष को अपने माता-पिता से प्राप्त होता है। मिताक्षराकार के मत से दाय दो प्रकार का होता है– अप्रतिबन्ध और सप्रतिबन्ध। धर्मशास्त्रकारों ने पिता के धन का विभागकाल भी बताया है कि पुत्रों द्वारा पिता का धन कब विभाजित किया जाना चहिए। पिता की मृत्यु के उपरान्त धन का विभाग उपयुक्त माना गया है, परंतु पिता के अत्यधिक वृद्ध हो जाने विकृतचित्त हो जाने की स्थिति में पिता की जीवितावस्था में ही विभाग किया जा सकता है। मनु आदि ने पिता के धन ज्येष्ठ गुणवान् पुत्र को अधिक भाग देने का विधान किया है लेकिन ऐसा तभी करना चाहिए जब ज्येष्ठ पुत्र इसकी कामना करता हो। स्मृतियों में स्त्रीधन के विभाग का निषेध किया गया है तथा यह विहित है माता की मृत्यु हो जाने पर स्त्रीधन का प्रथम अधिकार उसकी पुत्रियों का होता है। मनु आदि ने मूक, बधिर आदि

---

[9] वि. चि. पृ. २६०, कृ. क. त. पृ. ७६१, वि. से. पृ. २९०

व्यक्तियों को दाय का अनधिकारी माना है। धर्मशास्त्रकारों ने विभाजन योग्य तथा अविभाज्य सम्पत्ति का भी कथन करते हुए कहा है कि स्वयं द्वारा अर्जित सम्पत्ति ही विभाज्य है तथा विद्यार्जित तथा सुहृद् आदि से प्राप्त सम्पत्ति विभाजन योग्य नहीं है।

पांसा आदि खेलना तथा पशु-पक्षियों को लड़ाना द्यूतसमाह्वय कहलाता है। द्यूत तथा समाह्वय सदा से गर्हित विषय रहा है। इसी कारण सभी धर्मशास्त्रकारों ने इसके लिए दण्ड का विधान किया है, परन्तु याज्ञवल्क्य और वृहस्पति ने चोरों को पकड़ने के लिए , क्योंकि चोर आदि ऐसे स्थानों पर अपना आश्रय लेते हैं इसलिए सीमित रूप से द्यूत समाह्वय की अनुमति प्रदान की थी।

उपसंहार-

भारतीय ज्ञान परंपरा में धर्मशास्त्र एक प्रमुख विद्या स्थान माना जाता है। यह शास्त्र धर्म को एक विशिष्ट आचार, व्यवहार और प्रायश्चित के रूप में परिभाषित करता है। धर्म-स्वरूप के संदर्भ में भारतीय और पाश्चात्य परंपरा में व्यापक विमर्श हुआ है, परंतु इसके स्वरूप को उद्घाटित करना एक दुष्कर कार्य है। महाभारतकार वेदव्यास ने धर्म को इसीलिए **'न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारवेदितुम्'** कहा है। धर्मशास्त्रीय साहित्य अत्यन्त बृहद् है। इसमें सूत्रग्रंथ, स्मृतिग्रंथ, भाष्य और निबन्धग्रंथ शामिल किये जाते हैं। इन ग्रंथों की अपनी कुछ विशिष्ट विशेषतायें हैं जिनके आधार पर इनका वर्गीकरण किया जाता है। अध्ययन –अध्यापन की शैली में परिवर्तन के कारण इन ग्रंथों की रचना शैली में परिवर्तन होते गये। लेखन सामग्री के अभाव के कारण सूत्र-ग्रंथों की रचना हुई। धीरे-धीरे लेखन सामग्री के विस्तार के साथ–साथ स्मृतिग्रंथों, भाष्य और निबन्ध ग्रंथों की रचना प्रारंभ हुई। निबन्ध ग्रंथों की यह विशेषता होती है कि इसमें रचनाकार किसी एक स्वतंत्र विषय का चयन करते हुए उस विषय से सम्बन्धित अन्य विद्वानों के मतों को उद्धरित करता हुआ अपना मत प्रस्तुत करता है। १००० ई. के लगभग भाष्यग्रंथों के लेखन में गिरावट आई तथा निबन्ध ग्रंथों की रचना धीरे-धीरे विकसित हुई और यह १३वीं-१४वीं शताब्दी के लगभग अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई। इस काल में कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना हुई।

धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित विषय सामग्री को आचार, व्यवहार और प्रायश्चित में विभक्त किया जाता है। सूत्र और स्मृतिग्रंथों में ये तीनों विषय एक साथ वर्णित हैं। इसका अपवाद याज्ञवल्क्य स्मृति है जिसका विभाजन आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय और प्रायश्चित्ताध्याय में किया गया है। कुछ स्मृतियाँ इनमें से केवल एक विषय से भी सम्बन्धित हैं। निबन्धग्रंथों में रचनाकार विषय चयन में स्वतंत्र होते थे और इस आधार पर वे किसी एक विषय को लेकर निबन्धों की रचना करते थे। विषय को प्रस्तुत करने

की शैली तथा किसी भी विषय पर एक स्थान पर बहुत विचारों को समाहित करने की विशेषता के कारण निबन्ध ग्रंथ विशेष प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।

विवादचिन्तामणि की समीक्षा को शोध कार्य का विषय बनाने का भी यही प्रयोजन है। विवादचिन्तामणि मिथिलालंकार श्री वाचस्पति मिश्र का अन्यतम ग्रंथ है। इसमें मनु द्वारा उक्त विवाद के अष्टादश पदों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ध्यातव्य है कि मिथिला में वाचस्पति मिश्र नाम के दो विद्वान् हुए। एक वाचस्पतिमिश्र महान् नैयायिक थे। ये वैदिक एवं बौद्ध दार्शनिकों की वाद-विवाद परंपरा की उपज माने जाते हैं। इन्होंने बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मकीर्ति के मतों का खण्डन करने एवं न्याय दर्शन के मतों की स्थापना करने के लिए 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' नामक महान् ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य ग्रंथों की भी रचना की थी। इनका समय ८९८ ई. स्वीकार किया जाता है।

दूसरे वाचस्पति मिश्र मिथिला अलंकारभूत, विद्वानों में अग्रणी वाचस्पति, स्मार्त वाचस्पति, धर्मशास्त्र वाचस्पति नामक अनेक संज्ञाओं से लोक में प्रसिद्ध थे। ये पल्लीवार मैथिल ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गिरपतिमिश्र था। ये गुरुपद एवं महामहोपाध्याय पद से अलंकृत थे। वाचस्पति मिश्र कामेश्वरवंश के महाराजाधिराज भैरवसिंह हरिनारायण और उनके पुत्र रूपनारायण के सभापति थे। शंकरमिश्र, पक्षधरमिश्र, रुचिदत्त, वर्धमान आदि इनके समसामयिक विद्वान थे। इन्होंने अपने ग्रंथों में चण्डेश्वर, भवदेव, हलायुध, रत्नाकर आदि धर्मशास्त्रकारों को उद्धरित किया है। वाचस्पति के मतों का उल्लेख गोविन्दानन्द, रघुनन्दन आदि विद्वानों ने किया है। अत: विद्वानों द्वारा इनका समय १४२० से १४९० स्वीकार किया जता है। विवादचिन्तामणि निबन्ध ग्रंथ के रचनाकार यही वाचस्पतिमिश्र हैं।

विवादचिन्तामणि अष्टादश विवादपदों से सम्बन्धित अन्यतम ग्रंथ है। पांच अध्यायों में विभक्त इस शोध प्रबंध का प्रथम अध्याय एक प्रकार से विवादचिन्तामणि ग्रंथ की समीक्षा के लिए पूवपीठिका का कार्य करता है, क्योंकि इस अध्याय के अन्तर्गत विवाद के स्वरूप, प्रकार एवं तद्विषयक साहित्य की

विस्तृत विवेचना की गई है। विवाद शब्द विवादचिन्तामणि ग्रंथ में 'झगड़ें' के अर्थ में प्रयुक्त है और इस आधार पर मनु द्वारा उक्त विवाद के अष्टादश पद अर्थात् विवाद के अठारह प्रकार कहे जाते हैं। विवाद का अन्य नाम धर्मशास्त्रों में 'व्यवहार' उद्धरित है। कुछ ग्रंथों में व्यवहार शब्द न्यायिक-प्रक्रिया के अर्थ में प्रयुक्त है तो कुछ ग्रंथों में यह विवाद अर्थात् झगड़े के अर्थ में प्रयुक्त है तथा कुछ ग्रंथों में ये दोनों अर्थ किये गये हैं। व्यवहार विषयक ग्रंथों के अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि व्यवहार शब्द न्यायिक प्रक्रिया के अर्थ में तथा विवाद शब्द झगड़े के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। परंतु कुछ ग्रंथों में यह दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। मनोक्त अष्टादश विवादपदों के सम्बन्ध में भी स्मृतिकारों में मतभेद है। मनु और नारद ने अष्टादशविवाद पदों का नामोल्लेख और व्याख्या की है, परंतु मनु और नारद द्वारा उल्लिखित विवादपदों में अंतर भी है मनु का अठारहवां पद द्यूतसमाह्वय है और नारद ने प्रकीर्णक नामक एक अन्य विवादपद की कल्पना की है। याज्ञवल्क्य ने बीस विवादपदों का वर्णन किया है। वृहस्पति ने २१, कौटिल्य ने १६ विवादपदों का वर्णन किया है। इसमें मनु के बाद के लगभग सभी स्मृतिकारों ने प्रकीर्णक नामक प्रकरण का उल्लेख किया है। यथा-याज्ञवल्क्य ने बीसवें स्थान पर, कौटिल्य ने सोलहवें और वृहस्पति नें इक्कीसवें स्थान पर प्रकीर्णक नामक विवादपद का वर्णन किया है।

व्यवहारविषयक साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है- प्रथम भाग के अन्तर्गत ऐसे ग्रंथों को रखा जा सकता है जिसमें मात्र व्यवहार के चतुष्पादों का वर्णन किया गया है। यथा- व्यवहारतत्व, व्यवहारचिन्तामणि आदि। द्वितीय वर्ग में वे ग्रंथ रखे जा सकते हैं जिनमें अष्टादश विवाद पदों का वर्णन है। यथा- विवादचिन्तामणि आदि। तृतीय वर्ग के अन्तर्गत वे ग्रंथ रखे जा सकते हैं जिनमें इन दोनों विषयों का एक साथ वर्णन प्राप्त होता है। यथा- व्यवहारमयूख, व्यवहारनिर्णय, विवादरत्नाकर, वीरमित्रोदय आदि।

विवादचिन्तामणि निबन्ध ग्रंथ की समीक्षा के लिए इस शोध- प्रबन्ध में समीक्षा की प्रचलित पद्धति अपनाई गई है । इसमें विवादचिन्तामणि ग्रंथ में प्रतिपादित विषयों को प्रस्तुत करते हुए अन्य स्मृतियों तथा विवादचिन्तामणि के पूर्ववर्त्ती तथा परवर्त्ती अन्य निबन्धग्रंथों में उस सम्बन्ध में वर्णित विषयों से इसके साम्य -वैषम्य को प्रस्तुत किया गया है यथा मनुस्मृति का कोई श्लोक जिस विषय के सन्दर्भ में विवादचिन्तामणिकार ने उद्धरित किया है और उसकी जो व्याख्या की है, इस सम्बन्ध में यह देखने का प्रयास इस शोध-प्रबंध में किया गया है कि क्या उस श्लोक की व्याख्या मनुस्मृति के भाष्यकारों ने उसी सन्दर्भ में, वैसी ही की है इसी प्रकार समकालीन अन्य निबन्धकारों ने भी क्या उसी सन्दर्भ में तथा वैसी ही व्याख्या की है अथवा उससे भिन्न व्याख्या की है। इस सन्दर्भ में यह देखा गया है कि विवादचिन्तामणिकार की व्याख्यायें कुल्लूकभट्ट, विज्ञानेश्वर आदि से बहुत साम्य रखती हैं इसी प्रकार विवादार्णवसेतु से कहीं-कहीं शब्दश: मिलता है। इसका एक कारण यह भी है कि समकालिकता तथा स्थान साम्यता का प्रभाव ग्रंथों पर अवश्य पड़ता है। यह ध्यातव्य है कि विवादार्णवसेतु विवादचिन्तामणि का परवर्त्ती ग्रंथ है। इसी प्रकार देवणभट्ट विरचित स्मृतिचन्द्रिका, लक्ष्मीधरभट्टकृत कृत्यकल्पतरु, चण्डेश्वर विरचित विवादरत्नाकर आदि से भी पर्याप्त साम्यता है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि समकालीन निबन्ध ग्रंथों से विवादचिन्तामणि की अधिक साम्यता है तथा पूर्ववर्त्ती तथा परवर्त्ती ग्रंथों से कम साम्यता है।

अष्टादश विवाद पदों में प्रथम पद ऋणादान है। प्राय: सभी व्यवहार विषयक ग्रंथों में ऋणादान का विस्तृत वर्णन किया गया है। ऋण शब्द वेदों और स्मृतियों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। नारद ने ऋण के तीन उद्देश्य बताये हैं दान, ग्रहण और आदान। ऋणों के लेन-देन से सम्बन्धित विवाद ऋणादान प्रकरण के अन्तर्गत आते हैं। स्मृतिकारों ने भिन्न –भिन्न पदार्थों के लिए भिन्न -भिन्न वृद्धि की व्यवस्था की है। वृद्धि का एक आधार यह भी है कि जिस व्यक्ति को ऋण दिया जाता है उसका कार्य कितना जोखिमपूर्ण है। अधिक जोखिमपूर्ण कार्य करने वालों के लिए अधिक वृद्धि लेने को कहा गया

है क्योंकि ऐसे व्यक्तियों की मौत आदि की स्थिति में ऋण वापस मिलने की संभावना कम रहती है। वृद्धि ग्रहण करने के भी अनेक प्रकार बताये गये हैं। यथा कारिता, कायिका, चक्रवृद्धि आदि। स्मृतिकारों ने ऋण वापस न करने वालों के लिए दण्ड का विधान भी किया है। यह दण्ड वृद्धि का प्रतिशत बढाकर अथवा पण के रूप में एकबार ग्रहण करने के रूप में ली जा सकती थी। अधिकतम वृद्धि के सन्दर्भ में भी भिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न व्यवस्थायें हैं। परंतु सामान्यतया मूलधन का दो प्रतिशत ही वृद्धि ग्रहण की जा सकती थी। ऋणग्रहीता की मृत्यु हो जाने की स्थिति में उसके पुत्र तथा उस पुत्र के पुत्र ऋण लौटाने के लिए उत्तरदायी माने जाते थे। इस प्रकार तीन पीढियों तक ऋण वापस लिया जा सकता था। यदि कोई ऋण वापस करना चाहता है और ऋणदाता वृद्धि के लोभ के कारण ग्रहण नहीं करता तो ऋणग्रहीता उसे किसी मध्यस्थ के पास रख सकता है। ऋण लेने के लिए व्यक्ति को अपनी कोई वस्तु विश्वास के लिए ऋणदाता के पास रखना होता था। इस प्रकार धर्मशास्त्रकारों द्वारा व्यवस्थापित ऋणादान की विधियाँ वर्तमान काल में भी प्रासंगिक हैं। वर्तमान समय में भी ऋणादान की ऐसी ही विधि का उपयोग किया जाता है।

अष्टादश विवादपदों के वर्णन के लिए प्राय: सभी निबन्धकारों द्वारा समान पद्धति अपनाई गई है। सर्वप्रथम विषय को स्पष्ट करने के लिए उसका अर्थ यथा ऋणादान आदि विवादपदों को आरम्भ करते समय सर्वप्रथम उनका लक्षण किया गया तत्पश्चात् उसके प्रकारों तथा विभिन्न प्रकार के ऋण के लिए दण्डविधान को बताया गया है। विषय का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए इस ग्रंथ की विशेष महत्ता है। एक विषय पर विभिन्न स्मृतिकारों के समान मतों तथा विरोधी मतों को स्पष्ट करते हुए उनके कारणों का भी वर्णन किया गया है कि किस कारण से स्मृतिकारों के मतों में भेद है।

विवादपदों के वर्णन के क्रम में दूसरा मुख्य बिन्दु दोषी की पहचान करना है। उसके लिए धर्मशास्त्रकारों ने लिखित, भुक्ति, साक्षी तथा दिव्य प्रमाणों का उल्लेख किया है। यह ध्यातव्य है कि लिखित, भुक्ति

और साक्षी प्रमाण के उपलब्ध न होने की स्थिति में ही दिव्य प्रमाण का प्रयोग करने का विधान धर्मशास्त्रकारों ने किया गया है।

तीसरा मुख्य बिन्दु दण्ड विधान है। सभी स्मृतिकारों ने दण्ड विधान का विस्तृत वर्णन किया है। धर्मशास्त्रकारों ने अलग- अलग विवादों के सम्बन्ध में अलग –अलग दण्ड का विधान किया है। दण्डविधान का मुख्य प्रयोजन यह था कि लोग दण्ड के भय से अपराध करने से निवृत्त होंगे और शान्तिव्यवस्था की स्थापना हो सकेगी। दण्ड पण के रूप में लिया जाता था साथ ही शारीरिक दण्ड देने का भी विधान किया गया है। दण्ड देने का मुख्य आधार अपराध की गंभीरता पर निर्भर करता था। छोटे अपराधों के लिए पण के रूप में दण्ड देकर अपराधी को छोड़ दिया जाता था परंतु गंभीर अपराध की स्थिति में पणदण्ड के साथ-साथ शारीरिक दण्ड भी दिये जाते थे और जुर्माने के रूप में राजा को भी दण्ड देना पड़ता था। प्राय: प्रत्येक अपराध में निम्न वर्ण के लिए अधिक दण्ड और उच्च वर्ण के लिए कम दण्ड का विधान किया गया है केवल स्तेय एक ऐसा अपराध है जिसमें ब्राह्मण वर्ण के लिए अन्य वर्णों से अधिक दण्ड देने की व्यवस्था है।

इस प्रकार धर्मशास्त्र की परंपरा में मध्यकाल तक जितने कार्य हुए उनका समग्र विश्लेषण विवादचिन्तामणि निबन्ध ग्रंथ प्रस्तुत करता है। इसके अध्ययन से विवादों के सम्बन्ध में सूत्रकाल से लेकर स्मृतिकारों, मध्यकालीन निबन्धकारों, टीकाकारों के मतों का परीक्षण किया जा सकता है क्योंकि इस ग्रंथ में इन सबका अध्ययन कर विषय को प्रस्तुत किया गया है। इसके अध्ययन से समग्र मध्यकालीन धर्मशास्त्रीय परंपराओं ज्ञान किया जा सकता है।

परिशिष्ट-१. विवाद से सम्बन्धित ग्रंथों एवं ग्रंथकारों की सूची-

प्रस्तुत तालिका में मध्यकालीन व्यवहारविषयक ग्रंथो उनके रचनाकारों तथा रचनाकारों के आलोचकों द्वारा निर्धारित समय को प्रस्तुत किया गया है -

विवाद से सम्बन्धित ग्रंथ	ग्रंथकार	समय
१.व्यवहारतिलक	भवदेवभट्ट	११वीं शताब्दी
२.व्यवहारमातृका	जीमूतवाहन	११-१६वीं शताब्दी
३.दायभाग	जीमूतवाहन	११-१६वीं शताब्दी
४.कृत्यकल्पतरु	लक्ष्मीधरभट्ट	११००-११५० ई.
५.स्मृतिचन्द्रिका	देवणभट्ट	११५-१२५० ई.
६.विवादसार	हरिनाथ	१२५०-१३०० ई.
७.विवादरत्नाकर	चण्डेश्वर ठाकुर	१४वीं शताब्दी
८.मदनरत्न	विश्वनाथ	१३५०-१४५० ई.
९.विवादचन्द्र	मिसरूमिश्र	१५वीं शताब्दी
१०.व्यवहारचिन्तामणि	वाचस्पतिमिश्र	१४२०-१४९० ई.
११.विवादचिन्तामणि	वाचस्पतिमिश्र	१४२०-१४९० ई.
१२.नृसिंहप्रसाद	-	१६वीं शताब्दी
१३.सरस्वतीविलास	प्रतापरुद्रदेव	१४ वीं शताब्दी
१४.तोडरानन्द (व्यवहारसौख्य)	टोडरानन्द	१५००-१५८९ ई.
१५.स्मृतितत्त्व	रघुनन्दन भट्टाचार्य	१६ वीं शताब्दी
१६.विवादताण्डव	कमलाकरभट्ट	१६१०-१६४० ई.
१७.विवादरत्न	कमलाकरभट्ट	१६१०-१६४० ई.
१८. व्यवहारनिर्णय	वरदराज	११५०-१२५० ई.

१९.व्यवहारमयूख	नीलकण्ठ	१६१०-१६४५ ई.
२०.व्यवहारतत्त्व	नीलकण्ठ	१६१०-१६४५ ई.
२१.व्यवहारप्रकाश	मित्रमिश्र	१७वी. शताब्दी
२२.व्यवहारनिर्णय	विश्वम्भरत्रिवेदी	१६००-१६५० ई.
२३.दायभागनिर्णय	गोपालन्यायपञ्चाननभट्टाचार्य	१८वीं शतीब्दी
२४.विवादनिर्णय	गोपालन्यायपञ्चाननभट्टचार्य	१८वीं शताब्दी
२५.विवादभंगार्णव	जगन्नाथतर्कपञ्चानन	१७६५-१८०६ ई.
२६.विवादसार्णव	सर्वोरुशर्मा	१७८७ ई.
२७.वीरमित्रोदय (व्यवहारप्रकाश)	मित्रमिश्र	१७वीं शताब्दी

इन ग्रंथों के विवरण का स्त्रोत विभिन्न धर्मशास्त्रीय ग्रंथ, उन ग्रंथों में उद्धरित अन्य ग्रंथों के विवरण तथा काणे एवं अन्य धर्मशास्त्र के इतिहास विषयक ग्रंथ हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -:

प्राथमिक स्त्रोत

साक्षात् स्त्रोत –

- अग्निपुराणम् (व्या.) – आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २०१४.
- *अग्निपुराण,* (संपा.) - एन.गंगाधरन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८४
- *अर्थशास्त्र, कौटिल्यकृत,* (हिन्दी अनु.), वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण, २००६
- *अङ्गिरसस्मृति,* ए. एन. कृष्ण आयंगर, थियोसोफिकल सोसायटी, अड्यार,१९५३.
- *अष्टादशस्मृति* (भाषा - टीका सहित), (संपा) -पं. मिहिरचन्द, नाग प्रकाशक, दिल्ली, १९९०
- *अष्टाध्यायी, पाणिनिकृत,* (संपा.) गोपाल दत्त पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी, १९९२.
- *आपस्तम्ब धर्मसूत्र,* (हरदत्तकृत उज्ज्वलावृत्तिसहित), (हिन्दी अनु.) नरेन्द्र कुमार आचार्य, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, २०१०.
- *आपस्तम्बधर्मसूत्रम्* (उज्ज्वलाटीका सहित), (संपा.) -उमेशचन्द पाण्डेय, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, १९९२.
- *आपस्तम्बधर्म धर्मसूत्र,* (हरदत्त की उज्ज्वलावृत्ति सहित), (अंग्रेजी अनु.) -जी. बुहलर, सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग -२, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५.
- *आपस्तम्बस्मृतिः,* (देवदत्तकृत हिन्दी भाष्य सहित), (संपा. तथा टीका.)- प्रयागनारायण मिश्र, ज्ञानभारती पब्लिकेशन, दिल्ली, २००५.

- *कात्यायनस्मृति, (अंग्रेजी अनु.) -पी. वी. काणे,* हिन्दू लॉ क्वाटर्ली, बम्बई, १९३३.
- *कृत्यकल्पतरु (व्यवहार काण्ड भाग -१२) लक्ष्मीधरभट्टविरचित, के. वी. रंगास्वामी आयंगर, बड़ोदा ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, १९५८.*
- *गौतमधर्मसूत्रम् (मिताक्षरावृत्ति सहित),* (संपा.)- उमेशचन्द पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २००४
- *गौतम धर्मसूत्र, (मस्करी भाष्य सहित),* वेदमित्रा, वेदमित्रा एण्ड सन्स, नई दिल्ली, १९६९.
- *गौतमधर्मसूत्रम् (मिताक्षरावृत्ति सहित),* (अंग्रेजी अनु.) -जी. बुहलर, सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग -२, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९७ ई०.
- *चाणक्यनीतिदर्पण:,* (संपा.)- स्वामीजगदीश्वरानद सरस्वती, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, १९९७.
- *दायभाग:,* जीमूतवाहनकृत, (संपा.) सुब्रह्मण्यम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, १९८२
- *दायभाग एवं मिताक्षरा,* (संपा.) -के. एल. जोशी, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, २००५.
- *धर्मसंहितादशकम्,* (संपा.)- रमेश कुमार पाण्डेय, भाग -१ ,राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, २००६
- *धर्मसंहितादशकम्,* (संपा.)- रमेश कुमार पाण्डेय, भाग -२ ,राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, २००६
- *नारदस्मृति (तिलोत्तमा टीका सहित),*(संपा.) -ब्रजकिशोर स्वांई चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, १९९६.
- *नारद-स्मृति,* (संपा. और अनु.) -आर. डब्ल्यू. लैरिवियरे मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २००३.
- *निरुक्त, यास्ककृत,* पं. मुकुन्द झा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८९.

- *नीतिसार,* कामन्दककृत, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली -१३६, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पुणे, १९५८.
- *नीतिवाक्यामृत,* सोमदेवसूरी कृत, (संपा.) पन्नालाल सोनी, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला -२२, बम्बई, वि. सं. १९७९.
- *बृहस्पतिस्मृति,* (संपा.)-जे. जॉली, सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग – ३३, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५
- *बृहस्पति–स्मृति,* (अनु.)-जे. जॉली, (संपा.) -के. वी. रंगास्वामी आयंगर बड़ौदा ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १८८९.
- *बौधायनधर्मसूत्रम्,* विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, १९९९.
- *बौधायनधर्मसूत्रम्* (विवरण सहित), (संपा.) - उमेशचन्द पाण्डेय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, २००८.
- *बौधायनधर्मसूत्रम्* (विवरण सहित), (अंग्रेजी अनु.) जी. बुहलर, सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग –२, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५
- *मनुस्मृति,* सुरेन्द्र कुमार, राजवीर शास्त्री, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली,२०००.
- *मनुस्मृतिः* (मन्वर्थमुक्तावली टीका सहित), (मणिप्रभा हिन्ही व्या.) – हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी,२००६ई०.
- *मनुस्मृतिः (सरला – भाषाटीका समलंकृता),* रामेश्वरभट्ट, राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थानम्, नई दिल्ली, २००३.
- *मनुस्मृतिः (सान्वयानुवादमनुभाष्यभासिकाभावावगाहिनीभाषाटीकोपेता),* उर्मिला रुस्तगी, जे. पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, २००५.
- *याज्ञवल्क्यस्मृति, (मिताक्षरा टीका सहित), (*हिन्दी अनु.), गंगासागर राय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००७.

- *याज्ञवल्क्यस्मृतिः (व्यवहाराध्यायः),* (व्या.) कमलनयन शर्मा, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, २००९
- *वसिष्ठ धर्मसूत्र,* (वसिष्ठ धर्मशास्त्र), (संपा.) ए.ए. फ्यूहरर, इण्डोलॉजिकल बुक हाऊस, दिल्ली, १९८३.
- *विवादचिन्तामणि,* (संपा.) –खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर मुद्रणालय, मुम्बई, १९५५.
- *विवादरत्नाकर, (*संपा.) दीननाथ विद्यालंकार, गिरिश विद्यारत्न यन्त्र, कलकत्ता, १८८७.
- *विवादरत्नाकरः,* (संपा) म.म. कमकृष्ण- स्मृतितीर्थ, कृष्णदास, अकादमी, वाराणसी, १९८९.
- *विवादार्णवसेतु,* (संपा) पं. ज्वालाप्रसाद, वेंकटेश्वर मुद्रणालय, सं. १९४५.
- *विष्णु धर्मसूत्र, (विष्णु स्मृति),* (अंग्रेजी अनु.), जे. जॉली, सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग-७, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६५.
- *वीरमित्रोदय (व्यवहारप्रकाशः),* मित्रमिश्रकृत, (संपा.) –पण्डित विष्णु प्रसाद शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज -३०, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९८७
- *वीरमित्रोदय (व्यवहारकाण्ड) मित्रमिश्र विरचित, (प्रका.)* जयकृष्णदास हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस सिटी, १९८९
- *व्यवहारचिन्तामणिः*, वाचस्पतिमिश्रकृत, (संपा)-पं० श्री प्रभुनारायण शर्मा, प० श्रीरामचन्द्र झा, प० श्रीशशिनाथ झा, प० श्रीधर्मनाथ झा,का०सि०द० संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा,१९८५.
- *व्यवहारप्रकाश, पृथ्वीचन्द्रनृपतिविरचित (सप्तम प्रकाश, प्रथम भाग),* हरिकृष्ण शर्मा, जयन्तकृष्ण शर्मा, भारतीय विद्या भवन १९६२.
- *व्यवहारनिर्णय, वरदराजकृत, (संपा.) के.वी.रंगास्वामी आयंगर, ए.एन. कृष्णा आयंगर, अड्यार लाइब्रेरी, १९४२.*

- *व्यवहारमयूख, नीलकण्ठभट्ट विरचित,* पी.वी. काणे, एस. जी. पटवर्धन, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, २००९.
- *व्यासस्मृति, अष्टादशस्मृति (भाषा टीका सहित),* मिहिरचन्द, नाग प्रकाशक, दिल्ली, २००६.
- *शुक्रनीतिसार:*, (संपा.)- स्वामीजगदीश्वरानन्द सरस्वती, ऋषिदेवी रूपलाल कपूर धर्मार्थ ट्रस्ट, सोनीपत, १९९७.
- *शुक्रनीति,* शुक्राचार्यकृत, (हिन्दी अनु.) -डॉ. जगदीश चन्द्र मिश्र, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २००९
- *सरस्वतीविलास, प्रतापरुद्रकृत,* (संपा.) -आर. शामशास्त्री संस्कृत सीरीज, मैसूर, १९२७.
- *स्मृतिचन्द्रिका,* देवणभट्टोपाध्याय, गवर्नमेन्ट ब्रांच प्रेस, मैसूर, १९२१.
- *स्मृतिचन्द्रिका, (भाग १-३), देवणभट्ट कृत,* एल. श्री निवासाचार्य (संपा.), नाग प्रकाशक, दिल्ली, १९८८.
- *स्मृति-सन्दर्भ:, श्रीमन्महर्षिप्रणीत-* धर्मशास्त्रसंग्रह:, नाग प्रकाशक, दिल्ली, १९८८.

असाक्षात् स्त्रोत –

- *अथर्ववेद संहिता,* (अनु.) सत्य प्रकाश सरस्वती, वेद प्रतिष्ठान, नई दिल्ली,१९९२.
- *ऋग्वेद – संहिता:* (श्रीमत्- सायणाचार्य विरचित – भाष्य – समेता), (संपा.)- एन. एस., पुणे वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे, १९७२.
- *ऐतरेय ब्राह्मण,* (सायणाचार्यकृत वेदार्थप्रकाश भाष्य सहित), (संपा.), सुधाकर मालवीय, प्राच्य भारतीय ग्रन्थमाला-१४, वाराणसी, १९८०.

- *कठोपनिषद्,* उपनिषत्समुच्य, भीमसेन शर्मा, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, रोहतक, २०००.
- *जैमिनीय ब्राह्मण,* आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९११
- *तैत्तिरीय–संहिता* (भट्टभास्कर मिश्रविरचित भाष्यसहित) (संपा.)–ए. महादेवशास्त्री, कस्तुरिरंगाचार्य, भाग–३, मैसूरपुरी गवर्नमेन्ट ब्रान्च प्रेस, १८९५
- *बाल्मीकि रामायण,* (संपा.) -यू. पी. शाह और जी. एच. भट्ट, ऑरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६९
- *बृहदारण्यकोपनिषद्,* (भाष्य.), शिवशंकर शर्मा, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल, झज्जर, रोहतक, २०००.
- *भविष्यमहापुराणम्,* (अनु.)- बाबूराम उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९९५.
- *यजुर्वेद संहिता,* (संपा.) - जगदीश्वरानन्द सरस्वती, भगवती प्रकाशन, दिल्ली, १९९९.
- *शतपथ ब्राह्मण,* (संपा.) पं. चिन्नस्वामी शास्त्री, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला -१२७, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि.सं. २०४०
- *सामवेद संहिता,* (सम्पादक और अनुवादक)- ग्रिफिथ रॉल्फ टी. एच., नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, १९९१
- *स्मृतिसारोद्धार,* विश्वम्भर त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९०६.
- *स्मृतिसारसंग्रह,* कैलाश चन्द्र स्मृतिपीठ, चैतन्य चतुष्पाठी, प. बंगाल, १९७०.

- *श्रीमद् भागवतम्,* (संपा.)- के. टी. पाण्डुरंगी, द्वैत वेदान्त स्टडीज एण्ड रिसर्च फाउण्डेशन,बंगलौर, २०००.
- *हिरण्यकेशि धर्मसूत्र* (हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र का २६ वां और २७ वां प्रश्न), आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९३२.

द्वितीयक स्त्रोत :-

हिन्दी ग्रंथ –

- त्रिपाठी, प्रतिभा, अपराध एवं दण्ड (स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों के सन्दर्भ में), राका प्रकाशन, इलाहाबाद,१९९३.
- राय, कौशलकुमार, *अपराध और दण्डशास्त्र,* चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६५.
- परांजपे, एन. बी., *अपराधशास्त्र एवं आपराधिक न्याय प्रशासन,* मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७१.
- आचार्य, दीपंकर, *कौटिल्य कालीन भारत,* उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८९
- काणे, पाण्डुरंग वामन,*धर्मशास्त्र का इतिहास ,* उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग), लखनऊ, चतुर्थ संस्करण, १९९२.
- मिश्रः, जयकृष्ण, *धर्मशास्त्रस्येतिहासः (प्रथमः भागः),* चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, २०१०.

- मिश्र, डॉ. खगेश्वर, *धर्मशास्त्रस्येतिहास:,* पूजा –चन्दन प्रकाशन, पुरी, २००८.
- पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, *धर्मशास्त्र का इतिहास 'धर्मद्रुम'* चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६.
- कश्यप, शशि, *धर्मशास्त्रों में न्याय व्यवस्था का स्वरूप,* भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, २०००.
- अग्रवाल, गीतारानी, *धर्मशास्त्रों का समाज दर्शन,* आदर्श विद्या निकेतन, वाराणसी, १९८३.
- वेदान्ततीर्थ, योगेन्द्रनाथ, *प्राचीन भारत की दण्डनीति,* फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६१.
- त्रिपाठी, डॉ.हरिहरनाथ, *प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका,* मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली,१९८७.
- अवस्थी, शशि, *प्राचीन भारतीय समाज,,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, १९८१.
- अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, *प्राचीन भारतीय शासन पद्धति,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००१.
- विद्यालंकार, जयचन्द्र, *प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था,* नई दिल्ली, १९७५.
- पाण्डेय, उदयशंकर, *प्राचीन भारत की राजव्यवस्था वैदिक एवं स्मृतिकालीन,* नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, १९९५.

- त्रिपाठी, हरिहरनाथ, *प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९९९.
- कुमार, कृष्ण, *प्राचीन भारत का संविधान तथा न्याय व्यवस्था* , राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, २००८.
- सिन्हा, श्याम नारायण, *प्राचीन भारत में व्यवहार- विधि,* स्वाति पब्लिकेशन दिल्ली, २००५.
- सिंह, केशव प्रसाद, *प्राचीन भारत में साम्पत्तिक उत्तराधिकार और विभाजन सम्बन्धी कानून,* सुमन प्रकाशन, अयोध्या, १९८८.
- थापर, रोमिला, *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,* ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, २००१.
- त्रिपाठी, वाचस्पति शर्मा, *प्राचीन भारत की दण्ड व्यवस्था,* नाग प्रकाशन, दिल्ली. १९८९.
- घिल्डियाल, अच्युतानन्द, घिल्डियाल गोदावरी, *प्राचीन भारतीय स्मृतिकार और नारी,* विवेक घिल्डियाल बन्धु, वाराणसी, सं. २०३२.
- शर्मा, केदार, *प्राचीन संस्कृत वाड़मय में राजधर्म का स्वरूप,* जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, २००६.
- यादव, अच्छेलाल, *प्राचीन हिन्दू विधि,* इण्डोलॉजिकल बुक हाऊस दिल्ली, १९८६-८७.
- वाजपेयी, राघवेन्द्र, *बार्हस्पत्य राज-व्यवस्था,* चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६६.
- गैरोला, वाचस्पति, *भारतीय धर्मशाखायें और उनका इतिहास,* चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९८.

- दूबे, सत्यमित्र, *मनु की समाज व्यवस्था,* किताब महल, इलाहाबाद, १९६४.
- झा, द्विजेन्द्र नारायण, मौर्योत्तर एवं गुप्तकालीन राजस्व व्यवस्था, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७७.
- पाण्डेय, श्यामलाल, *वेदकालीन राज्य व्यवस्था,* हिन्दी समिति, लखनऊ, १९७१
- गुप्त, देवेन्द्र कुमार, *सूत्र साहित्य में वर्णित भारतीय समाज एवं संस्कृति,* प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, २०१०.
- दुबे, राजदेव, *स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति (याज्ञवल्क्य स्मृति के विशेष संदर्भ में),* प्रतिभा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९८८.
- चौहान, पी. एल, *स्मृति कालीन व्यवहार पद्धति : न्यायव्यवस्था,*नाग प्रकाशन, दिल्ली, २००५.
- `ऋषि', उमाशंकर शर्मा, *संस्कृत साहित्य का इतिहास,* चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, २०१०.
- नारंग, मंजु, *संस्कृत वाड्मय में दाय विभाग व्यवस्था (आधुनिक परिवेश में प्रासंगिकता),* ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली, २०१०.
- घोषाल, उपेन्द्रनाथ, *हिन्दू राजव्यवस्था का इतिहास* (अनु. अजयमित्र शास्त्री), ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, १९९७
- तिवारी, डॉ. योगेन्द्र कुमार, *हिन्दू विधि,* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, १९९०.

English–

- Choudhary, R. K., *Ancient Indian Law and Justice,* Motilal Banarsidas, Delhi, 1953
- Aiyangar, K.V.R., *Aspects of the social and political system of Manusmriti,* Lucknow University, 1949.
- Gupta, Ramprasad Das, *Crime and Punishment in Ancient India*, Motilal, Indological Book House, Delhi, 1987.
- Dasgupta, R.P., *Crime and Punishment in Ancient India, Part-I-IInd,* Motilal, Banarsidas, Delhi, 1973.
- Serma Lakshmi Narayan, *Daya Tatwa : A treatise on the Law of inheritence,* Education Press, 1828.
- Pawaie, I.S., *Daya Vibhaga : or The Individualization of communal property and the communalization of individual property in the Mitakshara law,* Karnatak University Press, Dharwar, 1975
- Kumar, Narendra, *Dharmasastriyaacarasamhita,* Vidyanidhi Prakashan, Delhi, 1999.

- Kane. P.V., *Hindu Customs and Modern Law* , University of Mumbai, 1950.
- Vardachariar, S., *Hindu Judicial System,* Lucknow University, 1946.
- Jayasaval, K. P., *Hindu Polity*, Chaukhamba Sanskrit Sansthan, Delhi, 2005.
- Agarwala, R. K., *Hindu Law,* Central Law Agency, Allahabad, 1981.
- Ramakrishan, C.S., *Hindu law as interpreted by the judges in India and the Privy Council,* Aiyar National Stares agency Madras, 1911-13.
- Agarwala, Devi Dayal, *Jurisprudence in India: Through the Ages*, Kalpaz, Delhi, 2002.
- Mani, Dr. B. N., *Laws of Dharmasastra*, Navrang, New Delhi, 1989
- Jayaswal, K.P., *Manu and Yagyavalkya,* Calcutta, 1930.
- Aiyangar, K. V. R., *Rajadharma*, Adyar Library, Madras,1941.

- Aitekar, A. S., *State and Government in ancient India*, M. L. B.D., Delhi, 2009.
- Apte, V.M., *Social and Religious Life in the Grihya Sutras,* The Popular Book Depot, Bombay, 1954.
- Bhandarkar,D. R., *Some aspects of ancient Hnindu Polity*, Banaras Hindu University, 1929.
- Ludo, Rocher, *The reply in Hindu legal procedure : Mitra Mishra criticism of the Vyavahara Chintamani,* Adyar Library Bulltin, 1956.
- Altekar, A.S., *The Position of Women in Hindu Civilization,* Motilal, Banarsidas, Banaras, 1956
- Martin, John Duncan, *The Puranas in vyavahara portions of mediaevalsmriti works*, Derrett, Pur, 1963.
- Das, Bhagvan, *The Laws of Manu (in the Light of Atma – vidya),* AparnaPublications, Delhi, 1985.
- Davis, Jr. Donald R.,*The spirit of Hindu Law*, Cambridge University Press, Cambridge, 2010

- W., Lariviere Richard, *The judicial wager in hindu law*, Bhandarkar Oriental Research Institute ,Pune, 1981.
- Mitra, D.N., *The Position of Women in Hindu Law,* Calcutta University Press, 1913
- Lariviere, Richard W. (crit. ed. And trans.), *The Naradsmriti,* Motilal Banarasidass, Delhi, 2003.
- Olivelle, Patrick, *The Law Code of Manu*, Oxford, University Press, New York, 2004.
- Tagore, Prossonno Coomar, *Vivada Chintamania succinct commentary on the Hindoo Law prevalant in Mithila*, Vishwa-Kala Prakashan, Delhi,1986. .
- Jha, Lakshmikant, (ed. &pub.) - *Vivada - Chintamania treatise on Smriti* United Press Ltd. Patana, 1937.
- Serma, Laksmi Narayan, *Vyavahara Tatwa A treatise on Judicial proceedings,* Education Press, 1828.
- Ludo, Rocher, *Vacaspati Mishra :Vyavahara Chintamani a digest of Hindu legal procedure, critically adited with introduction annotated translation and appendix*, Gent, 1956

- Babu, K. Jithendra, *Vyavahara cintamani of Vacaspati Mishra,* Hyderabad, 2011.

कोशग्रंथ –

- *अमरकोश,* अमरसिंह, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९६१.
- *अमरकोषः ('धारारव्य' हिन्दी टीका सहित),* मन्नालाल अभिमन्यु, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित सं. २००८.
- *अमरकोश, अमरसिंहकृत (संपा.)* पं. शिवदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८५.
- धर्मकोश (व्यवहारकाण्ड), (संपा.) - लक्ष्मण शास्त्री जोशी, प्रज्ञा - पाठशाला मंडल ग्रंथमाला, सतारा, १९३७ ई०.
- *पारिजातकोशः* (संस्कृत–हिन्दी शब्दार्थकोशः),(संपा.)–ईश्वरचन्द्र, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००५.
- *मानक हिन्दी कोश,* रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६४.
- *मीमांसा कोष* (संपा.) – केवलानन्दसरस्वती, श्रीसतगुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९९२.
- *वाचस्पत्यम् (छः भाग),* चौखम्बा संस्कृत ग्रंथमाला, ग्रं. सं. ९४, वाराणसी, १९६९
- *शब्दकल्पद्रुमः*, (संपा.) राधाकान्तदेव बहादुर, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली (भारत), २००२.

- *संस्कृत वाङ्मय कोश,* (भाग १-२) (संपा.) श्रीधर भास्कर वर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता, २००१.
- *संस्कृत साहित्य कोश,* राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९७३.
- *संस्कृत-हिन्दी कोश,* वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, १९८८.
- *संस्कृत हिन्दी कोश,* आदित्येश्वर कौशिक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग, दिल्ली.
- *हिन्दी विश्वकोश (खण्ड १-१२),* सं. कमलापति त्रिपाठी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १९७३.
- *हिन्दू धर्मकोश,* राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८८
- *English –Sanskrit Dictionary*, Munsi Ram ManoharLal, Delhi, 1976.
- *Ecyclopedia of Religion and Ethics, Vol. –VIII*, James Hestings, New York, 1980.
- *Encyclopedia Britannica(Vols.-II, VIII, XXI),* Helen Hemingway Publication, Benton, 15th Edition, 1973-74.

शोध -प्रबंध-

- यादव, नीलम, *धर्मशास्त्रीय न्यायिक –प्रक्रिया,*२०१२, (विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जे. एन. यू.).
- पंकज, *स्मृतियों में साक्ष्य सिद्धान्त एवं आधुनिक सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन,* १९९५ (संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय).

अन्तर्जालीय स्त्रोत-

www.wikipedia.com

www.britannica.com

http://books.google.co.in